प्राणदण्ड

(प्राणदण्ड की प्रथा का इतिहास, समीक्षा तथा विवेचन)

लेखक: —

परिपूर्णानन्द वर्म्मा,

(रचयिता-भारत की विभूतियाँ, नाना फड़नवीस,

सन् सत्तावन की क्रांति, इत्यादि)

★

प्रकाशक :

मयूर - प्रकाशन, झांसी

सन् १९५४.

प्रकाशक:—
सत्यदेव वर्मा बी.ए., एल-एल. बी.,
मयूर-प्रकाशन, झांसी।

प्रथमावृत्ति १९५४ ई०
३००० प्रतियां

मुद्रक:—
रामसेवक खड्ग,
स्वाधीन प्रेस, झाँसी।

फाँसी के तख़्त पर लटक जाने वाले-

निरपराध

नर-नारियों को समर्पित ।

★

प्राक्कथन

दण्डविधान के बिना कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। सबको अपना जीवन और सम्पत्ति प्यारी है। सबको अधिक से अधिक सुख की इच्छा है। कोई अपनी इच्छाओं पर अंकुश पसन्द नहीं करता। किन्तु ऐसा अंकुश बिना रखे सबको सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये व्यक्ति की इच्छाओं की सीमा बांधना आवश्यक हुआ और उस सीमा के उलंघन करने वाले को दण्ड की व्यवस्था की गई। समाज में क्या करना अपराध है और उसके लिये क्या दण्ड है यह उस समाज की व्यवस्था, उसके बौद्धिक विकास, सभ्यता और संस्कृति पर निर्भर रहता है। श्री परिपूर्णानन्द ने इस पुस्तक में विभिन्न देशों और युगों की दण्ड प्रणाली की संक्षिप्त व्याख्या करके इस सिद्धान्त का निरूपण किया है। प्राणदण्ड सबसे कठोर दण्ड है, प्रतिशोध, प्रायश्चित और भय दण्ड के मूल में इन तीनों अभिप्रायों में से प्राणदण्ड में प्रायश्चित्त का तो अवसर ही अपराधी को नहीं रहता। मनोविज्ञान से कुछ ऐसे तथ्यों की जानकारी हुई है जिससे अपराधी के प्रति प्रतिशोध और उसको दण्डित करके भय उत्पन्न करना उचित नहीं समझा जाने लगा है। प्राणदण्ड की आवश्यकता पर सन्देह होने लगा है। आजकल अपराधी के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुधार हो गया है और भविष्य में होने की आशा है किन्तु प्राणदण्ड को बिलकुल हटा देने का साहस किसी भी देश में अभी तक नहीं किया गया है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में विचार करने के लिये पुस्तक में पर्याप्त सामग्री है और मैं आशा करता हूँ पाठक उससे लाभ उठावेंगे।

लखनऊ
अप्रैल ८, १९५४

पं० गोविन्द वल्लभ पंत

भूमिका

यह पुस्तक अपने विषय पर लिखी गयी एक भूमिका मात्र है। इस विषय पर साहस के साथ-साफ़ बातें लिखना भी कठिन है। अधिकारी तथा ग़ैर-अधिकारी के विचार यथावसर बदलते रहते हैं। ब्रिटेन के समाजवादी नेताओं की तरह हमारे भारतीय नेता भी अधिकार प्राप्त करने के पहले प्राणदण्ड के बहुत कुछ विरोधी थे। पर, आज भारत के सभी दलों के नेता इस विषय में मौन हैं—ब्रिटेन के समाजवादी नेता जब अधिकारारूढ़ हुए तो अपना पिछला वचन भूलकर, इस प्रथा के हिमायती बन गये। अधिकार इसी प्रकार मन को भ्रष्ट कर देता है। सामाजिक सुधार के कार्य में बड़े साहस की आवश्यकता होती है।

मुझे वह दिन याद है जब मैंने पहली बार एक अदालत से फांसी की सजा सुनकर आई हुई एक युवती को देखा था। मैंने उससे पूछा कि सच बतला दो तुमने क्या अपराध किया था। वह फूट-फूट कर रोने लगी। उसने कहा कि "मेरे जेठ जी मुझसे अनुचित सम्बन्ध रखना चाहते थे। मैंने ऐसा अनुचित काम करना अस्वीकार कर दिया। बस, उन्होंने यही उचित समझा कि मेरे पति को रास्ते से हटा दिया जाय। उन्हें मार डाला। जब बात खुल गयी, तो मुझे फँसा दिया गया।"

रोते-रोते उस युवती की हिचकियाँ बँध गयीं। मुझे आज तक उसका चेहरा नहीं भूलता। ऐसा लगता है जैसे वह मुझे, समाज को तथा न्यायालय को धिक्कार रही है और उसके नेत्रों में उमड़ा हुआ आंसू हमारे समाज को डुबा देने के लिये प्रलय का प्रवाह बन गया है। उस दिन मेरे मन में एक विचित्र टीस उठी और तभी से, चार वर्ष तक उत्तर प्रदेश का ग़ैर-सरकारी जेल निरीक्षक होने के कारण मैं हर जेल में हत्या के अपराधी या हत्या के लिये फांसी की सज़ा पाये हुए स्त्री-पुरुष बन्दियों से मिलता रहा। मथुरा में स्त्रियों की फांसी होती है। अतएव उनका समुदाय वहीं मिल गया। पुरुष अपराधियों के दर्शन तो प्रदेश भर के जेलों में होते रहे। मैंने देखा कि मृत्यु की प्रतीक्षा में मानव कितना ईश्वर-भक्त हो जाता है। मैंने देखा कि प्राण छोड़ने के पहले परिवार की ममता किस प्रकार प्रज्वलित हो उठती है। मैंने देखा कि फांसी पर लटकने के बजाय मनुष्य विषपान कर मरना अधिक सरल समझता है। फांसी के फन्दे का एक अजीव भय, अजीव आतङ्क होता है। मैंने प्रसिद्ध हत्यारे डांकुओं को भी फांसी के नाम पर रोते देखा है। दूसरे की जान चींटी के बराबर समझने वाला एक डांकू अपना प्राण बचाने के लिये सब कुछ करने को तैयार था। मुझे ऐसा एक भी हत्यारा अपराधी नहीं मिला जिसके विरुद्ध जेल के अधिकारी को कोई ख़ास शिकायत हो। आश्चर्य की बात एक और थी। ज्यों-ज्यों मरने के दिन नज़दीक आते जाते थे, पेट की भूख बढ़ती जाती थी, मानों पार्थिव शरीर अपने शेष दिनों की भूख एक साथ शान्त कर लेना चाहता हो। कुछ अपराधी शरीर छोड़ने के पहले उसकी काफ़ी सफ़ाई कर लेते थे। दांत मोती की तरह

से चमकते थे। ललाट पर एक तेज सा छाया रहता था। एक विचित्र बात और थी। जो जितना ही बूढ़ा होता वह मरने से उतना ही डरता था।

मैंने आगरा जेल में फांसी के तख़्ते पर खड़े होकर उसकी समूची योजना का अध्ययन किया। मैं समझता हूँ कि जेल में प्राणदण्ड की प्रतीक्षा वाले बन्दियों के विषय में भी मैं कभी अलग पुस्तक लिखूंगा। प्राणदण्ड से बचकर काला पानी की सज़ा वाले बन्दियों का भी मैंने थोड़ा अध्ययन किया है। मुझे ऐसा लगता है कि उनमें से अधिकांश को जेल के बाहर जाने देना चाहिये। उत्तर प्रदेश की प्रोबेशन पर छोड़ने की प्रणाली का अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिये।

जेलों में मुझे कुछ ऐसा लगा कि वहाँ अधिकांश अपराधी (हत्या के) प्रेम या वासना के अपराधी थे। अति निन्दनीय हत्या प्रायः डकैती से सम्बन्ध रखती थी। पर, इस विषय में विश्लेषण इतनी सरलता से नहीं किया जा सकता। यह विषय बड़ा गूढ़ है और उसका विशद अध्ययन करना होगा।

मुझे कुछ ऐसा लगता है कि न केवल प्राणदण्ड ही निरर्थक है अपितु प्राणदण्ड का विधान या क़ानून भी बहुत ही दोषपूर्ण है। इन दोनों को एक साथ समाप्त करना होगा। बदल देना होगा। इस दण्ड से अपराधों को रोकने में कोई सहायता नहीं मिलती। एक अज्ञानपूर्ण भ्रम के कारण हम इस दण्ड को अपनाये हुए हैं। जिन देशों ने साहस करके इस दण्ड को समाप्त कर दिया है, उनका बड़ा लाभ हुआ है। वहां अपराध घटा है, बढ़ा नहीं। जब तक राज्य स्वयं प्राण लेता रहेगा, वह अपनी प्रजा को प्राण की मर्यादा तथा पवित्रता का पाठ न दे सकेगा।

अस्तु, अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त करने के लिये प्रयत्नशील है। उसके प्रयत्नों के साथ मैं भी सम्मिलित हूँ। मुझे इस विषय में रुचि पैदा हुई है, कुछ थोड़ा सा पढ़ा भी है। भगवान करे इस पुस्तक से हमारे देशवासियों की विचारधारा परिपक्व होकर प्राणदण्ड प्रथा को समाप्त कर दे।

जालपादेवी,
काशी,
रामनवमी, सं० २०११

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

प्राणदण्ड

पहला

प्रायश्चित्त, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा तथा वासना

पश्चिम तथा पूर्व के पण्डितों ने अब निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है कि सर्व प्रथम सभ्य संसार को न्याय, व्यवस्था और शासन के सिद्धान्तों की शिक्षा देने वाले मनु थे। हम हिन्दुओं का विश्वास है कि प्रजापति ने मनु को मानव-धर्म का उपदेश दिया। उसे मनु ने "मानव धर्म सूत्र" में लिपि या लेख-बद्ध किया। मनु ने अपने शिष्य भृगु को "मानव धर्म सूत्र" की शिक्षा दी। इसी शिक्षा को भृगु ने "मनुस्मृति" के रूप में संसार को प्रदान किया है।

मनुस्मृति कब लिखी गई, यह कहना तो कठिन है। पर, बूलर के मत से यह पुस्तक ईसा से दो सौ वर्ष बाद लिखी गयी थी।[1] श्री काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि ब्राह्मण साम्राज्य के काल में, लगभग १५० वर्ष ईसा से पहले इसकी

---

१. काल निरुपण आदि के लिये देखिये—मनुस्मृति (अँग्रेज़ी), लेखक—महामहोपाध्याय श्री गङ्गानाथ झा, खण्ड २

रचना हुई थी। पर ग्रन्थ की रचना के काल के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। स्मृतियों के रचना-काल के विषय में कुछ भी अधिकारपूर्वक कह सकना सम्भव नहीं है। अभी तक यह भी नहीं तय हो पाया है कि वास्तव में कितनी स्मृतियाँ तथा कितने पुराण हैं। प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय श्री गङ्गानाथ झा ने १८ महापुराण तथा १८ उपपुराण और १८ महास्मृतियाँ तथा १८ उपस्मृतियाँ गिनाई हैं। उनका कथन है कि आर्य जाति ज्यों-ज्यों अपना औपनिवेशिक विस्तार करती गई, नेतावृन्द स्थान तथा काल के अनुसार स्मृतियाँ बनाते गये। पर, यह मानते हुये भी कि कोई एक स्मृति चारों ओर लागू नहीं थी, उन सब पर मनुस्मृति की छाप प्रकट है। श्री गङ्गानाथ झा जी के कथनानुसार उत्तर भारत में—समूचे आर्यावर्त में, मनुस्मृति लागू थी, न्याय तथा व्यवस्था के लिये सर्वमान्य वस्तु थी।

स्मृति निर्दोष नहीं है

मनुस्मृति देव-रचित है, अतएव उसके अनुशासन को हर एक को मानना ही चाहिये, ऐसी बात प्राचीन काल के भी महापुरुष नहीं मानते थे। कुमारिल भट्ट, जिनका समय ईसा से ७वीं या ८वीं शताब्दि उपरान्त का माना जाता है, स्पष्ट लिखते हैं[1] कि "स्मृतियाँ वेद की तरह देव-विरचित नहीं हैं। वे भूलें भी कर सकती हैं। उनका अनुशासन अनिवार्य नहीं होना चाहिये।"

दण्डशास्त्र के जिस महान् पहलू पर हम विचार करने जा रहे हैं, उसके लिये यह आवश्यक है कि धर्म अथवा शास्त्र की किसी रूढ़ि में न फँस कर निरपेक्ष रूप से विषय पर विचार करें। मनु ने अपने काल में जो कुछ कहा हो, आज वह कथन

१. तन्त्रवार्त्तिका—कुमारिल भट्ट।

अनुभव के तराज़ू पर तौला जाना चाहिये। अस्तु, दण्ड-विज्ञान के विषय में विचार करते हुये मनुस्मृति के काल को हम अपराध शास्त्र के पण्डितों की दृष्टि से ही आँकना उचित समझते हैं। जेनेवा के विश्वविद्यालय में अपराध-शास्त्र के अध्यापक श्री पॉल रेवाल्ड ने मनु को चार हज़ार वर्ष पूर्व का व्यवस्थापक स्वीकार किया है।[१] संसार के सब से प्राचीन व्यवस्थापक वे ही थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "समूचे विश्व की व्यवस्था दण्ड पर ही निर्भर है। निरपराध व्यक्ति का मिलना दुर्लभ है। केवल दण्ड के भय से ही समूचे संसार को वह सुख प्राप्त होता है।"

मनु के अनुसार समाज की सुरक्षा के लिये उसे दण्ड से भयभीत रखना आवश्यक है। महा-पण्डित चाणक्य ने अपने सूत्र में, अन्त में "अहिंसा लक्षणो धर्मः" का महान् सिद्धान्त स्वीकार किया है।[२] फिर भी वे राज्य के लिये "भय" आवश्यक समझते हैं। "वधे वधः" उनका स्पष्ट सिद्धान्त है।[३] कौटिल्य के टीकाकार कामन्दक ने अपने "नीतिसार" में भय पैदा करने वाले दण्ड के तीन रूप बतलाये हैं:— १—वध कर देना। २—धन हड़प कर लेना। ३—विशेष काया-कष्ट देना।[४]

धर्म तथा अहिंसा की मूर्ति सम्राट अशोक ने भी अपने "शासन के सिद्धान्त" में भय को आवश्यक समझा है। शासन

---

१. Society and its Criminals—Paul Reiwald पृष्ठ १६८.

२. चाणक्य प्रणीत सूत्रः—५६१ वां सूत्र।

३. कौटीलीय अर्थशास्त्र—४-११-८

४. वधोर्थ ग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधाः स्मृतः॥
(कामन्दनीय नीतिसार: १८-८९)

के २६ वें वर्ष में लिखाये गये उनके शिलालेख में लिखा है कि "एकान्त धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, बड़ी सुश्रूषा, बड़े भय और महान उत्साह के बिना ऐहिक और पारलौकिक दोनों उद्देश्य दुर्लभ हैं।"

अपराध की कल्पना

सम्भवतः लोगों को भयभीत रखने की आवश्यकता इसलिये भी पड़ी कि मनु के अनुसार ही "संसार में निर्दोष व्यक्ति दुर्लभ है।" अपराध की सत्ता संभवतः आदि काल से ही मान ली गई है। यदि ऐसा न होता तो सृष्टि के आदि में चातुर्वर्णों को मनु ने चार मूल-नियम न बतलाये होते कि "हिंसा न करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो तथा शरीर को स्वच्छ रक्खो और इन्द्रियों पर निग्रह रखो।"[२] अतएव आदि व्यवस्थापक ने अपराध का निरूपण कर दिया, समाज ने उसी निरूपण को भिन्न भिन्न युगों में भिन्न रूप से भले ही स्वीकार किया हो पर उसके मूलरूप में कुछ भी अंतर नहीं पड़ा। इस विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे, पर यहां पर इतना अवश्य कह दें कि रोम की प्रसिद्ध "बारह तालिकायें"[३] भी मनु के नियमों के बाहर नहीं जाती हैं। पाश्चात्य दण्ड-विधान की वर्तमान व्याख्या भी अपराध की व्याख्या करते समय सब कुछ का निचोड़ केवल इतना ही कह देती है कि "अपराध उस आचरण का नाम है जिसे किसी प्रकार के दण्ड का भय दिखाकर मना किया गया हो। समाज में जो समुदाय या वर्ग इतना शक्तिशाली होता है कि व्यवस्था को बना सकता है या उसको प्रभावित कर सकता है, वह वर्ग जिस आचरण को

---

१ अशोक के स्तम्भ लेखों में (सप्त स्तम्भलेखों में) प्रथम।

२. मनु स्मृति—अध्याय १, श्लोक ६३.

३. Rome's Twelve Tables—Maine's "Ancient Law"

समाज के लिये हानिकारक समझता है उसी को करना अपराध समझा जाता है। वही अपराध दण्ड का कारण बनता है।"

स्पष्ट है कि अपराध तत्कालीन समाज के बहुमत की एक कल्पना है। हर प्रकार के नियम या क़ानून जन-समूह की रीति तथा स्वभाव और आचार से ही उत्पन्न और विकसित होते हैं। व्यवस्था तथा नियम का विकास होता है।[१] जन समूह ने ही युगों के प्रयोग के बाद उस वस्तु का नाम अपराध रखा है जो राज्य की मर्यादा तथा शान्ति में व्याघात पहुँचाता है, जिस कार्य के करने पर राज्य अपनी रक्षा तथा जन साधारण के हित में सजा देता है, अतएव ऐसा कार्य होने पर यदि "पीड़ित व्यक्ति या उस के सम्बन्धी क्षमा भी कर दें तब भी राज्य क्षमा नहीं कर सकता।" इस कथन का तात्पर्य यही हुआ कि अपराध व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति अथवा विषय नहीं है। वह समाज की ज़िम्मेदारी है। समाज ही उसका निरूपण तथा प्रतिकार कर सकता है।

समाज की व्याख्या करना आवश्यक नहीं है। हम सभी अपने समाज से परिचित हैं। प्रत्येक सामाजिक वर्ग में, चाहे वह बड़ा वर्ग या समुदाय हो या छोटा, अनेक प्रकार के विश्वास, धारणायें, परम्परायें, विचार तथा भावनायें होती हैं। उसके सदस्य इन चीज़ों में अन्धविश्वास रखते हैं। इनका पालन करना अपने तथा अपने वर्ग के कल्याण के लिये अनिवार्य समझा जाता है। जो व्यक्ति या जो कार्य इन विश्वासों तथा परम्पराओं के प्रतिकूल होता है उसे अ-सामाजिक कहा जाता है, उसे अपराध समझा जाता है। समुदाय के प्रति विद्रोह या शत्रुता समझा जाता है। इसलिये अ-सामाजिक कार्यों की व्याख्या करना और उसमें अन्तर्निहित भावनाओं का विवेचन आधुनिक विज्ञान के लिये भी

---

१. Social Encyclopaedia—Criminal Law.

सम्भव नहीं है। भिन्न समाज में भिन्न अपराध हो सकते हैं। किन्हीं वर्गों में चोरी, बाल-हत्या, मनुष्य-मांस-भक्षण, पुलिसमैन को मार डालना, ताश खेलने में धोखा देना या बिना पूँजी के माल की हवाई ख़रीद-बिक्री अपराध नहीं होता। भिन्न वर्गों के लिये भिन्न भिन्न सामाजिक नियम होते हैं। सभ्यता के पूर्वकाल में सबसे बड़ा अपराध दैवी शक्तियों की उपेक्षा या अनादर करना था। उसके बाद शिकार खेलने के नियमों का उल्लंघन करने पर प्राण-दण्ड मिलता था। रूसो और वाल्टेयर ऐसे क्रान्तिकारी सुधारकों के उपदेशों से पवित्र होने के बाद भी फ्रांस में अभी सौ वर्ष पूर्व तक, मज़हबी बेअदबी के लिये प्राणदण्ड मिलता था। प्राचीन काल में अनेक जातियों में वृद्ध या अपाहिज को ज़िन्दा गाड़ देना बड़ा उचित कार्य समझा जाता था, पर ग़ल्ला या पशु का संग्रह करना निन्दनीय था।

प्रायश्चित्त

आदि काल से ही समाज के प्रचलित नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था चली आ रही है। इस "दण्ड" का आदि रूप "प्रायश्चित्त" ही रहा होगा। हमारे शास्त्रों में अपराध के लिये प्रायश्चित्त का बड़ा महत्व है। हम ऊपर लिख आये हैं कि मनु सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे—आज के चार हज़ार वर्ष पहले। नारद स्मृति के अनुसार ब्रह्मा आदि-पुरुष थे। उनके पुत्र स्वयंभू मनु थे। ब्रह्मा से प्राप्त उपदेशों को मनु ने एक लाख श्लोकों में नारद को सुनाया। नारद ने उन उपदेशों को १२,००० श्लोकों में भृगु के पुत्र सुमति को प्रदान किया। सुमति ने उनका ८००० श्लोकों में संक्षेप किया। स्मृतियों में आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त—यही विषय है। यही धर्मशास्त्र है। यही संहिता है। हरएक संहिता में उसके प्रणेता ऋषि ने निजी उपदेश दिया है।

संहिताओं में हत्या ऐसे भीषण अपराध करने वाले के लिये भी कोरा प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है। उदाहरण के लिये ऊषान संहिता में ब्रह्महत्या करने वाले को भिक्षा मांग कर जंगल में बारह वर्ष रहना चाहिये।[१] पाराशर संहिता में शूद्र को मारने पर प्रजापत्य, वैश्य या क्षत्रिय को मारने पर अतिकृच्छ प्रायश्चित्त का निर्देश है।[२] पाराशर ने चोरी करने वाले ब्राह्मण को प्राणायाम करके प्रायश्चित्त करने का निर्देश किया है।[३] बृहस्पति-संहिता[४] में बहुत से पाप गिनाये गये हैं। शततप ने अपराध करने से होने वाली बीमारियाँ गिना डाली हैं।[५] गौतम ने हत्या करने पर भिन्न भिन्न प्रायश्चित्त ही गिना डाले हैं। ब्रह्मचर्य भी, उनके अनुसार प्रायश्चित्त का एक महान अंग है।[६] आपस्तम्ब ने हत्या का कोई ज़िक्र तो नहीं किया है पर अन्य सभी प्रकार के असामाजिक कार्य यानी अपराध के लिये प्रायश्चित्त बतलाये हैं। विष्णु संहिता में क्षत्रिय आदि को मारना स्वर्ग चुराने के बराबर अतिपातक माना गया है।[७] वशिष्ठ ने ब्राह्मण को मारने वाले को बारह वर्ष, क्षत्रिय की हत्या पर ६ वर्ष, वैश्य तथा शूद्र की हत्या पर क्रमशः छः तथा तीन वर्ष का प्रायश्चित्त होम आदि का विधान बतलाया है।[८] इन सब प्रायश्चित्तों का यह अर्थ नहीं है कि दण्ड की व्यवस्था नहीं थी। पर इनका मूलभूत सिद्धांत यही है कि अपराध करना अथवा समाज के नियमों का उल्लंघन करना एक पाप है। पाप का प्रायश्चित्त शुद्धि है, आत्म-ताडन तथा आत्म-पीड़न भी है। जब मनुष्य स्वयं अपने से अपने को दण्ड देने के योग्य नहीं रह गया तो

१—ऊ० संहिता–अध्याय ८ श्लोक ५।
२—पाराशर संहिता–अ० ६–१५, १६,
३—पाराशर सं० अ० ६–१९। ४—बृह०–३२, ५४।
५—शत० सं०–अध्याय ४ ६—गौतम सं०–अ० २३
-विष्णु सं०–अध्याय ३६ ८—वशिष्ठ सं०–अ० ८

उसे दण्ड देने के लिये बाहरी व्यवस्था करनी पड़ी। अतएव प्रायश्चित्त की महत्ता को असीम मान लेने पर भी शास्त्रकारों को अनेक प्रकार के दण्ड की व्यवस्था करनी पड़ी है। इसका ऊहा-पोह हम बाद में करेंगे।

अपराध करने पर "शुद्धि" या "प्रायश्चित्" की महत्ता पर केवल भारतीय संस्कृति ने ही ज़ोर नहीं दिया है। आज अपराध करने वाले के लिये सबसे प्रचलित शब्द "पनिशमेण्ट" अंग्रेज़ी भाषा में है जिसका अर्थ है "दण्ड" या "सज़ा"। जिस शब्द से इसकी (इस शब्द की) उत्पत्ति हुई है[१] उसका अर्थ ही है "साफ़ करना।" आत्म-रक्षा के लिये समाज का जो विधान हो, उसके प्रतिकूल काम करने वाले को अपनी शुद्धि करनी चाहिये या उसे शुद्ध करने के लिये दण्ड देना चाहिये। जो हो, दण्ड मिलना चाहिये, प्रायश्चित्त के लिये हो या भय उत्पन्न करने के लिये। अपराध की बाढ़ या अपराधियों की वृद्धि रोकने के लिये हो अथवा आत्मा के मोक्ष के लिये, दण्ड अनिवार्य है। यदि समाज की व्यवस्था को क़ायम रखना है, यदि समाज में सुख जारी रखना है तो समाज या उसके सदस्य को पीड़ा या वेदना पहुँचाने वाले को दण्ड देना चाहिये। यही पुराना उसूल रहा है। यही उसूल आज भी क़ायम है। पर, युग बीत गये। यूनानी, रोमन, यहूदी, मुसलिम तथा हमारे धर्मशास्त्रों से लेकर आज तक के समाजशास्त्री तथा अपराधशास्त्री अपराध और दण्ड की नई नई व्याख्या तथा नई नई सफ़ाइयां देते चले आ रहे हैं। उनको सन्तोष नहीं है। समाज में दण्ड की क्रूरतम व्यवस्था होने पर भी वे देख रहे हैं कि अपराध कम नहीं हो रहे हैं। पुराना धर्म या पाप का भाव या प्रायश्चित्त की कल्पना अब तिरोहित हो चुकी है।

---

१. Punishment from Greek root "Pu"—To Cleance.

मनुष्य प्रकट परिणाम से सब कुछ आंकता है। इसलिये वह बड़ी बेचैनी से सोच रहा है कि अपराध किसे कहते हैं! दण्ड क्यों दिया जावे? किसे दिया जावे? क्या दण्ड से लाभ होता है?

प्रतिशोध

भारतीय संस्कृति में प्रायश्चित्त की भावना प्रधान रही हो पर अपराध शास्त्र के पंडितों का कहना है कि दण्ड के मूल में, प्राचीन काल में, सभ्यता के इतिहास के पूर्व भी प्रतिशोध की भावना मुख्य थी। कौटिल्य ने "वधे वधः" के जिस सिद्धान्त को ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व लिखा था, आदिम जाति के लोगों ने उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। जीव-विज्ञान वेत्ताओं ने भी इसे स्वीकार किया है। मैलिनोस्की[१] ने सिद्ध किया है कि पहले यह परस्पर व्यवहार मात्र की ही चीज़ थी यानी सभ्यता के पहले पीड़ित या अपराधित मानव को अपने को पीड़ा देने वाले को दण्ड देना एक परस्पर व्यवहार की बात थी। एक प्रसिद्ध जीव-विज्ञान विशारद जर्मन ने[२] तो सिद्ध कर दिया है कि चाहे प्रतिशोध हो या दण्ड, समूचे दण्ड-विधान का आधार "परस्पर व्यवहार" है। यानी "जो जैसा करे उसके साथ वैसा व्यवहार किया जावे।"

किन्तु प्रतिशोध या प्रायश्चित्त पर काफ़ी ज़ोर देते समय हम को "भय" की भावना भूल नहीं जानी चाहिये। समाज को अपने नियमों की अवज्ञा करने वाले से भय लगता है। उसे डर है कि उसका कपड़ा-लत्ता चोरी न चला जावे, डाँकू माल न लूट ले

---

१. Introduction to Law and Order in Polynesia-by Malinowski. Page XXXVI. and Crime & Custom in Savege Society-Page 26.

२. Richard Thurnwald.

जावें। गाढ़ी कमाई का पैसा डाकू के पेट में न चला जावे। समाज के किसी सदस्य की हत्या न हो जावे। इसीलिये समाज भयभीत होकर कठोर से कठोर दंड की व्यवस्था करता है। हैंस केलसन ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि प्रारम्भ में जंगली लोगों को अपने शत्रुओं को मार डालने में आनन्द मिलता था। यदि उनके वर्ग के किसी व्यक्ति की हत्या की जाती थी तो वे बड़े भयभीत हो उठते थे। वर्ग की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो जाता था। वे इस भय के कारण या प्रतिशोध के लिये भी अपराधी को मार डालते होंगे पर भय भी एक कारण अवश्य था। वर्ग के किसी सदस्य को पीड़ा पहुँचने से वर्ग मात्र के हितों की अवहेलना होती थी अतएव वर्ग को इसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यह प्रायश्चित्त ही अनेक रूप धारण करके दण्ड के रूप में प्रकट हुआ है। हैंस केलसन[1] ने आदिम जातियों में प्रायश्चित्त की भावना को प्रारम्भिक समाज की नैतिकता या आचरण का अंग स्वीकार किया है। हत्या किये गये प्राणी की आत्मा की सन्तुष्टि तथा शान्ति के लिये प्रायश्चित्तात्मक प्रतिशोध भी ज़रूरी समझा जाता था। इसलिये हत्यारे को जितनी कड़ी सज़ा दी जाती थी, जितना कठोर दण्ड दिया जाता था, उतनी ही मृतक की आत्मा को शान्ति मिलती थी। जो हो, "आंख के लिये आंख व दांत के लिये दांत" का सिद्धान्त बहुत पुराना है और दण्ड शास्त्र के पण्डित कहते हैं कि आज का दण्ड विधान इसी मौलिक सिद्धान्त पर निर्भर है। समय काल पाकर चीज़ों का मूल्य बदलता गया। व्यक्तिगत तथा सामाजिक हानि का मूल्यांकन विभिन्न होता गया पर मूल में जो भावना थी वह आज भी काम कर रही है। पर, सभी विद्वान् इस सिद्धान्त को

१–Hans Kelsen

नहीं मानते। नीत्से[1] जैसे पंडित ने ऐसी कल्पना की बड़ी भर्त्सना

अन्ध विश्वास

प्राचीन काल में दण्ड की भावना ऊपर लिखे अन्ध विश्वास पर निर्भर रही होगी। ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्य होता गया उसने दंड प्रणाली तथा रीति-नीति को क्रमबद्ध किया होगा। उसका निश्चित प्रकार बनाया होगा। फ़ॉन लीस्ते[2] का कहना है कि "दण्ड असामाजिक कार्यों के प्रति समाजिक प्रतिक्रिया है।" यह भी सही हो सकता है पर धीरे धीरे इस प्रतिक्रिया में परिवर्तन होने लगा। समय पाकर मानव ने प्रतिशोध को अधिक उपयुक्त तथा संगत बनाने का प्रयास किया होगा। उसके मन में यह उदार भावना आई होगी कि अपराधी ने पाप कर ही डाला। अब उसकी आत्मा को नर्क में सड़ने से बचाने के लिये यह ज़रूरी है कि उसे जला कर मार डाला जावे या फांसी पर लटका दिया जावे। अपराध करने वाला प्राणदण्ड के समय अपने "भावी जीवन" के लिये चिन्तित अवश्य रहता था। चीन में यह आम विश्वास था कि अंग भंग किये गये शरीर को क़ब्र में सुला देने से उसकी आत्मा सदैव बेचैन रहेगी, इसलिये अपराधी चेष्टा करता था कि उसे कठोर से कठोर यातना के साथ प्राणदण्ड मिले पर अंगछेदन न हो।[3] किन्तु प्राचीन भावना या कल्पना को आधार मानकर नवीन विचारों का सामञ्जस्य सभी मनोवैज्ञानिकों को अभीष्ट नहीं है। फ्रेज़र ने स्पष्ट लिखा है[4] कि "भूतकाल की 'पुनर्रचना' करने के लिये हम एक युग के विचार को दूसरे युग के मुख में

१–Nietzsche २–Ven Liszte

३–Dee Goong An चीनी उपन्यास Translated by R. H. Van Gudlik.

४—Psyche's Task–By Sir J. G. Frazer. Page 132.

नहीं रख सकते। आरम्भ की विचार धारा को नवीनतम मानसिक विकास की व्याख्या में नहीं शामिल कर सकते। इसप्रकार क्रान्ति की जा सकती है, इतिहास नहीं लिखा जा सकता या मनोविज्ञान का आधार नहीं बनाया जा सकता।"

दण्ड का स्वरूप

समूचे दण्ड-विधान या दण्ड विधान के विकास पर प्रकाश डालना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारे लिये विचारणीय विषय प्राणदण्ड है। हिन्दू-धर्म शास्त्र में दण्ड के देवता यमराज हैं जिन्हें धर्मराज कहते हैं। धर्मराज पाप तथा पुण्य का पूरा लेखा रखते हैं। उनके मुख्य लिपिक या रेकार्डर श्रीचित्रगुप्त हैं। यमराज की शक्ल बड़ी डरावनी है। भय उत्पन्न करने वाले देवता का भयावह होना स्वाभाविक है। मनु के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा से उत्पन्न दण्ड देव ही सृष्टि के वास्तविक शासक हैं।[1] उनका चेहरा घोर काला है तथा बड़ी बड़ी लाल लाल आंखें हैं। वे भय का संचार करते हैं तथा दण्ड और ताड़ना की चेतावनी देते हैं। चीन में भी दण्ड का देवता काला मुख, भयावना, लाल आंखें निकाले रहता है। जिस वस्तु के देवता तथा आदर्श की ऐसी भयंकर सूरत शक्ल हो वह स्वतः कितनी भयंकर होगी। इसलिये जिस ज़माने में दंड को एक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तु समझा जाता था, उस युग में दण्ड की बड़ी क्रूर, निर्दय तथा आज के युग में कल्पना में भी न आने वाली प्रथायें रही होंगी। दण्ड की वे प्रणालियां समाज के आन्तरिक भावों को व्यक्त कर सकती हैं। क़ानून की—हमारा तात्पर्य अपराध सम्बन्धी क़ानून से है—व्याख्या करते समय और चाहे जो तर्क हो पर जहां तक मृत्युदण्ड (प्राणदण्ड) का सम्बन्ध है, उसका प्राचीनकाल से लेकर आज तक का

---

१. मनु, अ० ७, १४६.

इतिहास समझने के लिये मानव के भीतर बैठी अज्ञात अस्पष्ट भावनाओं तथा भावुकता को समझना होगा। "मृत्यु दण्ड की प्रथा का बौद्धिक या तर्कयुक्त विश्लेषण संभव नहीं है।"[१] प्राचीन भावनाओं ने समाज के मन के भीतर इतना घर कर लिया था कि प्राचीन प्राणदण्ड प्रणाली को बदलते-बदलते युग बीत गये और बहुत ही रुक-रुककर, सहम सहम कर, इसमें परिवर्तन हुये हैं। पुराना "भय" बना रहा। अब भी बना है। यदि प्राणदण्ड में नर्मी की जावेगी तो क्या होगा! क्या ऐसा तो नहीं हो जावेगा कि समाज का जीवन खतरे में पड़ जाय! इस भय के मूल में धार्मिक कारण भी हैं। प्राचीन दण्ड-प्रणाली धार्मिक आदेशों का अंग थी। इन धार्मिक आदेशों के मूल में सभ्यता के पूर्वकाल का आत्म-रक्षा का, निजी बचत का नियम या विधान भी था। आदिम लोगों ने अपने तथा अपने वर्ग के बचाव के लिये कुछ नियम बनाये थे। अधिक सभ्य समाज ने इन्हीं नियमों में यथासमय संशोधन कर धार्मिक आदेश का रूप दे दिया। इस प्रकार परम्परा, स्वभाव, धर्म इन तीनों ने मिलकर दण्ड की व्यवस्था क़ायम की। प्राणदण्ड से लेकर जुर्माना की सजा, सब कुछ धर्मशास्त्र का विषय था। आगे चलकर हम अपनी संहिताओं का उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि करेंगे।

जब मृत्यु अस्वाभाविक वस्तु थी!

अपराध शास्त्र के पण्डितों ने यह सिद्ध कर दिया है कि शुरू जमाने में हत्यारे का वध कर डालने का कोई रिवाज नहीं था।[१] समाज के किसी व्यक्ति की जान लेने पर हरजाना देना पड़ता था और ज्यादातर हरजाना पशु-धन के रूप में होता था। हत्या सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराधों के दायरे में थी। हरजाना से

१. The Punishment - लेखक J. Nagler पृष्ठ ५३३.

प्राणदण्ड तक किस प्रकार और क्यों प्रगति हुई, इस विषय में केवल अनुमान से काम लेना पड़ेगा।[1] सभ्यता के पूर्व का प्राणी आत्मा की ठोस व्याख्या भले ही न कर सकता हो, पर वह अपने को अमर समझता था। उसके लिये जीवन का कभी भी स्वाभाविक अन्त नहीं होता था। वह प्राणी इच्छा तथा विचार को भी असीम शक्तिशाली तथा दैवी वस्तु मानता था। उसके लिये किसी की मृत्यु हो जाना किसी की 'इच्छा' यानी जादू-टोना का परिणाम था। मृतक की आत्मा भी, मर जाने का प्रतिशोध लेने के लिये जिसे चाहती उसे उठा ले जाती। मृतक समाज के लिये वैसे ही अकल्याणकर हो सकता है, जैसे आज का अपराध करने वाला व्यक्ति। युगों लगे होंगे उस प्राणी को यह समझने में कि मृत्यु भी स्वाभाविक वस्तु हो सकती है। प्राकृतिक कारणों से, बिना जादू-टोना के आदमी मर सकता है तथा मृत्यु के दो प्रकार हो सकते हैं—१–क़ुदरती, प्राकृतिक २–दैवजन्य या रोग के कारण तथा ३–हत्या द्वारा। पर, हजारों वर्ष बीत गये, आज भी करोड़ों ऐसे नर-नारी हैं जिनकी हमारे देश में भी कमी नहीं है, जो यह समझते हैं कि जादू-टोना से प्राण लिया जा सकता है तथा मृतक की प्रेतात्मा जिसे चाहे उसे मार सकती है, उसको परेशान कर सकती है। प्राचीन काल में प्रेतात्मा का भय काफ़ी पीड़ित कर देता था। अतएव धीरे-धीरे उस काल के लोगों ने मृतक से "बचाव" के लिये तथा आगे चल कर उसको "शान्त" करने के लिये उपाय ढूँढ़ निकाले। इन उपायों का गूढ़ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। मानव के मन की अन्तर्निहित निर्दयता तथा निर्दय कार्यों से आनन्द को ग्रहण करने या अनुभव करने की भावना को भूल न जाना चाहिये।

---

1. Society and its Chinnials—Paul Reiwald, Page 206

अपराधी मनोवृत्ति

यह तो साधारण मनोविज्ञान की बात है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन प्राणी की आन्तरिक प्रवृत्ति में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। केवल शिक्षा के कारण बुद्धि का संस्कार ही हमको जङ्गली लोगों से विभिन्न बना सका है। मनु ने अथवा कौटिल्य ने भी घोर अपराध के कार्य की 'साहस' संज्ञा रखी है। कौटिल्य के दण्डों का नाम भी "उत्तम साहस" आदि है। यह "साहस" हम सब के मन में छिपा है। हरेक के मन में थोड़ी बहुत उद्दण्डता तथा उच्छृंखलता छिपी रहती है। दूसरे पर प्रहार करने की इच्छा दबी रहती है। सभ्यता तथा शिक्षा इस मनोवृत्ति को परिष्कृत तथा शुद्ध करती चलती है। इसी मनोवृत्ति को दबाने के लिये सभी मजहबों के धर्मशास्त्र या विधान बनते हैं। मानव तो कल्पना में भी प्रहार करके उससे आनन्द का अनुभव करता है। यदि ऐसा न होता तो "भेद-भरी हत्या" "खून से लथपथ लाश" या भयङ्कर अत्याचारों की काल्पनिक कहानियां हम इतने चाव से न लिखते या न पढ़ते। इस प्रकार अपराधों की पुनरावृत्ति हम अपनी कल्पना में करते रहते हैं। उससे हमें बड़ा सुख मिलता है। समाज के नियमों ने हमको इतने बन्धनों में जकड़ दिया है कि हम अपनी इच्छाओं का खुला खेल नहीं खेलने दे सकते हैं। अतएव खेल, नाटक, तमाशा में जितनी हत्या या अपराध हम कर सकते हैं, कर डालते हैं और उससे सुख प्राप्त करते हैं। अपराध की पुनरावृत्ति से अपराध के प्रतीकार का प्रतिशोध का भी आनन्द प्राप्त हो जाता है। अपराधी प्रवृत्ति वाले बच्चों या युवकों को थोड़ी सी मनोवैज्ञानिक शिक्षा देने पर अपने विकार को धो डालने का

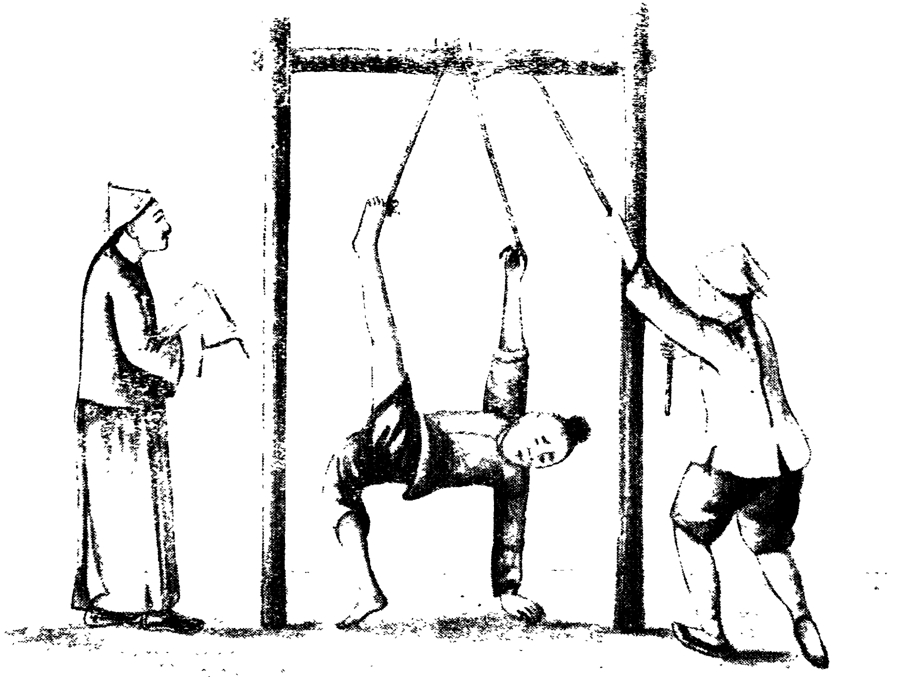
अवसर मिलता है। श्री आईशोर्न ने ऐसा उपयोग बहुत किया था। वे लिखते हैं:[1]

'पूर्ण नम्रता तथा दयालु व्यवहार, लगातार काम में लगाये रखने तथा खेल-कूद के लिये काफ़ी समय देना, इसी से उद्दण्ड मनोवृत्ति पर नियन्त्रण रहता है तथा हर एक व्यक्ति से बराबर बातचीत करते रहना······इस स्थिति में उद्दण्डता ने अपना रूप बदल दिया। एक दूसरे के प्रति क्रोध का उद्रेक अपनी असलियत खो बैठा।······एक लड़का एक दूसरे के गले पर रोटी काटने वाली चाकू लेकर चढ़ बैठा और चीख़ पड़ा—'अबे कुत्ते, मैं तेरा गला काट दूँगा।' मैं पास में ही खड़ा रहा—मैंने इस ख़तरे का जैसे कोई ख़्याल ही न किया हो। मैं जानता था कि यह हमला निर्जीव और नक़ली है। इसमें कोई ख़तरा नहीं है। चूँकि मैंने ऐसा व्यवहार किया मानो कोई अनोखी बात नहीं हो रही है और मैं ज़रा भी उत्तेजित नहीं हुआ, मैंने झपट कर उसके हाथ से चाकू नहीं छीन लिया तथा उसके कान नहीं गरम किये, हमारे चरित्र नायक ने क्रोध में चाकू भूमि पर फेंक दिया, उसे पैरों तले रौंद दिया। फिर खूब ज़ोर से रोने लगे और थक कर गहरी नींद में सो गये। हमारे बारहों युवकों ने ऐसा ही नाटक किया था।' इससे स्पष्ट है कि अपराधी प्रवृत्ति वाले युवकों को खेल-कूद में ही अपनी उद्दण्डता समाप्त कर देने का अवसर देने से ही वे सच्चे नागरिक बन सकते हैं।

अपराध की पुनरावृत्ति

जिस प्रकार प्राणी के मन में भीतर साहसिक तथा उद्दण्ड-मय भावना छिपी रहती है उसी प्रकार समाज के प्रति अपने द्वारा या समाज के किसी अन्य सदस्य द्वारा किये गये अपराध

1. Aichorn—Wayward Youth, Page 551



कई देशों में शरीर के अङ्गों को तोड़ने की विधि

के प्रति "दोष और खेद" की, "अपराधी" या "दोषी" भावना भी बनी रहती है। अपराध करने वाला या समाज स्वत: इस दोष-पाप से छुटकारा पाना चाहता है और उसकी एक सहज मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है—उसी अपराध को दुहरा देना। यह दुहराने वाली भावना मन के भीतर छिपी पड़ी है। लेखक अपराधों की कहानियाँ लिखकर, नाट्यकार या कवि अपनी रचना के द्वारा, न्यायाधीश हत्यारे की हत्या करके तथा समाज विभिन्न निर्दय रीति-रिवाजों द्वारा प्रायश्चित्त तथा प्रतिशोध करता रहता है। अपराध को अनिवार्य रूप से दुहरा देने की इसी प्रवृत्ति का प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड[१] ने बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है। अपराधी कार्य को संकेतात्मक रूप में दुहरा[२] देने से दोष-पाप से छुट्टी मिल जाती है। जो हो, दोष-पाप की भावना भी तो "भय" वश हुई। इसी भय का हम प्रारम्भ में जिक्र कर आये हैं। आदिम लोगों को मृतक की प्रतिशोध लेने वाली आत्मा का भय था। आज के प्राणी को समाज का, क़ानून का, शिष्ट-मण्डली की फटकार का डर है। इसलिये अपराध की पुनरावृत्ति से आत्म-भय दूर होता है। यह पुनरावृत्ति संकेतरूप से हो सकती है। हिन्दू धर्मशास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान संकेतात्मक पुनरावृत्ति है। आजकल की फांसी की प्रथा, अदालत का उपक्रम, यह सब भी संकेतात्मक पुनरावृत्ति है। अपराधी का "अपना अपराध स्वीकार कर लेना" भी अपराध की पुनरावृत्ति है।

व्यक्ति से राज्य

अपराध की पुनरावृत्ति ही अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों, धार्मिक-कृत्यों तथा उत्सवों के रूप में प्राचीन समाज में पनपी होगी। धीरे धीरे मनुष्य ने यह सीखा होगा कि मौत स्वाभाविक

१–Anna Freud २–The Unknown Murderer by Reik

चीज़ भी हो सकती है। तब उसने यह समझा होगा कि मृतक की आत्मा अनायास जिसे चाहती, नहीं उठा ले जा सकती होगी। प्रेतात्मा को भी "इच्छानुसार" काम करने की शक्ति है। प्रेतात्मा उसी को उठा ले जाती होगी जिसके प्रति उसे घृणा या द्वेष होगा। जिसने किसी की जान ली, जिसने जान लिये जाने वाले के मन में घृणा तथा द्वेष का कारण भर दिया होगा, उसे प्रति-शोध के लिये भी तैयार रहना होगा। इसी कारण से शुरू शुरू में हत्या का दण्ड एक व्यक्तिगत तथा निजी बात थी। कुछ समय बाद हत्या को पारिवारिक क्षति समझा जाने लगा और तब दण्ड देना या पाना कौटुम्बिक बात हो गई। कुछ समय के बाद यह क्षति जाति की समझी जाने लगी और तब प्रतिशोध या प्राय-श्चित्त जातीय प्रश्न हो गया। जाति से राज्य ने ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली। हत्या करने का प्रतिशोध तथा हत्यारे को दण्ड देने का काम राज्य का हो गया। ज्यों,ज्यों व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध घनिष्ठ होता गया, व्यक्ति के आचरण की ज़िम्मेदारी समाज पर आती गई। व्यक्ति एक की हत्या करके समूचे समाज को अपवित्र कर देता था। उसकी (मृतक की) प्रेतात्मा के आतंक का ख़तरा समूचे समाज को उठाना पड़ता। इसीलिये हत्या अपवित्र बनाने वाली चीज़ थी। ऐसी कृति के कारण शुद्धि के लिये यूनान में देश निकाला देते थे। अपराधी को देश से निकाल देने से समाज दोषमुक्त हो जाता था। स्पष्ट है कि प्राचीन काल में हत्या अपराध नहीं, पाप था। उसके लिये दण्ड नहीं, आत्म-शुद्धि तथा समाज की रक्षाके लिये अनेक उपाय करने पड़ते थे।[1] आज हम उन उपायों को दण्ड कह सकते हैं। पर शुरू में वे केवल "आत्म-रक्षक" या "समाज-रक्षक" उपाय मात्र थे। किन्तु,

१. Phyche's Task—By Frazer पृष्ठ १५१

यहां पर एक बात और ध्यान रखने की है। सभी प्राचीन प्रथाओं का रूप धार्मिक था। धार्मिक रीतियां थीं। धार्मिक भावनाओं ने प्रेतात्मा पैदा किया था। उन्हीं भावनाओं ने मृतक की आत्मा का स्वामी यानी देवता भी रच डाला। इसलिये मृतक को संतुष्ट तथा शान्त न करके देवता को ही शान्त तथा सन्तुष्ट करा देना अधिक सरल तथा लाभदायक समझा गया।

बलिदान

यह कहना कठिन है कि देवता के प्रसाद तथा भोग के लिये, उसकी सन्तुष्टि के लिये पहले नर-बलि हुई या पशु-बलि। अधिकांश विद्वान् पशु-बलि को ही प्राचीन मानते हैं और उनका कथन है कि अनेक प्रकार की निर्दय पशु-बलि से ही समाज ने नर-बलि यानी मनुष्य का बलिदान करना सीखा है।[२] पशु-बलियों के ढङ्ग की नर-हत्या (दण्ड द्वारा) अभी तक प्रचलित है। जङ्गली लोगों ने पत्थर या ढेले से मार मार कर हत्यारे का प्राण लेने का एक समारोह बना लिया था। अपराधी को कालिख पोत दी जाती थी और शरीर में पर खोंस दिये जाते थे। यह सब उसे पशु बनाने का ढङ्ग नहीं है तो और क्या है? १६वीं सदी के मध्य में अभागे हत्यारे को गाय की खाल में कस कर (या खाल पर बिठा कर) वध-भूमि की ओर ले जाते थे। चोरी करने वाले के बदन में कालिख पोत कर पर खोंसने की प्रथा अभी कुछ समयपूर्व तक जर्मनी, फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड में भी थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में दासत्व प्रथा के विरोधी विलियम लॉयड गैरिसन को बोस्टन की सड़कों पर यही दण्ड दिया गया था। वाशिंग्टन में कोसिनी नामक एक पत्र सम्वाददाता के साथ यही व्यवहार सन् १६३६ में

---

२. Von Amira पृष्ठ नं० २०६, २१२, २२३ आदि।

हुआ था। सिद्ध है कि गत पांच हज़ार वर्षों में भी मानव स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

अस्तु, प्राचीनकाल में बलिदान के पशु का सर काट लेने की प्रथा थी। रोम तथा इण्डो-जर्मन जाति में इसका बड़ा प्रचार था। बाद में पशु का स्थान मनुष्य ने लिया। बिजली के देवता की सन्तुष्टि के लिये आदमी का सर काट कर ऊँचे बाँस में टांग दिया जाता था। वायु के देवता की सन्तुष्टि के लिये पेड़ में फांसी लटका कर लाश कई दिन तक लटकती छोड़ दी जाती थी। पहले इन सब कार्यों को वर्ग के लोग एकत्रित होकर मन्त्रोच्चार के साथ करते थे। बाद में ऐसे कार्य सार्वजनिक मनोरञ्जन की वस्तु हो गये। जितनी भीड़ "प्राणदण्ड" देखने के लिये होती थी, उतनी अन्य किसी उत्सव में नहीं। दूसरे के प्रति निर्दयता होते देखकर मानव की निर्दय मनोवृत्ति को शांति मिलती थी। जो हो, आदि में, जबकि पहला पशु-वध और फिर नर-वध हुआ होगा, पहला वधिक यानी जल्लाद पुरोहित अर्थात् धर्मगुरु रहा होगा। आज के जल्लादों का पुरखा धर्मगुरु ही था। आज भी प्राणदण्ड के पूर्व पुरोहित, पादरी-मुल्ला की ज़रूर याद कर ली जाती है। प्राण हरते समय भी राज्य को धर्म का ख़्याल रहता है।

पशु-बलि के बीभत्स रूप ने ही नर-बलि को जन्म दिया। उदाहरण के लिये स्मिथ द्वारा वर्णित "टोटेम-फ़ीस्ट" है। हजारों वर्ष पहले पवित्र नील नदी के तट पर अरब लोग एक उत्सव मनाते थे। मुखिया या सरदार की अध्यक्षता में वे बलिदान के ऊँट पर टूट पड़ते थे और जीवित पशु के शरीर से मांस के टुकड़े काट कर खाते थे और रक्त पीते थे। इस अवसर पर धार्मिक मन्त्रोच्चार तथा कुछ पूजन भी होता रहता था।[1] इस निर्दय प्रथा का फल मनुष्य ने भोगा। कुछ समय बाद अबीसिनियन रक्त के

---

१. The Religion of the Semites—by Roberts Smith.

हेलेंगा जाति वालों में एक ऐसी ही प्रथा पनपी। अन्तर केवल इतना था कि उसमें पशु का स्थान मनुष्य ने लिया। हत्या करने के अपराधी व्यक्ति को पकड़ कर उत्सव किया जाता। बदला लेने वाला कुटुम्ब उस अपराधी को घेर लेता। धीरे धीरे उस्तरे से उसका गला काटा जाता। एक बर्तन में रक्त इकट्ठा करके मेहमानों को बांट दिया जाता और जैसे ही अपराधी के प्राण छूटते सबको उस रक्त को पी जाना पड़ता था।[१] पशु तथा नर के बलिदान में क्या अन्तर रहा! यह बात अवश्य कही जा सकती है कि पहले नर-बलि होती थी। नर हत्या रोक कर पशु बलि की जाने लगी। पर, कुछ समय बाद फिर नर का नम्बर आ गया, क्योंकि आदिम जाति में नर-हत्या तो होती ही थी। सबसे पहले पुत्रों ने अपने पिता की हत्या की होगी क्योंकि प्राचीन समाज में पिता को सब कुछ अधिकार था। उसके जीवन काल में पुत्रों को स्त्री-संसर्ग का भी अधिकार नहीं था। अतएव परेशान होकर पुत्रों ने इस विपत्ति को मार डाला होगा। सम्भवतः यह पहली नर हत्या रही हो।

प्रतिशोध

पहले देवताओं की संतुष्टि के लिये या मृतक की आत्मा को क़ाबू में रखने के लिये बलिदान होते थे। कुछ समय बाद वे प्रतिशोध के लिये होने लगे। पहले केवल कुटुम्ब ही प्रतिशोध की लीला तथा निर्दय कार्यवाहियों में भाग लेता था। बाद में समूचा वर्ग आने लगा। फिर, उसी वर्ग से भिन्न वर्गों को भी बुलावा भेजा जाता था। अधिक से अधिक लोग एकत्र होते थे। शुरू में दण्ड देने या प्रतिशोध लेने का अधिकार उसी को था जिसकी क्षति पहुँची हो। बाद में समूचा वर्ग ऐसे पुण्यकार्य में भाग

---

१. See Westermark.

लेता था। कुछ दण्ड ऐसे थे जिसमें सब लोग आसानी से भाग ले सकते थे जैसे ढेले की चोट से (पत्थर फेंक फेंक कर) मार डालना। वध की दशा में ख़ून चख लेने से ही सबका शरीक़ होना मान लिया जाता था। हेलेंगे जाति की जो प्रथा हम ऊपर लिख आये हैं, वही इसका पर्याप्त प्रमाण देती है ।

दीक्षा

एक बात ख़ास तौर से ध्यान में रखनी चाहिये। जब पहले "कुटुम्ब" तक ही समाज सीमित था, अपने कुटुम्ब में बिरले ही हत्या होती थी। यही बात वर्ग के लिये लागू थी। पर हरेक जाति तथा वर्ग का दूसरे वर्ग तथा जाति से प्रायः झगड़ा रहा करता था। अतएव एक दूसरे के गिरोह से लड़ाई, झगड़ा, हत्या आदि हुआ करती थी। इसीलिये प्रतिशोध भी भयंकर होता था। हर जाति में प्रतिशोध लेने वाले या पकड़े जाने पर यातना सहने में पटु साहसी वीर तैयार किये जाते थे। ऐसे वीरों की बाक़ायदा दीक्षा होती थी और एक बार दीक्षित हो जाने के बाद वे "उच्च कुल" के यानी "कुलीन" बन जाते थे। इन दीक्षाओं का वर्णन पढ़ कर पाठकों को रोमाञ्च हो आयेगा। मानव भी कितना क्रूर है ! कितना निर्दय तथा कितना बड़ा राक्षस है ?

उत्तरी अमेरिका में मण्डन जाति में दीक्षा देने की भयानक विधि थी। दीक्षा का अभिलाषी युवक समूची मण्डली के बीच में खड़ा कर दिया जाता। पुरोहित एक तेज़ चाकू लेकर मन्त्रोच्चार करते हुये कन्धा, हाथ, जङ्घा, पैर आदि में एक एक इञ्च गहरा सूराख़ बनाकर कीलें ठोकते जाते थे। इन कीलों में जाति के प्रमुख लोग अपनी ढाल तलवार, भाला आदि टाँग देते थे। उन्हीं कीलों में रस्सी बांध दी जाती और उस आदमी को घसीटा जाता था। इसके बाद दो पहलवान उन्हीं कीलों को पकड़कर उस

बहादुर को उठाकर उसे चक्कर कटाते। इतनी भयंकर यातनाओं के बाद वह युवक दीक्षित होकर, कुलीन बन जाता।

आमाज़ोनियनों की एक जाति में जिसका नाम मन्द्रूक था, दीक्षा के अभिलाषी युवकों के दोनों हाथों में दस्ताने के क़िस्म की चीज़ कसकर पहना देते और बांध देते थे। दस्ताने पहन कर उसे ग्राम भर में नाचना पड़ता था। तब दीक्षा समाप्त होती थी। पर दस्ताने पहनना हँसी खेल नहीं था। उसके भीतर बिच्छू, बर्र, भौंरा, गोजर, यानी काटने वाले सभी कीड़े मकोड़े भर दिये जाते थे। उनके काटते या डङ्क मारते रहने पर अनायास आदमी नाचता रहेगा। निस्सन्देह ऐसी दीक्षा के बाद आदमी सब कुछ सह सकता है।

प्रतिशोध की विभीषिका

कुलीन अपराधी के लिये ऊँचे दर्जे की यातना होती थी। पेरु में कुलीन बन्दियों के शरीर में से पत्थर के चाकू से मांस के टुकड़े खरोंच या छील लिये जाते। नर-नारी उसके रक्त में उँगली डुबोकर अपने मस्तक में लगा लेते थे। मेक्सिको में हरेक बन्दी को बलिदान के पत्थर पर चित लिटा देते थे। पुरोहित लोग उसका हाथ पैर कसकर पकड़ लेते थे। जल्लाद तेज़ छुरी से उसका कलेजा चीर देता था और गरम गरम धधकता हृदय (दिल) निकाल लेता था।

सैंडविच टापू में बन्दी को चित्त लिटा कर, लकड़ी के मुँगरे से तब तक मारते रहते थे जब तक जीवन न समाप्त हो जावे। अमेरिका की आदिम जाति चोकतावा वर्ग में बन्दी को गले तक की अंगूर की लता से बांध देते थे। उसे पहले एक दम नङ्गा कर देते थे। फिर बांधते थे। लता का एक सिरा किसी दूर खम्भे से बांध दिया जाता था। इस प्रकार उस आदमी को

भाग-दौड़ करने का भी मौक़ा मिलता था। तब उसके ऊपर जलती हुई मशालें लेकर औरतें टूट पड़ती थीं। वह चीख़ता था, चिल्लाता था, औरतों को काट भी लेता था। गोल की गोल, झुण्ड की झुण्ड औरतें उस पर हमला करती थीं। जब उसका शरीर आधा जल जाता तो इस भय से कि वह कहीं जल्दी मर न जावे तथा खेल जल्दी ख़त्म न हो जाय, उस पर पानी डाल दिया जाता था और फिर हमला शुरू होता था। शत्रु से इस प्रकार का प्रतिशोध लेने की प्रथा अभी तक किसी न किसी रूप में क़ायम है। अमेरिकन इतिहासकारों का कहना है कि १९वीं सदी में उत्तरी अमेरिकन जङ्गलियों में यातना देकर शत्रु को मारने की प्रथा ख़ूब प्रचलित थी। सन् १८४६ से १८५२ के बीच में कम से कम २०० गोरों को बहुत तड़पा तड़पा कर मारा गया था। उनको पेड़ में बांध दिया जाता और रोज़ शरीर का एक एक अङ्ग काटा जाता था।[1]

इन बातों को पढ़कर अनायास विश्वास नहीं होता कि मानव स्वभाव कैसा हो सकता है। इतना निर्दयी हो सकता है। क्रूर प्रथाओं में मनुष्य को विचित्र आनन्द मिलता है। मुसलमानों की ख़तना-प्रथा यानी लिंग का ऊपरी चमड़ा काटने का अवसर बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है। हिन्दुओं में वैष्णवों के एक सम्प्रदाय में विष्णु छाप दाग देने की प्रथा या गोरख पंथियों की कान फाड़ देने की रीति—इनका धार्मिक रूप जो भी हो पर कष्ट तो होता ही है। पर प्राचीन मनुष्य इन चीज़ों को यदि देखता तो बच्चों का खेल समझता। ख़तना उतनी कष्टदायक चीज़ नहीं है। उसका एक धार्मिक महत्व भी हो सकता है जैसा हिन्दुओं में कर्ण-छेदन। पर प्राचीन मानव कुमारी

---

1. History of Tortures throughout the Ages—By George Ryley Scott. देखिये Method of Tortures.

कन्याओं की अक्षत योनि की झिल्ली फाड़ने की बड़ी ही दर्दनाक प्रथा चला चुका था। झिल्ली फाड़ने की पूरी क्रिया का हम यहां वर्णन नहीं करना चाहते। आमोज़ोनियन जाति (अमेरिकन) में यह बड़ी व्यापक रीति थी।

बलि की विभीषिका

अस्तु, हमने ऊपर बलिदान का ज़िक्र किया है। समाज में देवताओं का जन्म होते ही मनुष्य जो कुछ अपने लिये करता था वह देवताओं के लिये करने लगा। हिन्दू-मुस्लिम हरेक ग्रन्थ में बलिदान के विषय में कथायें भरी पड़ी हैं। सब से प्रिय वस्तु अपनी सन्तान होती है। जब कोई महापुरुष अपने लड़के का बलिदान करने चलता था तो आकाशवाणी होती थी और नर के स्थान पर पशु-बलि कर दी जाती थी। यहूदी धर्म की घटना भी प्रसिद्ध है कि अब्राहम अपने लड़के का बलिदान करने जा रहे थे पर यहोवा ने आदेश देकर रोक दिया और भेंड़ा का ही बलिदान कर देने की सलाह दी। अब्राहम ने भेंड़ा को बलि पर चढ़ा दिया। हिन्दू-मुस्लिम बलि प्रणाली पर हम यहां विचार नहीं करना चाहते। सभ्यता के काफ़ी विकास के बाद इन चीज़ों का भी विधान तथा विज्ञान बना है। यहां पर हम तो केवल प्राचीन या अर्द्धसभ्य काल की बातों पर ही विचार कर रहे हैं।

बलिदान की वस्तु को तब भी खाते थे, अब भी खाते हैं। जब नरबलि होती थी तो बलि किया हुआ आदमी खाते थे। शायद तभी से आदमी ने आदमी को खाना सीख लिया। उसके मुख में नर-रक्त लग गया। केवल घृणावश ही आदमी का मांस नहीं खाया जाता था। प्रेम तथा श्रद्धा के वश भी ऐसा होता था। शत्रु पक्ष के देवताओं का बलिदान होता था। मित्र-पक्ष के देवताओं की संतुष्टि के लिये स्वयं उनका ही बलिदान कर दिया जाता

था। देवता तो मिलते न थे इसलिये उनके स्थान पर नर की या पशु की बलि होती थी और ऐसा प्रसाद कौन ग्रहण करना नहीं चाहेगा। बलिदान के लिये अपराधी को देवता का प्रतीक बना लिया जाता था। फ्रेज़र ने अपनी पुस्तक में[1] ऐसी अनेक जातियों का वर्णन किया है जिसमें देवताओं की बलि होती थी। फ्रेज़र का यह भी कथन है कि प्राचीन काल में भूमध्य सागर से प्रशांत महासागर तक की प्रायः सभी जङ्गली जातियों में अपराधी को देवता का प्रतीक बनाकर बलिदान करने की प्रथा थी। देवता के बलिदान में पहले यह भावना हो सकती होगी कि उसके दैवीपुत्र की बलि दी जावे यानी समाज के जिस व्यक्ति में उसका अधिकतम विकास प्रतीत हो, वह बलि चढ़ जाय। पर बाद में यह सोचा गया होगा कि अपराधी की ही बलि कर दी जाय तो एक पंथ दो काज हो जावेगा। बलि भी हो जायगी तथा अपराधी का पाप भी धुल जायगा। यानी, प्रायश्चित्त की भावना भी आ गई। या, ऐसा भी रहा होगा कि अपराध करने के कारण अपराधी को देवता के पास भेज देना ज़रूरी हो। या, जैसा कि कुछ लेखकों का कहना है, अपराधी को भी देवता से भिन्न नहीं मानना चाहिये, उसमें भी ईश्वर की सत्ता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन था। यह एक मनोवैज्ञानिक पहेली अवश्य है। प्राचीन काल में राजा ही ईश्वर का प्रतीक होता था। इसलिये फ्रेज़र के कथनानुसार राजा का भी बलिदान हो जाता था। रोम का 'सैटरनालिया' यानी "शैतान-उत्सव" तथा बैबीलोन का "साकिमा" भी इसी प्रकार की चीज़ थी। किसी अपराधी को "राजा शनि" की उपाधि देकर कई दिन तक राजसी ठाठबाट में रखा जाता। वह जो चाहता आज्ञा देता, खा-पी सकता था, आनन्द-उल्लास कर सकता

---

१. Frazer-The Scapegoat, 1920, पृष्ठ १५५. ४०८.४०९

था। इसके बाद उसकी हत्या की जाती थी—बलि की जाती थी। इसी प्रकार बैबीलोन में बलि पर चढ़ाये जाने वाले अपराधी को जोगानीज़ का खिताब मिलता था। उसे राजसी ठाठ में सजाया जाता था और उसे राजा की रखेलियों के उपभोग का भी अधिकार होता था। कई दिन तक खूब राग रङ्ग करने के बाद उसे नङ्गा करके, भालों से घायल करके पेड़ में लटका दिया जाता था।

बलिदान के विषय में विचित्र धारणायें थीं। उनका विचित्र महत्व था। उत्तरी यूरोप के स्कैंडिनेवियन देवता ओडिन[1] से स्वेडेन के नरेश ओऊन ने दीर्घ जीवन की याचना की और देवता को प्रसन्न करने के लिये अपने नौ लड़कों का बलिदान कर दिया। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये नौरवेजियन नरेश (नारवे के राजा) अर्ल हॉकन ने अपने लड़के को बलिदान चढ़ा दिया। फ़ोयनिशियन लोग शनि भगवान की प्रसन्नता के लिये अपने लड़कों का बलिदान करते थे। मैक्सिको के एक नरेश प्रति वर्ष अपने देवता की सन्तुष्टि के लिये पाँच हज़ार बन्दियों का बलिदान करते थे। प्रसिद्ध लेखक मांटेन का कथन है कि यूनानी शासक एमूरथ ने अपने पिता की दिवंगत आत्मा की सन्तुष्टि के लिये ६०० यूनानी युवकों का बलिदान किया था।

पिता पुत्र

देवता का प्रतीक बनाकर अपराधी की बलि का गूढ़ मनोवैज्ञानिक अर्थ भी हो सकता है। प्राचीन भावना तो यह थी कि दण्ड देने के बाद प्रतिशोध या प्रायश्चित्त के उपरान्त अपराध से छुट्टी मिल जाती थी। मृतक की आत्मा का कोप भी ठण्डा हो जाता था। इसलिये अपराधी ने वास्तव में समाज का पाप अपने सर पर लेकर उसे दोष से मुक्त कर दिया। उसने समाज की रक्षा

१. Scandinavian God Odin.

की। उसे पाप-मुक्त कर दिया। रूसी उपन्यासकार श्री दास्तावस्की ने अपराधी का ऐसा ही चित्र खींचा है। बर्नाडशॉ ने तो उसे "लिबरेटर" यानी "स्वतन्त्र करने वाला" कहा है। अतएव ऐसा पवित्र काम करने वाला देवता का प्रतीक है ही।

हमने ऊपर वेस्टरमार्क के सिद्धान्त का ज़िक्र किया था। अरब लोगों द्वारा ऊँट के भोग का उत्सव बतलाया था। उसी सिलसिले में हमने समझाया है कि आदि काल में पुत्रों ने पहली हत्या की अपने पिता की—क्योंकि उसके रहते उनको किसी स्त्री के साथ संसर्ग करने का भी अधिकार न था। प्राचीन काल का पिता प्रेम तथा भय दोनों का प्रतीक था। प्रेम तथा भय का प्रतीक परमपिता ईश्वर भी है। मानव ने अपने पिता को मारा—इस लिये कि वह अधिक से अधिक सांसारिक सुख बिना किसी बंधन के भोग सके। आज भी तो मानव वही कर रहा है। वह सभ्यता की चकाचौंध में ईश्वर को मारता चल रहा है। ईसा मसीह "दैवी पुत्र" को तख्ते में जड़ कर मार दिया गया क्योंकि वे समाज को उसकी दुष्टता से दूर रखना चाहते थे। और, उनके साथ चोरों को भी उसी ढङ्ग से मार दिया गया। पर ईसा ने कहा था कि "मैं संसार का तथा समाज का पाप लेकर जा रहा हूँ।" क्या चोरों की आत्मा ने भी यह नहीं कहा होगा। क्या हरेक अपराधी या मृत्यु के हवाले किया जाने वाला व्यक्ति, स्वयम् चाहे कहे या न कहे,पर वास्तव में वह समाज के अपराध का प्रायश्चित्त नहीं कर रहा है! क्या शुरू में जिस स्वार्थ के कारण समाज ने अपने पिता की—अपने प्रधान की हत्या की आज तक उसी स्वार्थ के कारण वह हरेक की हत्या नहीं कर रहा है या नहीं करना चाहता! क्या आज हम परमपिता की हत्या नहीं करना चाहते ? क्या हम प्राण-दण्ड देकर अपने प्रारम्भिक स्वार्थी जङ्गलीपन को नहीं प्रमाणित कर रहे हैं ?

समाज का विकास धार्मिक भावना को लेकर हुआ है। आज भी हमारे मन के अन्तरतम में यह धार्मिक भावना छिपी हुई है। जो पहले धर्म के नाम पर होता था, आज देश के नाम पर होता है पर द्वेष तथा हिंसा के भीतर धार्मिक उन्माद ही भरा रहता है। यही बात जनता और नेता के सम्बन्ध में या धर्म के विरुद्ध कम्युनिस्ट क्रान्ति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हम ईश्वर को भले ही सामने से हटा दें पर वह व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आ जाता है। भगवान की पूजा न की, व्यक्ति की पूजा होगी।

जाति का स्वार्थ

धार्मिक बलिदानों से स्वार्थ-पूजन भी होने लगा। नर मांस जब ज़बान पर लगा तो तरह तरह की प्रथाओं द्वारा उसका सेवन होने लगा। लेखक सेलिगमान ने ब्रिटिश न्यूगाइना की मेलानेशियन जाति की प्रथा बतलाई है जिसमें डाँका डालने वाले अपराधी को पका कर खा जाते थे और यदि स्त्री पकड़ी जाती थी तो उसे अपने यहां रख लेते थे। उन्होंने ऐसे ही एक दृश्य का वर्णन किया है। एक पुरुष और स्त्री पकड़े गये। स्त्री का नाम था बौंदियारी तथा पुरुष का केवड़ी। "दोनों एकदम नङ्गे कर दिये गये। उनके नाम तथा अपराध सुना दिये गये तथा यह बतला दिया गया कि किस प्रकार वे पका कर खाये जावेंगे। मर्द तो शान्त खड़ा रहा। औरत बहुत चीखती रही और भागने का प्रयत्न करती रही। जब मैवारा लोगों ने केवड़ी को पका कर खा लिया तब सब लोग अपनी-अपनी झोपड़ियों में चले गये। लड़की को ज़रा भी तङ्ग नहीं किया गया। उसे जाति में रख लिया गया। तौमानिया नामक व्यक्ति ने उसे रख लिया।······नर मांस की दावतें होती थीं पर यह ध्यान रखने की बात है कि सभी क़ैदी

नहीं मारे जाते थे। जितनी हत्या से जाति की क्षतिपूर्त्ति हो जावे तथा हानि पहुँचाने वाली जाति से बदला पूरा हो जावे, उसके बाद के बचे लोगों के साथ बड़ी शिष्टता तथा सौजन्य का बर्त्ताव होता था। स्त्रियों के साथ कभी दुर्व्यवहार नहीं होता था। उनको जाति में मिला लिया जाता था।"[१]

प्रतिशोध का यह दूसरी ही रूप हुआ—अपनी जाति में मिला कर अपनी कमी पूरी करना। यह प्रथा भी चल पड़ी थी कि हत्या करने वाला अपना परिवार छोड़कर जिसकी हत्या की गई है उसके परिवार में चला जावे और घाटा पूरा करे। अल्जीरिया के कबायलियों में यह नियम था कि जिसने बिना इच्छा के किसी को मार दिया हो, वह मारे गये व्यक्ति के अभिभावकों के पास जाकर कहेगा कि—"यदि आप चाहें तो मुझे मार डालें अन्यथा आज से मैं आपकी सन्तान बनने को तैय्यार हूँ।"आज सभ्यता इस प्रथा को जङ्गली कह सकती है। पर चार-पाँच हजार वर्ष पहले के लोग निस्सन्देह हमसे कहीं ज्यादा बुद्धिमान थे। हत्या का यह कितना बड़ा प्रायश्चित्त है—प्रतिदान है। क्या ऐसी भावना फिर नहीं आ सकती!

किन्तु हत्या या बलिदान या प्राणदण्ड–इनके भीतर प्रेम तथा स्नेह का पुट तो बहुत ही थोड़ा या बिरला होता है। वास्तविक चीज है घृणा तथा द्वेष। इनका सम्बन्ध देवता से न होकर शैतान से है। यहां उसी का राज्य है। उसी का क्षेत्र है। पुराने जमाने में हर प्रकार के देवता होते थे। प्रेम तथा सुख के देवता तथा घृणा तथा दुःख के देवता भी।

---

१. C. A. Seligman—"The Melanesians of British New Guinea"—(pub. 1910)Page 554.

२. Westermarck, Vol I. Page 484.

राग–द्वेष

यह कहना बड़ा कठिन है कि संसार में मनुष्य ने पहले प्रेम करना सीखा या घृणा करना। पश्चिमी पण्डितों ने इस पर जो प्रकाश डाला है, वह अधिकांशतः भौतिक है। कुछ ऐसा लगता है कि वे मानव के मन में घृणा तथा द्वेष को अति बलवान तथा प्रबल ही नहीं समझते हैं, उसको अन्तर्निहित भी मानते हैं। कांट ऐसे मनोविज्ञान पण्डित ने यह सलाह दी थी कि यदि समाज को सब बन्धन से मुक्त करके उसका विघटन किया जावे तो ऐसा करने के पूर्व जो "अन्तिम हत्यारा" जेल में हो, उसे सूलीपर चढ़ाकर तब इस कार्य को करना चाहिये अन्यथा इस विघटन का नैतिक तथा न्यायिक महत्व ही नहीं रह जावेगा।[1] कांट ऐसे नैतिक-शास्त्र पण्डित का मन में ऐसी घृणा लेकर चलना आश्चर्य की बात नहीं है। यही दोष प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड में भी था।[2] फ्रायड तो 'घृणा' को आदि कालीन तथा भौतिक, प्रारम्भिक तथा तात्विक भाव मानते हैं। आज जिस 'घृणा के वशीभूत होकर हम प्रतिहिंसा करते हैं, चींटी को मारने से लेकर दूसरे राज्य तक को तबाह कर डालते हैं, समाज में आर्थिक तथा राजनैतिक क्रान्ति करते हैं, उसी घृणा को फ्रॉयड 'प्रेम' या 'ममता' से भी पुरानी मानते हैं। उन्होंने यहां तक कह दिया है कि—"चित्त के भीतर बैठा अहंभाव घृणा करता है, द्वेष करता है तथा उन सभी चीजों का पीछा करके उनको नष्ट कर डालना चाहता है जिनसे उसको कुछ पीड़ा का अनुभव होता है। वह यह नहीं सोचता कि यह पीड़ा कामुक-वासना की तृप्ति में बाधा के कारण या

---

१. The Metaphysics of Ethics—Kant

२. Instincts and their Vicissitudes, (London) ,1934 By Freud Vol. IV.

आत्म-रक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति में रुकावट के कारण पैदा हुई है।" वे पुनः लिखते हैं कि "किसी वस्तु के प्रति घृणा की प्रतिक्रिया, प्रेम की प्रतिक्रिया से अधिक पुरानी है।" अंग्रेज मनोवैज्ञानिक अर्नेस्ट जोन्स का नाम आज काफ़ी प्रसिद्ध है। वे भी फ्रॉयड की हाँ में हाँ मिलाते हुए "उत्कण्ठा, घृणा तथा दोष की भावना" पर बहुत कुछ प्रकाश डाल गये हैं। विलहेल्म राइख[1] नामक जर्मन विद्वान ने स्वीकार किया है कि व्यक्ति के मन की मांग की पूर्त्ति में लेशमात्र भी बाधा पड़ने पर घृणा का भाव होना स्वाभाविक है। परन्तु अर्नेस्ट जोन्स साफ़ कह देते हैं कि "बच्चे में घृणा की जो प्रारम्भिक भावना पाई जाती है वह उसकी इच्छाओं की अस्वीकृति के प्रति उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।"[2]

जिस घृणा और प्रेम का हमने ऊपर ज़िक्र किया है उसको हमारे शास्त्रकारों ने "राग-द्वेष" के सारगर्भित शब्दों में समझाया है। यहां पर हम दर्शनशास्त्र का विवेचन नहीं कर रहे हैं अन्यथा हम प्रसिद्ध भारतीय विद्वान डा० भगवानदास के "भाव-विज्ञान"[3] के अति रोचक उदाहरण देकर राग और द्वेष का असली पहलू उन्हें समझाते। भावों की मीमांसा पर ही मानव का बन्धन और मोक्ष निर्भर करता है। भाव का स्रोत मन है। हमारे शास्त्रकार मन को ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण मानते हैं।

१. Wilhelm Reich—सन १९२५ में प्रकाशित जर्मन पुस्तक।
२. Papers of Psycho-Analysis-By Ernest Jones.
३. Science of Emotions-By Dr. Bhagwan Das.

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः

यदि मानव के मन में पहले-पहल घृणा का उद्रेक हुआ तो निस्सन्देह अन्त तक वह अपनी घृणा और द्वेष में लगा-लिपटा सिसकता तथा तड़पता रहेगा। उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं हो सकता। घृणा या द्वेष की बात तो दूर रही, हम तो राग और द्वेष दोनों को बन्धन का कारण मानते हैं। चित्त से राग तथा द्वेष दोनो जब निकल जाते हैं तब भगवान कृष्ण के शब्दों में मनुष्य "स्थित-प्रज्ञ" हो जाता है। राग तथा द्वेष से अपने चित्त को मोड़ लेने का नाम ही पतञ्जलि ऋषि ने "योग" बतलाया है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" तो फिर हमारा दर्शन घृणा को या द्वेष को मानव का आदि भाव कैसे मान सकता है। जब हम कहते हैं कि "सब कुछ त्याग देना ही संसार के बन्धन से छुटकारा पाना है" तो हम संसार को एक बड़ा भारी उपदेश दे रहे हैं। प्रसिद्ध जर्मन उपन्यासकार गेटे ने अपने एक प्रसिद्ध उपन्यास में लिखा है कि "हमारी शारीरिक तथा सामाजिक जीवनी, रीति रिवाज़, स्वभाव, सांसारिक ज्ञान, दर्शन, धर्म तथा साथ ही नित्य की होने वाली अनेक अघटित घटनायें हमें उपदेश देती हैं कि सब कुछ त्याग दो, छोड़ दो।"

अहंकार

किन्तु छोड़ने की वस्तु या ऐसी वस्तु जो सब पापों के मूल में है, वह है "अहङ्कार" जिसका ज़िक्र हमने ऊपर "अहंभाव" की संज्ञा में किया है। यह अहंकार ही समूची विपत्ति की जड़ है। हिब्रू, ईसाई या इस्लामी सभी मजहबों ने बतलाया है कि ईश्वर ने रचना के आदि काल में दैवी मनुष्य बनाये। इनमें सब से प्रमुख थे अज़ाज़ील। उनमें यकायक अहंकार—अस्मिता का, का भाव पैदा हुआ। बस, वे ख़ुदा से जुदा हो गये। उन्हीं

को शैतानों का राजा कहा जाता है। वही महाशय ईश्वर के प्रतिद्वन्दी "सैटन" या हजरत शैतान हैं। उन्हीं हजरत ने मनुष्य के स्वभाव को गन्दा किया है। इस प्रकार आदि रचित मनुष्य के स्वभाव के दो टुकड़े हो गये। दैवत्व तथा राक्षसत्व, खुदा-परस्ती तथा शैतानियत या ईश्वर से प्रेम कराने वाला इश्क़-हक़ीक़ी या उससे दूर हटाने वाला इश्क-मजाज़ी! प्रथम से लज्जतुल इलाहिमा प्राप्त होता है। ब्रह्मानन्द मिलता है। चीन के दर्शन शास्त्रियोंके चु-हि नामक सम्प्रदाय ने इसी आनन्द को, ब्रह्मानन्द को "रियोची" के नाम से सम्बोधित किया है। इस शुद्ध भाव की ओर ले जाने वाला मन ही, जरथस्त्र मत के अनुसार "स्पेन्ता मैन्यू" है और बुराइयों की ओर ले जाने वाला मन "अंग्रा मैन्यू" है। पारसी धर्म के अनुसार पूर्ण पुरुष तथा भगवान अहुरमज्द से अरमुज्द (श्वेत-स्पेन्ता मन) तथा अहिर्मान (अश्वेत=अंग्रा मन) का आविर्भाव हुआ है। इसी विभाजन को "बहिश्तोमनो" और "अचिश्तो – मनो" (शुद्ध तथा अशुद्ध मन) कहा गया है। इसी को अंग्रेज़ी में Love and Hate कहा गया है[1]।

हमने जिस प्रेम और घृणा का जिक्र किया था, उसी का ऊपर लिखा अन्य धर्मों में स्वरूप भी हमने बतला दिया। हमारे धर्मशास्त्रों में इसी को इच्छा या राग तथा द्रोह या द्वेष कहा है। हमने जिस अर्थ में घृणा शब्द का उपयोग किया है, उसका शास्त्रीय उपयोग द्रोह है। आगे चलकर हम द्रोह तथा घृणा दोनों शब्दों का उपयोग करेंगे। समझने में सरलता के लिये हमने पहले द्रोह का उपयोग नहीं किया था। अस्तु, आदि काल से हो मन के दो रूप या दो अङ्ग हैं, शुद्ध और अशुद्ध। क़ुरान शरीफ़ में वर्णित दो देवदूत इन्हीं के द्योतक हैं—हारुत और मारुत।

1. Essential Unity of all Religions—By Dr. Bhagwan Das, 1st. Edition, 1939. Page 357.

अशुद्ध मन के कारण ही कामनायें तथा संसार के अनेक कष्ट और पाप उत्पन्न होते हैं। शास्त्र-वचन है:—

मनस्तु द्विविधं प्रोक्तं, शुद्धंचाऽशुद्धमेव च।
अशुद्धम् कामसंकल्पम्, शुद्धम् काम विवर्जितम्॥

राग-द्वेष समान

यहाँ पर एक सफ़ाई और दे देना आवश्यक होगा। शुद्ध-चित्त को राग-मय तथा अशुद्ध को द्रोह-मय मानना भारी भूल होगी। ऊपर हम "दो अङ्ग" बतलाते हुये राग-द्वेष को दो पृथक् वस्तु बतला चुके हैं। पर हमारे हिन्दू दर्शन में, साथ ही अन्य धर्मों में भी राग-द्वेष को एक ही वस्तु माना गया है। मनुष्य को यह दोनों भाव अहंकार या अस्मिता के कारण, "मैं हूँ" की हेय भावना के कारण प्राप्त होता है। यदि वह किसी वस्तु से द्रोह करेगा तो अनायास किसी से राग भी करेगा ही। अतएव ये दोनों भाव समकालीन हैं, सहज हैं,एक साथ पैदा होते हैं। फ्रायड तथा कांट ऐसे मनोविज्ञान के पण्डितों ने द्रोह या घृणा को प्राथमिकता देकर समूचे अपराध-विज्ञान को एक प्रकार से स्वाभाविक या दैविक स्वीकृति प्रदान कर दी है। पर, यदि मनुष्य ने पहले घृणा या द्रोह से जीवन प्रारम्भ किया तो ऐसी भावना के उत्पन्न होने का कारण क्या था! क्या हम यह नहीं मान लेंगे कि "अपने में अहंकार की भावना की प्रचुरता के कारण" उसे अपने से अत्य-धिक ममता थी। राग था। उसी राग की प्रतिक्रिया थी अपने प्रति ज़रा भी भयास्पद वस्तु के प्रति घृणा या द्रोह! आदि कालीन पुरुष के समान स्वभाव हमारे उस छोटे बच्चे का भी है जो अपने इतर संसार में और कुछ नहीं समझता। चोट लग जाने पर वह दीवाल को भी चपत मार देता है। या छोटे बच्चे को जब पिता की थप्पड़ लगती है तो वह उसके थप्पड़ का जवाब

न दे सकने के कारण प्रतिहिंसा के आवेग में अपनी छोटी बहिन को पीट देता है ![१] इसलिये द्रोह का भाव पहले-पहल मन में आया, यह कैसे मान लिया जावे ! मानना तो यह चाहिये कि मानव में अहंकार का उद्रेक होते ही सबसे पहले ममता या राग का आविर्भाव हुआ। यह राग ही इच्छा है। सम्पूर्ण कार्यों का आधार, स्रोत या उद्गम है। यह राग-द्रोह अथवा अस्मिता से ही संसार का समूचा व्यवहार, आचार, पाप, चोरी, डकैती, हत्या तथा संहार प्रारम्भ होता है। इसी से मानव दानव बन जाता है।

प्रारम्भ में, रचना के समय मानव के भाव परमशुद्ध रहे होंगे। शुद्ध से अशुद्ध भाव का जन्म हुआ। उपनिषद् वाक्य है कि— "यद्देवा अकुर्वंस्तद्दैत्याऽभिद्रुत्य पापमनाऽविध्यान—" देवताओं ने जो कुछ बनाया उसे दानवों ने अपने पाप से दूषित कर दिया। अतएव संसार में कोई भी वस्तु गुण-दोष रहित नहीं है। आदि शंकराचार्य ने संसार के हरेक सजीव पदार्थ में गुण-दोष का होना स्वाभाविक तथा प्राकृतिक माना है। अर्थात् अहंता, अस्मिता—अहंभाव—अहंकार के साथ इनका लगा लिपटा होना स्वाभाविक है।

सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में वैदिक, तांत्रिक, सांख्य आदि के सिद्धान्तों का बड़ा सुन्दर विवेचन डा० सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी एक अंग्रेजी पुस्तक में किया है। तांत्रिक मत के अनुसार शून्य (आकाश) से नाद, नाद से बिन्दु हुआ। नाद तथा बिन्दु से "सदाशिव" का रूप बना।[२] उन्हीं से विद्या उत्पन्न हुई।

❀Society and Its Criminals—By Paul Reiwald, 1949—Page 256.

२. Cosmogony in Indian Thought—By Dr. Sampurnanand. 1942—Page 7, 8, 13, 14, 15.

विद्या से माया का आविर्भाव हुआ। हम डा० सम्पूर्णानन्द जी के विचारों के सहारे यह क्यों न कह दें कि यही विद्या वह शुद्धचित्त है जिसका हमने ऊपर विवेचन किया है और माया ही अशुद्ध चित्त है। माया से राग-द्वेष या द्रोह यानी प्रेम और घृणा पैदा हुई। हमारे शास्त्रों के अनुसार, अहंकार की जननी बुद्धि पैदा हुई। बुद्धि ने अहंकार को जन्म देकर राग-द्वेष को उत्पन्न कर दिया। जिसमें अहंकार होता है उसमें अविद्या होती है। अविद्या से ही काम संकल्प होता है। इस संकल्प के सम्बन्ध में उपनिषद् वाक्य हम ऊपर दे आये हैं। काम-संकल्प से तीन कामना—एषणा यानी इच्छा उत्पन्न होती है। उपनिषदों में इनको लोकैषणा (आहार संज्ञा), वित्तैषणा (परिग्रह-संज्ञा), तथा दार-सुतैषणा (मैथुन संज्ञा) कहा है; यानी, भोजन की इच्छा, धन या भूमि संग्रह की इच्छा तथा रतीच्छा यानी मैथुन की इच्छा।[1] आदि कालीन मानव को भोजन करने की प्रेरणा हुई, फिर भोजन की सामग्री के संग्रह की प्रेरणा या इच्छा हुई। तब, उसके बाद उसमें मैथुन की इच्छा हुई। अब हम वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को मान लें कि प्राचीन पुरुषों ने देखा कि पिता या परिवार का प्रधान ही जाति की सभी स्त्रियों से भोग कर सकता था अतएव लड़कों ने मिलकर पिता को मार डाला। यह पहला बलिदान था। निस्सन्देह द्रोह या द्वेषवश था। पर भोजन, धन, पिता के प्रति ममता होने के बाद ही, राग तथा ममता के सब भावों के बाद ही ऐसा भाव उत्पन्न हुआ। इसका कारण अविद्या थी। किन्तु, पिता को मारते समय भी उसके प्रति राग अवश्य था। इसी राग को व्यक्त करने के लिये, आन्तरिक ममता का

---

१. पुरुषार्थ—ले० डा० भगवानदास, तीसरा संस्करण १९५३ पृष्ठ १७५

प्रतीक एक रीति निकली—वह है बलिदान के समय त्यौहार या उत्सव मनाने की। एक बार घृणा या द्रोह के भाव का संवरण हो जाने पर, उसका उद्वेग समाप्त हो जाने पर, मनुष्य की आन्तरिक ममता जाग उठती है। बलिदान के समय त्योहार मनाने की रीति से दो लाभ थे—समारोह के उमङ्ग में मनुष्य अपनी आंतरिक ममता का शिकार बनकर कठोर कार्य में दुर्बलता का अनुभव नहीं करता था तथा कठोर कार्य के बाद अपने द्रोह की प्रतिक्रिया में सबके प्रति प्रेम का प्रदर्शन कर सकता था।

आत्म-बलिदान

पश्चिमीय विद्वानों ने बलिदान का जो श्रीगणेश बतलाया है, वह हम भारतीयों के मन में शायद न बैठे। राग-द्वेष को समान तथा सहचर भाव मानने वाले को यह अधिक संगत जँचेगा कि अहङ्कारवश, अविद्या के कारण मानव ने जब अनेक अनाचार तथा पाप किये होंगे तो विद्या की तनिक आभा पाने पर उसे अपने प्रति बड़ी घृणा या ग्लानि हुई होगी। अतएव उसने आवेश में स्वयं अपने हाथों अपना बलिदान करके अपने पापों का प्रायश्चित्त कर लिया होगा। उसने अपना यह बलिदान अपने देवता के सामने किया होगा। बाद में अपने स्थान पर पशु की बलि चालू हो गई होगी। जब मनुष्य में स्वयं अपने आप अपना प्रायश्चित्त करने की नैतिक शक्ति न रही होगी तो समाज ने उसे जबरदस्ती पकड़ कर उसकी बलि करना शुरू किया होगा। सम्भव है कि वर्त्तमान प्राणदण्ड की प्रथा का यही प्रारम्भ था।

हमें ऐसा लगता है कि हम अपने मूल विषय से दूर होते जा रहे हैं। दार्शनिक विवेचन के चक्कर में हम नहीं पड़ना चाहते थे पर बिना दर्शनशास्त्र की शरण लिये ठोस मनोवैज्ञानिक

विवेचन हो नहीं सकता। बिना विद्या और माया को समझे राग द्वेष की पहेली नहीं सुलझ सकती। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि हरेक प्राणी में एक उच्च "स्व" तथा एक नीच "स्व" होता है। उसके व्यक्तित्व के दो रूप होते हैं। एक उसका दैवी यानी दयालु रूप होता है। दूसरा दानवी यानी क्रूर–कठोर–राग–द्वेषी रूप होता है। संस्कार तथा संस्कृति के अभाव में नीच-स्व अधिक प्रबल बनकर मानव को अन्धा बनाये रहता है। ज्यों ज्यों संस्कार शुद्ध होते जाते हैं, कवि गेटे के अनुसार "त्याग दो" की भावना पैदा होती है। अँग्रेजी उपन्यासकार स्टेवेंसन का "डा० जेकिल एण्ड मि० हाइड" नामक उपन्यास में एक ही मनुष्य अपनी क्रूर वासनाओं से मुक्ति के लिये तड़फड़ाने लगता है; निर्दयतापूर्वक लोगों की हत्या कर माल लूट कर वह डाँकू ग़रीबों में लूट का माल बाँट देने की क्रिया द्वारा हत्या तथा लूट की प्रवृत्ति से छुटकारा पाना चाहता है।

दानवी-देवता

प्राचीन युग के मानव में बुद्धि का राग-द्वेष तथा नीच "स्व" अधिक प्रबल रहा होगा। प्रकृति के उपद्रवों ने उसे यह कटु शिक्षा दी होगी। मनुष्य के वश के बाहर ऐसी शक्तियाँ हैं जो उसे पीड़ा पहुँचाती हैं। इसलिये उसने "पीड़ा पहुँचाने वाले" देवताओं की कल्पना की। उसके आदि देवता प्रेम तथा दया की मूर्त्ति नहीं थे। दु:ख तथा पीड़ा देने वाले दानव थे। द्वेष तथा द्रोह या घृणा की प्रतिमूर्त्ति थे। भयवश इनकी पूजा की जाती थी। नीच "स्व" ने इन देवताओं को जन्म दिया था। नीच भावनाओं में ये पनपे थे। अतएव क्रूरता तथा कठोरता के देवता की क्रूरता तथा कठोरता से पूजा की जाती थी। इन देवताओं को वही भावना प्रदान कर दी गई जो मृतक के ज़िम्मे की गई थी—जिस अपार घृणा को लेकर

मर जाने वाला प्राणी समाज से बदला लेता था तथा जिसकी शान्ति के लिये अनेक प्रकार के समारोह तथा बलिदान होते थे, उसी का, उसी भावना का स्वामी नव-निर्धारित देवता बना दिया गया और वह मृतक की आत्मा का भी स्वामी बन गया। यहां तक पहुँच जाने के बाद प्राचीन समाज के लिये यह कठिन नहीं था कि वह अपराधी को भी अपने दानव देवता के जिम्मे कर दे। अपराधी में 'दैत्य' का 'दानव देवता' का वास हो सकता है, उसकी बलि से दानवी-देवता या भूत-प्रेत-पिशाच प्रसन्न किये जा सकते हैं। शैतान को खुश करने के लिये अपराधी शैतान को बलि पर चढ़ा देना बड़ी तर्कसङ्गत बात है। पैशाचिक भावनाओं के वशीभूत होकर आदमी अपराध करता है। अतएव उस अपराधी को उसी पिशाच के जिम्मे क्यों न कर दिया जाय! उस समय मानव समाज ने यह धारणा बना ली थी कि अपराधी का बलिदान उसी व्यक्ति के तथा समाज के हित में है, अतएव सर्वथा उचित है। आज तक दण्ड-विधान इस औचित्य को पकड़े हुये है। उसे स्वीकार करता है।[1] हजारों वर्ष पूर्व जिस राग-द्वेष की असंस्कृत भावना के कारण ऐसा बलिदान प्रारम्भ हुआ था, आज हम बैठकर यह सोचने के लिये तैयार भी नहीं हैं कि आखिर उस प्राणदण्ड की प्रथा के मूल में जो भाव था वह आज भी विद्यमान रह सकता है या नहीं। हमारे पुराने देवता भी उन्हीं भावों से परिपूर्ण हैं जिन के हम शिकार थे, यानी राग–द्वेष। उनके मन में भी क्रोध तथा प्रेम का सञ्चार होता था। अपराधी की बलि पाकर वह सन्तुष्ट होते थे। आज देवता का स्थान समाज ने ले लिया है। आज अपराधी का रक्त पीकर समाज तृप्त होता है। उसकी प्रतिहिंसक प्रवृत्ति को शान्ति मिलती है। प्रतिहिंसा का उत्तर वह प्रतिहिंसा से देता है।

---

1. Westermarck—Page 471–72.

प्रतिहिंसा

संसार में ऐसे कितने व्यक्ति हैं जिनके मन में प्रतिहिंसा की भावना न हो ! यह प्रतिहिंसा शुद्ध द्वेष से उत्पन्न होती है। दूसरे की आमदनी ज़्यादा देख कर डाह होती है। दूसरे की सन्तान को प्रगति करते देखकर अपने मन में चोट लगती है। दूसरे का स्वादिष्ट भोजन अपने मन को पीड़ा पहुँचाता है। माता अपने पुत्र को पत्नी-रत देखकर अपनी वधू से ईर्ष्या करती है। जो पढ़े-लिखे तथा शिष्ट होते हैं वे ऐसे भावों को दबा लेते हैं, इनको मन से हटाने का प्रयत्न करते हैं। जो गँवार होते हैं, उनका भाव प्रतिहिंसा के रूप में फूट पड़ता है। पढ़ा-लिखा आदमी अपनी क़लम को कुचल कर या दाँतों से अपनी उँगली काटकर अपना वेग दबा लेता है। बे-पढ़ा व्यक्ति अनायास किसी बहाने लड़ पड़ेगा। कुछ न करेगा तो रात को चुपचाप अपने 'शत्रु' का खेत काट डालेगा। राष्ट्रीयता की प्रबल भावना क्या दूसरे राष्ट्र के प्रति द्वेष तथा द्रोह नहीं है ? कम्यूनिज़्म का प्रचार क्या अभाव वाले का सम्पन्न व्यक्ति के प्रति घृणा का उद्रेक नहीं है ! ईश्वर के प्रति अश्रद्धा क्या ईश्वर से कुछ "न मिलने" के कारण नहीं पैदा हुई ! राजनैतिक आन्दोलन की जड़ में क्या अधिकारी के प्रति घृणा का परिमाण नहीं है ? यह तो मानव स्वभाव है कि अपनी कुप्रवृत्तियों को सुन्दर सामाजिक स्वीकृति दे दे। देशभक्ति तथा राष्ट्र की सेवा के नाम पर क्या क्या अनर्थ नहीं होते। कम्यूनिस्ट देशों में अनगिनत प्राणी केवल इसलिये मार डाले जाते हैं कि अधिकारी वर्ग उनको अपने स्वच्छन्द कार्यों में बाधक समझता है। पर, उनको मारने के समय ऐसी हत्या को राजद्रोह तथा "देश के लिये आवश्यक" घोषित कर दिया जाता है। ऐसी प्रतिहिंसा तथा उसके

मूल में बैठा राग-द्वेष भी समय काल पाकर भिन्न रूप में विकसित हो रहा है। समाज के साथ ही साथ उसका ढांचा भी बदल रहा है। जार्ज बर्नर्ड शॉ ने संसार में "रचनात्मक विकास" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।[१] उनका कहना है कि समाज ने भूल करते हुए, प्रयोग करते हुए, अभी तक प्रगति की है। तो फिर क्या समाज ने सब प्रयोगों के बाद अपनी प्रतिहिंसा पर नियंत्रण रखने के सम्बन्ध में भी कोई प्रयोग किया है! यदि हां तो उसका आज क्या फल मिला! इसका उत्तर हम बाद में देंगे।

यहां पर हम प्रतिहिंसक प्रवृत्ति का विवेचन कर रहे हैं। सांस्कृतिक विकास निरन्तर मानव समाज की आक्रमक या प्रतिहिंसक या घृणा या द्वेष की प्रवृत्ति को नियंत्रण में रखने का प्रयास कर रहा है। पर सभ्यता के विकास के साथ वह घृणा के नवीन साधन भी पैदा करता जा रहा है। सभ्यता की प्रगति ने आध्यात्मिक संतुष्टि को खा डाला है। आज उस "स्व" की पूछ नहीं है। विद्या की परिभाषा माया भरी, राग-द्वेष भरी अविद्या है। पैदा होते ही बच्चा माता की ममता प्राप्त कर लेता है पर अपनी इच्छा के विपरीत कार्य करने वाले के प्रति वह विद्रोह कर उठता है। उसे कैसे रोका जावे! पण्डित या वृद्ध जब "त्याग दो" तथा "संसार से मुख मोड़ लो" की बात कहता है तो क्या ऐसी बात में एक ओर "आत्म-रक्षा" की, सब गन्दगियों से अपने को दूर रखने की भावना नहीं है! पर, क्या इसमें संसार के प्रति घृणा तथा द्रोह की भावना भी नहीं है—या क्या इसमें प्रतिहिंसा की प्रतिक्रिया नहीं है? अदालत में बैठा

---

[१] Everybody's Political What's What—By George Bernard Shaw, Second Ed. 1945. Page. 328.

हुआ न्यायाधीश या जूरी के लोग अपराधी से परिचित नहीं होते। उसके अपराध या हत्या की घटना का उनको ज्ञान नहीं होता। पर उनके सामने सरकारी वकील ऐसी तस्वीर खींच देते हैं कि उनके मन में बैठी प्रतिहिंसा की भावना जाग उठे। हत्या का ऐसा दर्दनाक दृश्य उपस्थित किया जाता है कि सुनने वाले का जी चाहता है कि जिस प्रकार मरने यानी मारे जाने वाले का गला घोंटा गया था उसी प्रकार मारने वाले का भी गला घोंट दें। ऐसे जोश तथा प्रतिहिंसक भाव को जागृत कराकर न्यायाधीश से अपने मन के मुताबिक़ फैसला ले लेना चतुर वकील के लिये सरल होता है। पर सफ़ाई पक्ष का वकील यदि ऐसी दर्दनाक तस्वीर में दरार पैदा कर देगा तो अपराधी बच भी सकता है। इसलिये न्याय के सामने अपराध तराज़ू पर नहीं तौला जावेगा। चतुराई तथा वाक्पटुता स्याह को सफ़ेद करती रहेगी। संसार के अनगिनत निर्दोष प्राणी इसी वाक्पटुता के कारण सूली पर लटका दिये गये हैं।

प्राचीन मिश्र के न्यायाधीश कभी कभी यह भी करते थे कि किसी निर्दोष आदमी को पकड़कर उसे काफ़ी सज़ा देते थे ताकि असली अपराधी के मन में दया का भाव जाम उठे और वह स्वयं अदालत के सामने हाजिर होकर अपना अपराध क़बूल कर ले।[१] ऐसे हयादार अपराधी इस ज़माने में नहीं मिल सकते। आज का वास्तविक अपराधी अपने बचाव के अनेक उपाय जानता है। वह पकड़ा नहीं जा सकता या कठिनाई से हाथ में आता है। पर, अपराध का दण्ड किसी निर्दोष को मिल ज़ाता है। हम सोचते हैं कि "पाप का प्रायश्चित्त हो गया। समाज का कोई भी सदस्य प्रायश्चित्त कर सकता है।" यह प्राचीन भावना आज भी वर्त्तमान है।

१. Westermarck Vol. I page 28.

प्रतिहिंसा का अर्थ

सम्भवत: पाठक यह जानना चाहें कि प्रतिहिंसा से हमारा तात्पर्य क्या है ! प्रतिहिंसा हमारे स्वभाव के भीतर बैठी आक्रमक प्रवृत्ति को कहते हैं। कौटिल्य ने इसकी संज्ञा "साहस" शब्द से की है। यह प्रवृत्ति क्यों होती है ? मानव अधिकार तथा सत्ता का भूखा है। उसे इनकी हवस है। इनमें ज़रा भी बाधक के विरुद्ध वह प्रतिहिंसक हो उठता है। मनुष्य द्वेष तथा द्रोह के भावों से भरा है। वह विनाशशील प्रकृति का है। नष्ट करते रहना उसका सहज स्वभाव है। अपने सामने वह किसी को खड़ा नहीं होने देगा। उसकी विनाशशील प्रकृति उसे प्रतिहिंसक बनाये हुए है। दूसरे की हानि करने में आदि काल से मानव को सुख मिलता आया है। एक जाति दूसरी जाति के पीछे तलवार लिये घूमती थी। आज जाति का स्थान राज्य तथा राष्ट्र ने ले लिया है। अतएव दूसरों को हानि पहुँचाने के सहज सुख के लिये मनुष्य प्रतिहिंसक हो रहा है। एक और प्रवृत्ति इन्सान में होती है। किसी को कष्ट देने में, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने में सुख मिलता है और किसी को पीड़ा सहने में। रोमन नरेश नीरो लोगों को जितना कष्ट देता था उसे उतना ही सुख मिलता था। जब वह भूखे शेर के पींजड़े में आदमी को छोड़ देता था और शेर उस अभागे मनुष्य का भोजन करता था तो नीरो का अहंकार चरम सीमा पर पहुँच जाता था। उसे बड़ा आनन्द मिलता था। दूसरी ओर, काँटों की शय्या बनाकर उस पर लेटा हुआ फ़क़ीर बड़े आत्म-सुख का अनुभव करता है। बच्चा पैदा करती हुई स्त्री तड़पती रहती है, पीड़ा से चीखा करती है, फिर भी वह आन्तरिक सुख का अनुभव करती है। पीड़ा देकर सुख प्राप्त करना प्रतिहिंसा है। पीड़ा सहकर सुख प्राप्त करना त्याग है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि मानव जीवन काल से 'नीच स्व' माया, अविद्या, राग–द्वेष तथा अहंकार का शिकार हो गया है। समाज का बन्धन ग़लत वातावरण में, लोक-अर्थ-मैथुन की इच्छा के कारण, अहंभाव से परिवेष्टित प्रारम्भ हुआ है। परिवार के शील यानी मर्यादा की तथा जाति की माँगों की पूर्ति का बन्धन मनुष्य को दास बनाये हुये है। और इन तीन महान बन्धनों के कारण पाँच और बन्धन सर पर लद गये हैं—घृणा, लज्जा, भय, शंका तथा निन्दा। अतः हरेक जीव आठ बन्धन पाशों में जकड़ा हुआ है। जो इनके ऊपर उठता है, वही "विद्या" की ओर, ज्ञान की ओर, मोक्ष की ओर बढ़ता है:—

घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेतिपञ्चमम्।
कुलं शील तथा जातिरष्टौ पाश प्रकीर्त्तिताः॥

समाज के भीतर ऐसी प्रतिहिंसक प्रवृत्तियों के कारण घोर संघर्ष मचा हुआ है। मचा हुआ था। पहले मनुष्य अपनी प्रतिहिंसा स्वयं शान्त कर लेता था। फिर यह काम कुटुम्ब करने लगा। उसके बाद समाज ने सबकी प्रतिहिंसा पर नियन्त्रण करना और प्रतिहिंसक भावनाओं के निकास का प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया। आज का दण्ड विधान समाज के सदस्यों की प्रतिहिंसक प्रवृत्ति की पूर्त्ति मात्र है। प्राणदण्ड की प्रथा का प्रारम्भ साम्प्रदायिक बलि-प्रथा से हुआ है, यह हम ऊपर लिख आये हैं। सम्प्रदाय ने—वर्ग ने स्वयं प्रतिशोध की जिम्मेदारी लेकर प्राणदण्ड का विधान बनाया होगा अतएव यह क्यों न मान लिया जावे कि साम्प्रदायिक भाव, सामाजिक सङ्गठन तथा सामुदायिक एकता की पुष्टि के लिये प्राणदण्ड की प्रथा आवश्यक है। इससे समाज प्रतिहिंसा में अपनी एकता का अनुभव करता है। इससे ऐसी प्रतीति होती है कि "समाज के शत्रु का काँटा दूर करने के लिये हम सब एक हैं।"

प्रतिहिंसा पर नियंत्रण

प्राचीन समाज व्यक्तिगत प्रतिहिंसक प्रवृत्ति का आदर करता था। उसके प्रति दुर्भाव के स्थान पर प्रशंसा तथा प्रोत्साहन था। आधुनिक समाज का विधान है कि अपनी प्रतिहिंसा राज्य के ज़िम्मे कर दो। अदालत की शरण लो। क़ानून अपने हाथ में नहीं लिया जा सकता। सांस्कृतिक विकास में घृणा के भाव को, द्वेष तथा द्रोह के भाव को, प्रतिहिंसा तथा आक्रमक प्रेरणा को दबाने का अधिकतम प्रयत्न किया जाता है। आज का सभ्य युवक द्वेष या द्रोह की वस्तु पर टूट नहीं पड़ता। वह अपने अवसर की, प्रतिशोध के अवसर की प्रतीक्षा करना जानता है। आज का समाज अपना नियन्त्रण कठोरतम करता जा रहा है। आज की शिक्षा हमको अपने मन की बात, अपने मन की उमङ्ग को दबाना सिखलाती है। हमें इजाज़त नहीं है कि हम खुलकर अपना द्वेष भी प्रकट कर सकें। दूसरी ओर हमको अनेक सामाजिक बन्धनों का सामना करना पड़ता है। बड़े छोटे का भेद, अमीर-ग़रीब का भेद, अनेक प्रकार की सामाजिक विषमतायें आन्तरिक द्वेष को प्रश्रय देती हैं। दण्ड विधान प्रेम नहीं सिखा सकता। वह ऐसे विद्वेष तथा विद्रोह को जारी रखता है। आज समाज का आन्तरिक संघर्ष कम नहीं है। जहां ऊँच-नीच का भेद नहीं है वहां सत्ताधारी तथा असत्ताधारी का संघर्ष है। जो आज दबा हुआ है, कल वही फूट पड़ेगा। अतः समाज को राग–द्वेष को दूर करने का असली उपाय करना होगा। अभी तक वह ऐसा इसलिये न कर सका कि समाज का राग–द्वेष दण्ड विधान में भरकर हम समाज से राग-द्वेष दूर करने चले थे। व्यक्ति की प्रतिहिंसा समाज ने ले ली। व्यक्ति यदि प्रतिहिंसावश प्राण लेता है तो उसे प्राणदण्ड मिलता है। समाज यदि प्रतिहिंसावश प्राण-

दण्ड देता है तो वह न्याय कहा जाता है। ऐसे न्याय का क्या नैतिक महत्व हो सकता है !

पीड़ा देने में सुख

प्रायश्चित्त, प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा की भावना के कारण प्राणदण्ड की प्रथा का विकास बड़े संक्षेप में हमने समझाने का प्रयास किया है। इसी सिलसिले में हमने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि प्रतिहिंसक प्रवृत्ति का एक रूप "दूसरे को पीड़ा देने में सुख का अनुभव" भी होता है। यह सुख या यह आनन्द कैसा है ?

जन समूह के स्वभाव का अन्दाज़ लगाना बड़ा कठिन है। पर, मनोवैज्ञानिक एक बात अच्छी तरह से समझ गये हैं, वह यह है कि "जनता जिस बात को नहीं समझती उससे घृणा करती है।" उसकी इसी आन्तरिक घृणा की भावना को जागृत कर सभी राजनैतिक दल अपना कल्याण करते हैं। विद्रोह तथा विप्लव होते हैं। जनता उनसे भी घृणा करती है जो उसकी इच्छा के विरुद्ध बातें कहते हैं। यही कारण है कि उसकी "इच्छा" का लाभ उठाकर हज़ारों वर्षों तक क्रूर से क्रूर और कठोर से कठोर यातना मानव ने मानव को दी और उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले की सुनी नहीं गई। अधिकांश जन समूह को दूसरे को पीड़ा पहुँचाने में सुख मिलता है। इससे अपने अहंकार की भूख शान्त होती है तथा अपनी आन्तरिक प्रतिहिंसा शान्त होती है।

पीड़ा में आनन्द अनुभव करने के सिद्धान्त को अँग्रेज़ी में "एल्गोलाग्निया"[1] कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं—पीड़न-सुख तथा पीड़ित-सुख। इन दोनों प्रकार के सुखों को समझने के लिये

---

1. Algolagnia—Pleasure Principle in Pain. It has two forms, Sadism and Masochism.

कामशास्त्र की शरण लेनी पड़ेगी। दोनों ही कामुक सुख हैं और चूंकि समाज का प्रत्येक प्राणी कामुक वासना से ओतप्रोत है इसीलिये उसमें इन दो में से कोई भावना रहती ही है। जिस प्रकार माता के स्तन से खेलने वाला बच्चा यह नहीं जानता कि ऐसा करने में उसे कामुक सुख मिल रहा है, उसी प्रकार कांटे की शय्या पर पड़ा साधु भी नहीं समझ पाता होगा कि ऐसा करने में उसे ऐन्द्रिक तृप्ति प्राप्त हो रही है। काम विज्ञान का महान दर्शनशास्त्र है, उसकी बड़ी दार्शनिकता है। मन तथा मानव का जीवन कामशास्त्र का ही एक अध्याय है। वात्स्यायन के काम सूत्र के अनुवाद की भूमिका में डा० भगवानदास जी ने इस पर बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है।

कामुक पीड़न

अस्तु, दूसरे को पीड़ा पहुँचा कर सुख प्राप्त करने वाला व्यक्ति घोर से घोर क्रूरता करके उससे आनन्द प्राप्त करता है। पर यह आनन्द वह तब तक लेना चाहता है जब तक कि उसकी कामुक वासना जाग उठे। बिना कामुक वासना के पर-पीड़न से आनन्द लेने वाले व्यक्ति की क्रूरता सीमित तथा नर्म होती है। पर कामुक पीड़न बड़ा भयंकर होता है। प्रसव पीड़ा का कष्ट उठाने वाली स्त्री का आन्तरिक सुख हम ऊपर बतला आये हैं। स्त्री को आत्म-पीड़न में सुख मिलता है। बलात्कार में स्त्री को बड़ा कष्ट होता है। अक्षतयोनि कन्या का प्रथम समागम बड़ा कष्टदायक है। पर उससे किसने मुख मोड़ा है। अनेक पशुओं को समागम के समय बड़ा कष्ट होता है। वे कष्ट से चिल्लाते हैं पर उनको उस कष्ट में सुख मिलता है। कृत्तन नामक एक जर्मन अपराधी तथा हत्यारे ने न जाने कितनी स्त्रियों की समागम के बाद हत्या कर डाली थी। डा०बर्ग से उसने स्पष्ट स्वीकार कर लिया



स्पेन तथा मध्य युगीय यूरोप में धार्मिक दण्ड
प्राणदण्ड की एक विधि

था[1] कि स्त्री प्रसङ्ग में उसे असली आनन्द नहीं मिलता था, उसे तो हत्या करने में ही असली मज़ा मिलता था। डा० बर्ग ने ऐसे भी उदाहरण दिये हैं कि दूसरे को घोर यातना पहुँचाते पहुँचाते वीर्य स्खलन हो जाता था तो यातना देना बन्द होता था या यातना देने के बाद ऐसा क्रूर व्यक्ति हस्तमैथुन कर लेता था।

दूसरे की पीड़ा से यदि स्त्री को आनन्द मिलता है तो वह प्रचण्ड कामुक बन जाती है। ऐसी स्त्रियां क्रूरता तथा कठोरता के कार्य देखकर पुरुषों को आत्म-समर्पण कर देती हैं तथा उनसे विषय सुख प्राप्त कर तृप्त हो जाती हैं। यह अवश्य है कि ऐसी स्त्रियों का अन्त "आत्म-पीड़न" में ही होता है। उन्हें अच्छा लगता है जब उनका प्रेमी अपने अङ्क में लेते हुये उनको मसल डालता है, रौंद डालता है। शायद "ओविद" ने सर्वप्रथम इस बात की ओर संकेत किया था कि रोम में, शाही थियेटर में आदमी आदमी की तलवार या भाले से प्राणघातक लड़ाई देखने के बाद बहुत सी स्त्रियों में पुरुष-संसर्ग करने की इच्छा जाग उठती थी। और, रोम में ऐसे नारकीय खेल-कूद बड़े लोकप्रिय थे। भूखे बाघ के सामने निश्शस्त्र आदमी को छोड़ देना, भैंस के सामने एक भाला देकर आदमी छोड़ देना या आदमी-आदमी की प्राणघातक लड़ाई कितनी भयानक होती होगी। यह सत्य है कि आदमी-आदमी के द्वन्द्व युद्धमें प्राणदण्ड के लिये दण्डित अपराधी ही भाग ले सकते थे। पर, यह खेल इतना रोचक बन गया था कि बार बार खेल कराते रहने के लिये प्राण-दण्डित अपराधियों की कमी हो जाती थी। इसलिये हर तरह के अपराधों में, ज़रा से बहाने में प्राणदण्ड की सज़ा दे दी जाती थी। इतने पर

1. Sadist (English Translation) By Dr Karl Berg pub. 1938 Page, **111**.

भी जब अपराधी कम पड़ जाते थे तो दास खरीदे जाते थे और उनसे यही काम लिया जाता था। निस्सन्देह रोम की विलासी स्त्रियों को ऐसे समारोह पर बड़ा आनन्द मिलता था। वे इतनी कामुक हो गई थीं कि केवल अपनी वासना की तृप्ति के लिए दास रखती थीं। सीदिया की औरतें ऐसे दासों की आंखें इसलिये निकलवा लेती थीं कि उनको दिखाई न पड़े कि किसके साथ विषय कर रहे हैं। मानव स्वभाव विचित्र है। पीड़ा देने का सुख पाने के लिये बिल्ली चूहे को खिला-खिलाकर मारती है। रोम तथा सीदिया की स्त्रियाँ अपने सुख के लिये इन दासों की सभी दुर्गति कर देती थीं। रङ्गभूमि में प्राणदण्डित अपराधियों का तड़प तड़पकर मरना देखने के लिये रोम में ऐसे अपराधियों की हर प्रकार से रक्षा की जाती थी। उन्हें आत्महत्या करने का अवसर नहीं दिया जाता था। समाज का मनोरञ्जन भी बड़ी मँहगी वस्तु है।

कामुकता मनुष्य को अन्धा बना देती है। पशु बना देती है। क्राफ़िट एबिंग ने[1] एक ऐसे व्यक्ति का जिक्र किया है जो वेश्यालय में रोज़ जाता था। जिस लड़की से संसर्ग करना होता था उससे पहले अपना हाथ पैर बँधवा लेता था। फिर वह लड़की उसे अपनी जूतियों से पीटती थी। तब उस आदमी की कामुकता जागती थी। स्मरण रहे कि जूते से पिट जाने के बाद उसकी उत्तेजना प्रारम्भ तथा समाप्त साथ साथ होती थी। इस प्रवृत्ति को पाठक क्या कहेंगे! एक जर्मन हत्यारे ने यह स्वीकार किया था कि किसी का खून करने के बाद ही उसमें कामुक उत्तेजना होती थी। अतएव बिना इच्छा के भी उसे खून करना पड़ता था। एक अंग्रेज स्त्री

---

1. Psychopathia sexualis - By. Krafit Ebing Page 143

(कुमारी) ने अपने प्रेमी के विवाह करने के सभी प्रस्ताव ठुकरा दिये। एक दिन अनायास दोनो एक फाँसी देखने चले गये। उसे देखते ही, यह दृश्य देखते ही वह लड़की अपने प्रेमी के गले से चिपट गई। उसने विवाह का प्रस्ताव वहीं वधशाला में स्वीकार कर लिया। स्त्री के हाथ से मार खाने में पुरुष को तथा पुरुष के हाथ से मार खाने में स्त्री को जो सुख मिलता है, उसका भी कारण क्या किसी ने सोचा है! क्या उसमें भी कामुक भावना नहीं है। न जाने इस कामुकता का कितना भीषण तथा वृहत् रूप है। डा० स्टेकल ने यहां तक लिख दिया है कि कुछ ऐसे भी मरीज़ थे जिनके घावों को चीरते समय उनका वीर्यपात हो गया।

पशु के प्रति निर्दयता

ऐसे विचित्र स्वभाव तथा प्रकृति वाले मानव की क्रूरताओं का क्या अन्दाज़ हो सकता है! आदि काल से क्रूरता का एक दूषित वातावरण बन गया है। वह अपने छोटे को दबाता है, उसके प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है। जिस प्रकार छोटा बच्चा अपने पिता की चपत खाकर अपने से छोटे बच्चे को मारकर अपनी प्रतिहिंसा शान्त करता है, उसी प्रकार पीड़ित तथा अपमानित व्यक्ति दूसरे को पीड़ा देकर सुख पाता है। पीड़ा देने के लिये सबसे आसान चीज़ पशु है। इसलिये पशु के लिये यातना के अनेक उपक्रम हमने कर रखे हैं। सौ वर्ष पूर्व, ब्रिटिश वेस्ट इण्डीज़ द्वीप समूह में गोरे लोग नीग्रो लोगों से मेहतर तथा भंगी का काम लेते थे। काम लेते समय उनके पैर में हथकड़ियाँ डाल

1. Sadism and Masochism - By Dr. Wilhelm Stekel Pub. 1935. Page 436.

दी जाती थीं ताकि वे भाग न जावें। जरा सा आलस्य करने पर उनको कोड़े मारे जाते थे। इन नीग्रो लोगों को केवल एक ही अधिकार प्राप्त था—सूअरों को नष्ट करना। जिस बेरहमी से नीग्रो सूअर को मारता था उसकी गाथा पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पर, गोरे द्वारा पीड़ित होने के कारण उसकी प्रतिहिंसा की तुष्टि तो चाहिये ही। आज हमने जानवरों को वही स्थान दे रखा है जो स्थान गोरे लोगों ने १०० वर्ष पूर्व नीग्रो लोगों को दिया था।

पीड़ा का समारोह

अस्तु, जिस कामुक भावना के वशीभूत होकर आदि कालीन समाज में पुत्रों ने पिता की हत्या की उसी समाज की आज भी वही गति है। उस समाज में कामुकता के कारण प्रतिहिंसक क्रूरतायें हजारों वर्ष तक नङ्गा नाच नाचती रही हैं। पहले बलिके समय समूची जाति समारोह मनाती थी। आज के कुछ ही वर्ष पहले तक पचासों मील की यात्रा कर लोग, अपराधी को जिन्दा जलाया जाना तथा सूली पर लटकाना या फ्रेंच गीलोटिन द्वारा गला काटा जाना देखने जाते थे। सन् १७९२ में फ्रांस में "गीलोटिन" यन्त्र के खिलौने बाजार में बड़े प्रिय हो गये थे। कुछ उत्साही दूकानदार खिलौने के साथ जिन्दा गौरेया चिड़िया भी देते थे ताकि बच्चा उसका गला काटने का आनन्द ले। गीलोटिन द्वारा गला काटने का समारोह 'प्लेस लूई पन्द्रहवें' मुहल्ले में होता था। सन् १७९४ में जब यह स्थान बदला जाने लगा तो वहाँ के दूकानदारों ने बड़ा आन्दोलन किया कि ऐसा नहीं होना चाहिये वरना उनकी बिक्री मारी जायगी। यह कहना सही भी था क्योंकि दो महीने में इस

स्थान पर १२६० गले काटे गये थे[1] अतएव दर्शक-संख्या अत्यधिक रही होगी। तमाशा देखने के समय दूकानदारी चलती है। तमाशाई अच्छा ग्राहक होता है।

इन्सान की शैतानियत या मानव स्वभाव के राग द्वेष ने ऊपर लिखे कारणों से प्राणदण्ड की प्रथा को जन्म दिया, पाला तथा हजारों वर्षों से क़ायम रखा है।

1. A History of Capital Punishment—By John Lawrence. chap. III.

दूसरा

प्राणदण्ड के नियम, विधान तथा प्रणालियां

ऊँच-नीच में भेद !

प्राचीन दण्ड विधान में बहुत कुछ समानता मिलती है। अनेक अपराधों की सजा प्रायः एक ही ढङ्ग की है। हज़ारों मील की दूरी वाली सभ्यताओं की विचारधारा प्रायः मिलती जुलती सी प्रतीत होती है। या तो आदि व्यवस्थापक मनु का अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव रहा हो या मानव स्वभाव की एकसूत्रता का प्रतीक हो, पर पुराने दण्ड-विधान बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। प्रायः सभी विधानों में जाति-भेद है यानी ऊँची श्रेणी वाले के लिये दूसरे ढङ्ग का दण्ड है तथा नीची श्रेणी वाले के लिये दूसरे ढङ्ग का। उदाहरण के लिये मनु को ही लीजिये। कहते हैं कि मनु ने वही लिखा है जो ब्रह्मा ने कहा। ब्रह्मा वेद के बाहर कुछ कह नहीं सकते। ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व जैमिनी कह गये थे कि मानव के लिये जो कुछ श्रेष्ठ है, वह वेद है। वेद ने ब्राह्मण की उत्पत्ति परमात्मा के मुख से बतलाई है। अतएव ब्राह्मण के लिये अपराध के सम्बन्ध में विशेष अधिकार थे। ब्राह्मण को प्राणदण्ड दिया नहीं जा सकता था। ऊशान संहिता के अनुसार १०,००० गायत्री का जप कर लेने से वह सब पापों से छूट जाता था।[1] अत्रि संहिता में ब्राह्मण को मारने का आधा अपराध क्षत्रिय को मारने पर तथा उसका छठाँ भाग अपराध वैश्य को मारने पर तथा बारहवाँ भाग शूद्र को मारने पर लगता था।[2] ब्रह्म-हत्या में मनु, गौतम, बोधा-

---

१—ऊशान संहिता—अ० ९, ११९. २—अत्रि संहिता—श्लोक ११६

यन सभी ने कृच्छ्र तथा चान्द्रायण व्रत[1] का प्रायश्चित्त बतलाया है। संहिताओं ने जाति या वर्णभेद दण्ड के लिये भी कर दिया है। सबसे कठोर दण्ड शूद्र को दिया जाता था। नियमों के समानीकरण का प्रथम प्रयास कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। इसी प्रकार पुरानी जातियों में भी ऊँच नीच का भेद होता था। ऊँची जातिवाले का अङ्ग-भङ्ग नहीं किया जाता था या उसका सर काट कर कई दिन तक बाहर नहीं लटकाया जाता था। इङ्गलैंड में केवल बहुत ऊंचे घराने के लार्ड लोगों को यह महत्व प्राप्त था कि उनका सर काटा जावे ? सर काट कर अन्तिम प्राणदण्ड वहां ६ अप्रैल, सन् १६४७ को दिया गया था। अपराधी थे लार्ड लोवट। डेन्मार्क में भी तलवार या कुल्हाड़ी से सर काटा जाना मर्यादा की चीज़ समझी जाती थी।

प्राचीन दण्ड विधान से अर्वाचीन दण्ड-विधान तक एक ही मनोवृत्ति का पता चलता है। जिस "भय" का मनु ने वर्णन किया है वही भय समूचे विधान की तह में छिपा हुआ है, चाहे वह समाज की अरक्षा का, व्यक्ति की अरक्षा का या अपराधी से अरक्षा का भय, यानी किसी भी रूप में हो।

संहिताओं में

मनु के बाद याज्ञवल्क्य संहिता का महत्व है। यह संहिता कब बनी, इसका समय श्री मार्ले भी नहीं निश्चित कर पाये।[2] पर प्रोफ़ेसर विलसन का कहना है कि ईसा के २०० वर्ष बाद इसकी रचना हुई। याज्ञवल्क्य ने लिखा है[3] कि दण्डनीयों को दण्ड दे कर तथा प्राणदण्ड के योग्य को प्राणदण्ड देकर राजा कोई पाप

१—मनु०—अ० ४, गौतम—२१, २२; बोधायन १-१-८

२. Introduction to Hindu Law—By Morley.

३. याज्ञवल्क्य श्लोक ३५८.

नहीं कर रहा है बल्कि वह यज्ञ के फल का भागी होता है। याज्ञवल्क्य मनु के समान कठोर नहीं थे क्योंकि उन्होंने कुछ लोगों को, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों, छूट दे दी है। यह छूट पागल तथा शराब के नशे में किये गये हिंसात्मक अपराधों के लिये है।[1] याज्ञवल्क्य के समय में क़ानूनी कार्यवाही का संगठन काफ़ी अच्छा प्रतीत होता है। उनके समय में अदालतें थीं। उच्च न्यायालय में नीचे की अदालत के विरुद्ध अपील हो सकती थी। अन्तिम अपील राजा के यहाँ होती थी। याज्ञवल्क्य के समय का विधान मननीय है।

उनके अनुसार चोरी करने वाले का हाथ पैर काट लेना चाहिये। पर यह दण्ड दुबारा अपराध करने पर देना चाहिये। पहली बार अँगूठा ही काट लेना काफ़ी होगा। गर्भपात करने वाली स्त्री के गले में पत्थर बांध कर पानी में डुबा कर मार डाले। पति को विष देने वाली स्त्री की नाक, कान और ओंठ काटकर बैल (सांड़) से मरवा डालना चाहिये। रानी के साथ व्यभिचार करने वाले को या खेतों में पैदावार में आग लगाने वाले को बीदण घास के ढेर में जला डालना चाहिये।[2]

ऊशान संहिता में विधान है कि सौतेली माँ के साथ विषय करने वाले को लोहे की स्त्री बनाकर उसे गर्म करके, उसी के साथ पुरुष अपराधी को चिपटा दे। या, वह अपराधी अपनी इन्द्रिय (लिंग) तथा अण्डकोष काटकर उसे हाथ में लेकर दक्षिण या पश्चिम की दिशा में तब तक यात्रा करता रहे जब तक उसका शरीर नष्ट होकर निर्जीव न हो जावे।[3] गौतम संहिता के २४ वें अध्याय में यही विधान है। अत्रि संहिता में घोर अपराधों की

---

१ तथा २—देखिये क्रमशः श्लोक २१७, २७७, २८१, २८२ तथा २८४

३—ऊ० संहिता अ० ८—२३, २४.

गणना में सौतेली माँ के साथ संसर्ग, मादक-द्रव्य सेवन, चोरी आदि गिनाये गये हैं।[1] व्यभिचार में इन्द्रिय (लिङ्ग) तथा अण्डकोष काटने की रीति अज़ोदेक नामक जाति में भी थी। यूनानी विधान में भी व्यभिचार के लिये बड़ी कठोर यातनायें दी जाती थीं। पुरोहित, गर्भ वाली स्त्री, १४ वर्ष की उम्र से कम के बच्चे तथा कुलीन परिवार के रईस दण्ड से मुक्त थे। याज्ञवल्क्य ने परिवार की मर्यादा नहीं मानी थी। गौतम ने व्यभिचार के लिये बड़े कठोर दण्डों की व्यवस्था दी है जैसे यदि उच्च वर्ण की स्त्री नीचे वर्ण के पुरुष से सम्भोग करे तो उसे कुत्तों से नुचवा दिया जावे। समवर्त्त संहिता में[2] आदमी की जान लेने पर छः महीने के व्रत का ही आदेश है पर ऊपर लिखे संहिताकार जान लेने वाले के लिये जितना कठोर दण्ड देना चाहते थे उतना ही या उससे अधिक कठोर दण्ड आचरण की दुर्बलताओं के लिये भी देना चाहते थे। आज वे दण्ड नहीं हैं। वह कठोर आचरण शास्त्र नहीं है। समय पाकर मानव ने आचरण के सम्बन्ध में व्याख्या बदल दी। तब, यह मान लेना होगा कि अपराध स्वतः कोई वस्तु नहीं है। समय-समय की व्याख्या ही भिन्न अपराध बनाती चलती है।

मनु के आदेश

मनु ने अपराधी को दण्ड देने की व्यवस्था देते हुये दण्ड प्रणाली भी निर्धारित कर दी है।[3] १००० कर्ष (चाँदी का सिक्का) की आमदनी वाले एक क्रोश क्षेत्रफल वाले ग्राम में जो अपराध हो, उसका निर्णय ग्राम का मुखिया कर दे। यदि वह अपराध न दबा सके तो दस ग्रामों के प्रधान को सूचना दे। यदि वह भी असमर्थ हो तो १०० ग्रामों के प्रधान को सूचित करे। यदि वह

१—अत्रि सं०, १६४. २—समवर्त्त० १७१. ३—मनु० अ० ७; देखिये विष्णु० ३-११-१५ तथा महाभारत १२. ८७ ४. ५. इत्यादि।

भी अपराध को रोक न सके तथा अपराधी को दण्ड न दे सके तो जिलाधीश को, वहां से राज्यपाल को, राज्यपाल से सम्राट् को सूचना दी जानी चाहिये। इस प्रकार मनु ने आज के ५००० वर्ष पहले का भारत का शासन विधान ही बतला दिया है। यह विधान महाभारत काल में भी प्रचलित था, यह १२ वें सर्ग से सिद्ध है।

मनु के दण्ड विधान में शूद्रों के लिये बड़ा कठोर दण्ड था। मनुस्मृति के आठवें अध्याय में दण्डों का विधान है। ब्राह्मणों को प्राणदण्ड नहीं दे सकते थे।[1] ब्राह्मण की निन्दा करने या उसे बदनाम करने का अपराध यदि क्षत्रिय करे तो उसे १०० पण (तत्कालीन स्वर्ण मुद्रा) का दण्ड देना चाहिये। यदि शूद्र द्विज को गाली दे तो उसकी ज़बान काट लेनी चाहिये। यदि शूद्र ब्राह्मण को सीख दे, उपदेश दे तो उसके कान में (शूद्र के) गरम तेल डालना चाहिये। व्यभिचार के लिये भिन्न भिन्न सज़ायें थीं, प्राणदण्ड की भी सज़ा थी। ब्राह्मण की, स्त्री की, बच्चे की हत्या करने वाले के अपराध में तथा राजद्रोह के लिये मनु ने प्राणदण्ड ही बतलाया है। आत्म-रक्षा के लिये सब कुछ माफ़ था। मनु द्वारा निर्दिष्ट अनेक दण्डों में कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

१—चोरी का माल ख़रीदने पर ९६ पण दण्ड।

२—किसी सम्पत्ति पर झूठा दावा करने वाले को सम्पत्ति का दुगना अर्थ दण्ड देना होगा।

३—दण्ड देने के समय अपराधी के शरीर, शक्ति, अपराध का स्वरूप, दण्ड सहन करने की शक्ति आदि का अन्दाज़ लगा लेना चाहिये।[2]

४—हत्या करने वाले ब्राह्मण को देश निकाला ही हो।

१—बृहस्पति ने भी यही कहा है।

२—गौतम तथा नारद संहिता में भी यही आदेश है।

५—शूद्रों के शरीर के दस अङ्गों में सजा दी जा सकती थी—लिंग, गुदा, पेट, जबान, दोनों हाथ पैर, नाक तथा उसकी सम्पत्ति भी जब्त की जा सकती थी।

६—राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन करने पर, हिंसात्मक अपराध पर, व्यभिचार पर, आग लगाने के अपराध में गवाहियों—साक्षियों पर बहुत अधिक निर्भर न करके भी दण्ड दिया जा सकता है।[1]

७—राजद्रोह के अपराध में देश निकाला भी दे सकते हैं।

८—चाण्डाल स्त्री के साथ सम्भोग पर एक मास का व्रत करे।

९—मित्र की पत्नी, पिता की बहन (बुआ), मौसी आदि से सम्भोग करने पर लिङ्ग काट लेना चाहिये।[2]

कौटिल्य अर्थ-शास्त्र

ग्यारहवें अध्याय में मनु ने सर्प की भी हत्या के लिये प्रायश्चित्त बतलाया है। चोरों के लिये व्रत उपवास आदि का विधान है। मनु कुल-धर्म पर बड़ा जोर देते थे। हल छोड़ देने वाले यानी हल छोड़ कर भाग जाने वाले तथा खेती पर मजदूरी करने वाले का काम छोड़कर भाग जाने पर कोड़े से मारने का आदेश दिया गया है।[3] आज कल मजदूरों से काम छोड़ने की सलाह देने वाला, हड़ताल कराने वाला 'नेता' कहलाता है। 'नेता' शब्द का उपयोग कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी किया है। पर आज के नेता और कौटिल्य के नेता में बड़ा अन्तर है। किसानों के लिये कौटिल्य ने बड़े कठोर नियम बनाये हैं जैसे खेत

१—कात्यायन, ऊशान, गौतम आदि का भी यही मत है।

२—मनु० अध्याय ११ वां।

३—आपस्तम्ब तथा विष्णु का भी यही मत है।

से पैदावार चुराने वाले को चुराये अन्न का अठगुना देना होगा। कौटिल्य के समय में आजकल के अपराध जैसे घूसखोरी (उत्कोच) आदि प्रकट हो चुके थे। इसलिये कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र नीति तथा विधान की दृष्टि से अधिक परिपक्क तथा समीचीन है।

कौटिल्य के शिष्य कामन्दक ने अपने "नीतिसार" में लिखा है कि दण्ड के ज्ञाताओं ने तीन प्रकार का दण्ड वर्णन किया है— वध कर देना, सम्पत्ति छीन लेना तथा विशेष काया कष्ट देना।[1] ये तीनों प्रकार के दण्ड कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में स्पष्टरूपेण निर्दिष्ट हैं। ये विधान प्रायः इस ग्रन्थ के चतुर्थ अधिकरण में प्राप्त होते हैं।

प्रारम्भ में हम उनके "वधे वधः" के सिद्धान्त का निरूपण कर आये हैं।[2] हमने यह भी बतला दिया है कि प्रतिहिंसा के कार्य को उनकी भाषा में "साहस" कहा जाता था और जसा अपराध होता था, वैसा दण्ड मिलता था जैसे "उत्तम साहस" या "मध्यम साहस" दण्ड। कौटिल्य के दण्डों में कुछ मुख्य दण्ड नीचे दिये जाते हैं।

१—बलात्कार करने वाले, चोरी, प्याऊ तथा धर्मशाला के सामान की चोरी तथा राजा के हाथी या घोड़ा आदि की चोरी करने वाले को शूली पर चढ़ा कर मार डाले।

२—ऊपर लिखे अपराधों के लिये शूली पर चढ़े हुये लोगों का दाहकर्म करने वाले को भी वही दण्ड दे।[3]

१—वधोऽर्थ ग्रहणं चैव, परिक्लेशस्तथैवच।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः॥ १८. ९.

२—कौटिल्य ४ अधिकरण, ११ अध्याय ८ श्लोक।

३—कौ० ४-११-१३।१३

३—तीर्थ स्थानों पर वस्त्र आदि चुराने वाले, उठाईगीर, उचक्के, गिरहकट इत्यादि तथा फलवान वृक्षों से चोरी से फल तोड़ने वाले का अंगूठा तथा कनिष्ठा उँगली काट लेना चाहिये।[१]

४—अपनी जाति की अरजस्वला कन्या को दूषित करने वाले का हाथ कटवा दो। साथ ही उसे ४०० पण का दण्ड दो। यदि कन्या रजस्वला हो चुकी हो तो मध्यमा तथा तर्जनी उँगली काट लो।[२]

५—जो पुरुष माता और पिता की बहन यानी मौसी और बुआ, मामी, गुरुमाता, पुत्र वधू, स्वकन्या, भगिनी आदि के साथ दुराचार करे उसकी उपस्थ इन्द्रिय (लिंग) तथा अण्डकोश काटकर प्राणदण्ड दिया जाय। भोग करने वाली स्त्री का स्तन तथा भग का छेदन करके (मनु ने भी यही कहा है) उसे प्राणदण्ड दिया जाय।[३]

कौटिल्य ने दण्ड-विधान के अध्याय का नामकरण "कंटक शोधन" किया है यानी समाज में जो कंटक हैं उनकी कैसे शुद्धि की जावे। उन्होंने राज कर्मचारियों के लिये साधारण जन समूह से अधिक दण्ड की व्यवस्था दी है ताकि शासकवर्ग में दूषण न उत्पन्न हो जावे।[४] बालक, वृद्ध, रोगी आदि को शारीरिक दण्ड देना मना है। यदि विद्वान ब्राह्मण या तपस्वी कोई अपराध करे तो मनु के मतानुसार उसे केवल जप या व्रत कराकर छोड़ देने की बात कौटिल्य नहीं मानते। चाणक्य के मतानुसार उन्हें सरकारी सिपाहियों से पकड़वा कर नगर में इधर उधर घुमा कर अपमानित करना चाहिये।[५] निजी लड़ाई झगड़े में किसी की जान ले लेने वाले को कष्टपूर्वक प्राणदण्ड दो। यानी उसे दुःख दे

१—कौ० ४-११-१।२ २—४-१२-३. ३—४-१३-४२।४३
४—४-९-५० आदि ५ - ४-८ अ०

देकर मारा जाय इसे चित्र वध कहते थे।[1] दुःख देकर मारने की प्रथा प्राचीन चीन में बहुत प्रचलित थी। शरीर का प्रत्येक अङ्ग अलग से काटा जाता था। जिस वध के पूर्व कोई कष्ट न हो, वह शुद्ध प्राणदण्ड कहलाता था। निजी झगड़े या मारपीट में घायल व्यक्ति यदि सात दिन के भीतर मर जावे तो अपराधी को शुद्ध प्राणदण्ड मिलता था।

यमराज के दरबार में

मनु आदि स्मृतियों द्वारा निर्मित दण्ड विधान का थोड़ा परिचय देकर हमने अपने प्राचीन युग की दण्ड व्यवस्था समझा दी। जिस प्रकार के दण्ड का विधान था, वह प्राप्त भी होता रहा होगा। अतएव आज की दृष्टि से साधारण प्रतीत होने वाले अपराधों के लिये भी घोर यातनायें दिया करते थे। बाजार में आज भी यमराज के राज्य में पापी जीवों को दण्ड देने की प्रथाओं का जो चित्र बिकता है तथा जिसे देखकर विश्वासी लोग काँप उठते हैं, उनको देखिये—उन चित्रों का अध्ययन कीजिये तो संसार की क्रूरतम प्रथाओं की तस्वीर सामने खड़ी हो जाती है। हिन्दुओं की एक काफ़ी बड़ी संख्या इस लोक में नहीं बल्कि देवलोक में ऐसी भयङ्कर यातनाओं का सपना देखा करती है। हमारे मन के पर्दे के पीछे प्राचीन काल की यातनायें अङ्कित हैं। इस लोक में वे समाप्त हो गईं। पर, परलोक में वे विद्यमान हैं।

भारत के प्राचीन राज्यकाल में

आज के तीन हज़ार—चार हज़ार वर्ष पहले भारत के नरेश स्मृतियों के अनुसार शासन करते थे। ईसा से ६००वर्ष पूर्व भारत

१—कलहेऽनत पुरुष चित्रोघातः—४ अधि० ११ अध्याय, ८६ प्रकरण, १-४ श्लोक।

कई प्रमुख राज्यों में बँटा हुआ था। श्री जायसवाल के अनुसार इनका नाम था मगध, कोशल, वत्स—ये बड़े राज्य थे। छोटे राज्यों में कुरु, पाञ्चाल, काशी, मिथिला आदि उल्लेखनीय हैं। ईसा से ३६४वर्ष पूर्व नन्दकुल का प्राबल्य था। ३२४वर्ष पूर्व तक। ईसा से २७३ वर्ष पूर्व से २३६ वर्ष पूर्व तक अशोक का राज्यकाल था। इनके बाद प्रमुख शासन कुशनवंश का था। इनमें कनिष्क बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका शासनकाल ईसा के ७८ वर्ष बाद से १०१ तथा १०२ वर्ष है। गुप्त साम्राज्य का २०० वर्ष का युग अत्यन्त उज्वल था।[१] इन सभी युगों में न्यायशास्त्र बड़ा कठोर था। उसका थोड़ा परिचय करा देना उचित होगा। सुसंगठित कारागार उस समय भी हमारे देश में थे। मनु ने तो लिखा है कि "राजा को सड़क के किनारे कारागार बनवाने चाहिये ताकि आने जाने वाले लोग देखें और भयभीत हों। जेल के "सुपरेन्टेण्डेन्ट" का पद उस समय भी था। इसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे। पुलिस का मुहक़मा भी काफ़ी सङ्गठित था। कौटिल्य ने इसका काफ़ी वर्णन किया है। चोरों को नेस्तनाबूद करने वाले पदाधिकारी को "चौरोद्धार्णिक" कहते थे। चोरों को पकड़ने के लिये फन्दा ले जाने वाले कर्मचारी को "दण्ड पाशिक" कहते थे।

उन दिनों साधारण चोरी बहुत कम होती थी। केवल कुछ उच्छृङ्खल लोग डाका डालते थे और पशु या चल सम्पत्ति उठा ले जाते थे। ऐसे डाकुओं को पकड़ने के लिये सेना से सहायता ली जाती थी। हर ग्राम का मुखिया ही स्थानीय दारोगा होता था। जब वह स्थानीय लोगों की सहायतासे डाका या अन्य अपराध नहीं दबा

१—History and Culture of the Indian People–The Age of Imperial Unity—By M. C. Majumdar. Vol. II Gen. Edition, pages 337–340.

सकता था तो पुलिस या सेना की सहायता लेता था। ऐसे कामों के लिये भेजी हुई सेना को रहने तथा खाने पीने का प्रबन्ध ग्राम के जिम्मे था। डाँका तथा चोरी से होने वाली हानि की पूर्त्ति की जिम्मेदारी राज्य की थी। जिस ग्राम में चोर या डाकू छिपते थे. उसी को सब क्षति पूरी करनी पड़ती थी। यदि यह साबित कर दिया गया कि उस ग्राम से चोर डाँकू भाग गये हैं तो उस ग्राम की जिम्मेदारी समाप्त हो जाती थी।[1]

दण्ड की रीति सब जगह एक समान नहीं थी पर मूलत: एक थी। कुछ राज्य किसी संहिता को अन्य संहिताओं की तुलना में अधिक महत्व देते थे। अत: जहाँ बृहस्पति को मान अधिक रहा होगा वहां पर यह नियम रहा होगा कि "जिसे गाली दी गई है, वह यदि गाली का जवाब गाली से देता है, जिसे पीटा गया है वह यदि पिटने का जवाब पीटकर देता है, जिस पर हमला हुआ है वह यदि आक्रमण करने वाले को मार डालता है तो कोई अपराध नहीं करता है।" इसी प्रकार, नारद के अनुसार चोरी के लिये पण का, यानी अर्थदण्ड भी दिया जा सकता है और शारीरिक दण्ड, अङ्ग-भङ्ग या प्राणदण्ड भी हो सकता है। मौर्य साम्राज्य में कौटिल्य का ही विधान सर्वमान्य था। इसके अनुसार तालाब या नदी का बाँध तोड़ने वाला उसी नदी या तालाब में डुबाकर मार डाला जाता था। पति या सन्तान की हत्या करने वाली स्त्री गर्भवती होने पर भी साँड़ों से रौंद कर मार डाली जाती थी। यह अवश्य है कि कौटिल्य के मतानुसार यदि हत्यारा या हत्यारिन निर्दयतापूर्वक हत्या करने का अपराधी न हो तो उसे शुद्ध प्राणदण्ड (शूली पर लटकाना) देना चाहिये।

१—State and Government in Ancient India—By Dr. A. S. Altekar. Banaras Hindu University, Page 151-152.

अशोक काल में प्राणदण्ड

अहिंसा के पुजारी अशोक भी प्राणदण्ड की प्रथा में विश्वास करते थे। वर्तमान काल का "पुलिस" शब्द भी उन्हीं के समय से निकला है। उस समय पोलिस शब्द का उपयोग 'पुरुष' यानी "राजकर्मचारी' के लिये होता था। प्राणदण्ड के विषय में उनके स्पष्ट आदेश थे। धर्म-भीरु अशोक ने वध के पूर्व उस दण्डित अपराधी को धर्म-चिन्तन का अवसर दे रखा था। उनके सप्त स्तम्भलेखों में चतुर्थ स्तम्भ लेख है:[१]— "मेरे रज्जुक नामक कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। पुरस्कार तथा दण्ड देने का अधिकार उनके आधीन कर दिया गया है जिससे कि वे निश्चिंत तथा निर्भय होकर अपना कर्तव्य करें। व्यवहार यानी मुक़द्दमा करने में पक्षपात न होना चाहिये। इसलिये आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में जिन मनुष्यों को प्राणदण्ड (बन्धन बधानं) हैं, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाय। जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति या कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिये ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुये परलोक के लिये दान देंगे तथा उपवास करेंगे। क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाये हुये लोग परलोक का चिन्तन करें, और लोगों में अनेक प्रकार का धर्माचरण, संयम और दान करने की इच्छा बढ़े।"

प्राणदण्ड को भी धार्मिक रूप देने का अशोक का प्रयास ज्यादा समय तक न चला। गुप्त साम्राज्य के "दण्डनायक" उतने धार्मिक

१—"अतपतिये मे कते किति लजूक अस्वथ अभीत कंमानि
आवुति बंधन बधानं पुनिसानं लीलति दंडानं पत बधान
तिनि दिवसानि यो ते दिने..."
चतुर्थ स्तम्भ लेख, इलाहाबाद लिपि में।

नहीं थे। पर,न्याय शासन में स्मृतियों का प्रभाव प्राय: सदैव बना रहा। पुराने रोमन तथा यूनानी साम्राज्य में, मध्ययुग के ईसाई काल में तथा भारत में आदि से अन्त तक मृत्यु को आत्मा का वास्तविक क्षय नहीं माना गया है। अतएव प्राणदण्ड को ऐसा प्रायश्चित्त तथा प्रतिशोध माना गया है जिसमें केवल एक जन्म की हानि होती है। जिन देशों में मृत्यु के बाद भी जीवन का सिद्धान्त मानते हैं उन देशों में प्राणदण्ड के प्रकार बड़े ही क्रूर तथा निन्दनीय हैं। आगे चल कर यह बात सिद्ध हो जावेगी।

ईसवीय सन् सात सौ के बाद भारत के हिन्दू तथा उनके बाद १२०० सन् से मुसलिम नरेशों ने दण्ड का आधार, स्रोत तथा निर्णायक अपने को मान लिया इसलिये उनकी जैसी इच्छा होती थी, वैसा दण्ड देते थे। उन्हीं का उदाहरण लेकर नीचे के कर्मचारी भी मनमानी करते थे। इसीलिये हमारे देश में क्रूरता तथा निर्दयता की हद हो गई। जार्ज राइली स्कॉट[1] शायद सही कहते हैं कि संसार के किसी भी देश में इतनी निर्दयता नहीं हुई होगी जितनी भारत में। मार्के की बात यह है कि जब समूचा संसार जङ्गली तथा मनमाने ढङ्ग के अत्याचार करता था, हमारे यहां एक निश्चित तथा सभ्य दण्ड प्रणाली थी। जब संसार के अन्य देश सम्भलने लगे, हमारी दण्ड व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी।

मध्य युगीय भारत में

स्कॉट लिखते हैं कि साधारण अपराध के लिये अङ्ग-भङ्ग कर देना या हाथ-पैर काट लेना भारत में मामूली बात थी। निन्दा तथा अपवाद के दोषी की ज़बान काट ली जाती थी। मलाबार की एक रानी अतिंगा ने अपनी दासी की छातियां इसलिये

---

1. The History of Torture throughout the ages. By—George Ryley Scott.

कटवा दी थीं कि वह उनके सामने बिना छाती ढँके आ गई थी। प्राणदण्ड के अनेक प्रकार थे। पानी में उबालकर मारना, पानी में डुबाकर मारना, अपराधी को सोने न देना और नींद के लिये तड़पा तड़पा कर मारना। चीन में अपराधी को गुदगुदा कर हँसाते हँसाते मार डालने की प्रथा थी। ये दोनों ढङ्ग मिलते-जुलते हैं। धूप में चला चला कर मार डालना, पेड़ में बांधकर मुख में शहद मल देते थे ताकि चींटियां काट काट कर मार डालें। घोड़े के रथ के पीछे बांध कर भगाते भगाते मार डालते थे। हाथों में पतला तार कस कर बाँध देते थे। उस पर ऊपर से ठंडा पानी छोड़ते थे। वह तार हाथ में धँसता जाता था। दो क़ैदियों के बाल एक दूसरे से बांध कर छोड़ देते थे। दोनों आपस में लड़ मरते थे। ऐसे लकड़ी के यन्त्र बनाये गये थे जिनमें लिङ्ग, हाथ, कान, नाक—किसी भी भाग को दबा कर नीबू की तरह निचोड़ देते थे। सर को पैर से बांध कर छोड़ देते थे।

मुग़ल शासन काल में अत्याचार या निर्दयता की हद हो गयी थी। यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसी निर्दयता साधारण से साधारण अपराध के लिये होती थीं। मुग़ल काल में सबसे प्रचलित दण्ड था कि भैंस की ताज़ी खाल में अपराधी को सी देते थे। ज्यों ज्यों खाल सिकुड़ती जाती थी उसके बदन की खाल उधेड़ती या समेटती चलती थी। कभी कभी मुख का भाग नहीं सींते थे इससे उस अभागे की भयानक पीड़ा का "आनन्द" लिया जा सकता था। ऐसी ही भयानक सज़ा थी भैंस की ताज़ी खाल का चुस्त कपड़ा पहना कर धूप में लिटा देना। सूखती हुई खाल, उसकी दुर्गन्ध, भूख प्यास की तड़पड़ाहट तथा सूखती खाल द्वारा मनुष्य की खाल का समेटना—बड़ी भयङ्कर मृत्यु होती थी। मुग़ल काल में हाथी के पैर तले कुचलवाना, दो तख्ते से सीना तोड़ देना, बदन भर में रस्सी कसकर प्राण ले लेना तथा

दीवाल में चुनवा देने की बड़ी प्रथा थी। मुग़लों के पहले के मुसलिम नरेशों ने मूंछ उखाड़ लेने का दण्ड निकाला था। जंघे के भीतर से हाथ निकाल कर कान पकड़ कर बैठने की सज़ा निकाली थी। इस पुरानी सज़ा का शिकार लेखक भी अपने बालकाल में हो चुका है। उसने पाठ नहीं याद किया था। मास्टर साहब ने यही सज़ा दे दी।

अकबर के समय में

उदार अकबर के समय में भी बड़े कठोर दण्ड प्रचलित थे। उस ज़माने में नगर में अपराध रोकना, अमन चैन क़ायम रखना, सार्वजनिक व्यवस्था ठीक रखना—यह सब काम पुलिस का था। सबसे बड़ा अफ़सर कोतवाल होता था। अकबर के ज़माने में कोतवाल के कर्त्तव्यों का निरूपण अबुल फ़ज़ल ने किया है। "कोतवाल को अधिकार था कि शाही नियमों के उल्लङ्घन पर दण्ड दे। यह दण्ड अङ्गभङ्ग भी हो सकता था।" सम्भवत: बिना उच्च अधिकारियों की आज्ञा के वह प्राणदण्ड नहीं दे सकता था। पर इस विषय में पुस्तकों से कुछ साफ़ नहीं मालूम होता है। फिर भी, दृढ़ता पूर्वक कोतवाली करने वाले को कोई रोक न थी। उस समय का समूचा शासन अनियन्त्रित तथा निरंकुश और पूर्णत: व्यक्तिगत था।[1] कठोरता पूर्वक बोझिल लगान वसूल की जाती थी। जिस ग्राम या नगर में शाही फ़ौज रहती थी उसका ख़र्च पास पड़ोस पर पड़ता था। कोतवाल को स्थानीय नियम तथा व्यवस्था को क़ायम रखने के लिये निरंकुश अधिकार प्राप्त थे। वह बड़े कठोर दण्ड देता था। दण्ड देने के तरीक़े वह स्वयम् ईजाद कर लेता था। साधारण तौर

1. Akbar, The Great Mogul – By Vincent A. Smith. Edn. 1919 Page 381.

पर भाले पर टांग देना, गुदा से लेकर पेट तक भाला निकाल देना, हाथी के पैरों तले कुचल देना, सर कटवा देना या अङ्गभङ्ग करा देना — ऐसे ही दण्ड दिये जाते थे। अकबर को खाल में जिन्दा सी दिये जाने की सजा पसन्द नहीं थी। उनके शासन काल में जहांगीर ने प्रयाग में एक को ऐसी सजा दी थी जिसे अकबर ने बहुत नापसन्द किया था। मैंने संक्षेप में अकबर ऐसे उदार शासक के जमाने में कितने कठोर दण्ड दिये जाते थे, उनका वर्णन कर दिया है। पर अंग्रेजी राज्य में कठोरता में विशेष कमी हुई, ऐसी बात नहीं है।

विदेशी शासन में

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में जिस समय काम शुरु किया, दण्ड के बड़े कठोर नियम प्रचलित थे। भारत में पुर्तगीज, डच तथा फ्रेन्च शासकों ने भी मुग़लकाल की प्रथा को चालू रखा। अकबर का शासन-काल ईसवीय सन् १५४२ से १६०५ तक था। पर, सत्रहवीं सदी में एक हाकिम ने एक नये ढंग की सजा निकाली थी। बबूल के कांटे पर धनी लोगों को बिठा कर उनसे पूछा जाता था कि खजाना कहां छिपाकर रखा है।[1] उस समय हमारे देश में अपराधी को थैले में बन्द करने की रोमन-प्रथा भी चालू हो गई थी। थैले में उसे बिल्ली के साथ बन्द कर देते थे। बिल्ली उसे नोच-नोच कर मार डालती थी। डच जब भारत आये तो अपने देश का "रैक" यानी छुरियों से भरी पहिया (चक्कर) के भीतर बन्द कर बोटी-बोटी काट देने का भयानक यंत्र भी ले आये थे। अंग्रेजों ने जब लंका से डच को भगा दिया तो अंग्रेजों को वहां पर ऊपर लिखे यातना के दोनों यंत्र मिले थे। डच लोगों ने भारत तथा लंका में प्राणदण्ड का एक और

१. देखिये — History of Tortures.

तरीक़ा निकाला था। वे लोहे की छड़ से जंघा तोड़ कर तब जान लेते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ज़माने में, बंगाल के नवाब मुर्शीद अली खां ज़मीदारों से रुपया लेने के लिये उन्हें नमक मिला कर भैंस का दूध पिला देते थे। अभागा या तो रुपया दे देता था तो उसकी दवा हो जाती थी अन्यथा पतली दस्त आते-आते वह मर जाता था।

लगान वसूली के लिये ऐसे निर्दय तरीक़े अंग्रेज़ों ने भी चालू किये थे। नादेहन्द की पीठ पर पत्थर लाद दिया जाता था। सन् १८५५ में मद्रास के सूबे में बहुतों के साथ ऐसा किया गया। बेंकटलाल राजुली और उनके पुत्र के साथ यही व्यवहार हुआ था। इनसे केवल दस रुपया बक़ाया वसूल करना था। दस रुपये की बात तो दूर रही, सवा रुपये के लिये सिंगुरिया नामक किसान को कठोर यातना दी गई—दो घण्टे तक उसका सर-पैर एक साथ बाँध दिया गया था।[1] हाथी के पैरों तले कुचले जाने की अंतिम सज़ा शायद सन् १८१४ में दी गई थी। वह घटना बड़ौदा की है।

इङ्गलैण्ड में दण्ड के सम्बन्ध में विचार-धारा के बदलने का प्रभाव उनके भारतीय शासन पर भी पड़ा। पर सन् १८५७ की क्रान्ति के काल में तथा सन् १९१८ में जलियांवाला बाग़ की घटना के बाद उन्होंने जो रोमांचकारी हत्याकाण्ड किया था उसकी लम्बी तथा दर्दनाक कहानी हम यहां नहीं देना चाहते। सन् सत्तावन में निर्दोष व्यक्ति का भी एक पैर दबा कर दूसरा पैर

---

१ देखिये--Report of theCommissioners for alleged cases of Tortures in the Madras Presidency, 1855. Presented to Parliament (पार्लमिण्ट के सामने यह रिपोर्ट पेश हुई थी)

ऊपर उठा कर खींच कर, चीर कर शरीर के दो टुकड़े कर देने की घटना महीनों तक होती रही। आज वे दण्ड नहीं हैं, उनकी यादगार बाक़ी है।

अपराधी की परीक्षा

प्राचीन भारतीय दण्ड प्रणाली में दण्ड की कठोरता के साथ यह धार्मिक भय भी बना रहता था कि कहीं निर्दोष को सज़ा तो नहीं दी जा रही है। इस भय ने "अंध विश्वास" का स्थान ले लिया था। मनु ने अपनी स्मृति के आठवें अध्याय में आदेश दिया है कि कथित अपराधी को विष पिला देना चाहिये। यदि वह अपराधी न होगा तो नहीं मरेगा। हज़ारों वर्ष बाद तक यह प्रथा अनेक रूपों में क़ायम रही। कथित अपराधी के हाथ पर खूब गरम पानी डालते थे। फिर उस पर ख़ाली कपड़ा लपेट देते थे। तीन दिन बाद कपड़ा खोलते थे। यदि हाथ में कोई घाव नहीं उभड़ा तो वह निर्दोष समझा जाता था। कड़ाही में तेल गरम करते थे। उसमें पीपल का पत्ता डाल कर उसकी गर्मी का अनुमान कर लेते थे। फिर उसमें अँगूठी या सिक्का छोड़ देते थे। कथित अपराधी से उसे निकालने के लिये कहते। यदि उसका हाथ नहीं जलता था तो वह निर्दोष समझा जाता था। इस प्रकार की प्रथायें किसी न किसी रूप में अब भी हमारे देश में पाई जाती हैं। ऐतिहासिक मिसालें भी हैं। सन् १८४६ में आरा (बिहार)के एक सौदागर ने अपने नौकरों के साथ यही प्रयोग किया था। सन् १८६७ में तांजोर में एक गृहस्थ ने, जिसके तीन स्त्रियाँ थीं, अपनी स्त्री के साथ यही व्यवहार किया था। इस प्रकार के अन्ध-विश्वास केवल भारत में ही नहीं थे। इङ्गलैण्ड में भी यह पता लगाने के लिये कि चोरी की है या नहीं, ठण्डे पानी में डुबा देते थे। यदि अपराधी होता था तो मर जाता था।

मिश्र आदि देशों में

पुराने ज़माने की दण्ड प्रणाली में सबसे बड़ा ऐब यह था कि एक ही अपराध के लिये एक ही प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था। जैसा और जो मन में आया, वही दण्ड दे दिया। अपराधी को जाति या समुदाय के सन्मुख उसका मुक़द्दमा करने के लिये नहीं, पर फ़ैसला सुनाने के लिये पेश किया जाता था। दण्ड का विधान-बद्ध रूप सबसे पहले रोम में हुआ—हमारे इस कथन का तात्पर्य पश्चिमी देशों से है। रोम का विधान मनुस्मृति से दो हज़ार वर्ष से अधिक बाद का है। पर, निरंकुश शासकों ने, रोमन नरेशों ने, विधान को ताक में रख दिया था। इस विषय में हम आगे चल कर अनेक बातें बतलावेंगे। रोम का दण्ड-विधान बड़ा कठोर था।

इतिहासकारों का कहना है कि प्राणदण्ड का सबसे पुराना ऐतिहासिक रिकार्ड ईसा से १५०० वर्ष पहले का है। वह मिश्र देश का है। उस ज़माने में मिश्र में राज्य की ओर से न्यायालय काम करते थे। मिश्र में जादूगरी या टोना टोटका के भी अपराधी को प्राणदण्ड देते थे। जिनको मृत्यु की सज़ा दी जाती थी, उनमें से अधिकांश को अपने मरने का (मारने का) तरीक़ा स्वयम् बतला देने का अधिकार था। इस प्रकार अपराधी स्वयम् अपना जल्लाद हो जाता था। अपराधियों को विष खाकर स्वयम् अपनी जान ले लेने का हक़ प्राप्त था। पर, मिश्र तथा प्राचीन असीरिया राज्य में मृत्युदण्ड में ज्यादातर कुल्हाड़ी से गला काट दिया जाता था। मृत्युदण्ड प्राप्त अपराधी को क़ब्र खोद कर गाड़ नहीं दिया जाता था। उसे इस सुख से वञ्चित कर दिया गया था। उसकी लाश जानवरों तथा पक्षियों के भोजन के लिये फेंक दी जाती थी। प्राचीन यूनान में भी कुछ ऐसी ही प्रथा थी।

वहां पर अपराधी को "विधि पूर्वक दफ़नाने" नहीं दिया जाता था। यही नहीं, यदि कोई ऐसा करता हुआ पकड़ा जाता था तो उसे ज़िन्दा दफ़ना दिये जाने की सज़ा मिलती थी।

प्राचीन मोज़ी जाति के नियमानुसार अपराधी को, मिश्र आदि देशों की तरह, प्राय: हरेक अपराध के लिये प्राणदण्ड मिलते थे। भिन्न अपराधों में भिन्न प्रकार के प्राणदण्ड होते थे। आम तौर पर पत्थर फेंक फेंक कर प्राण लिया जाता था। आग लगाने के अपराध में मूसा के देशबासी मौज़ी वर्ग आग में जला कर प्राण लेते थे। रोमन लोगों से तख़्ते में खीलें ठोंक कर प्राण लेने की प्रथा भी ग्रहण की गयी थी।

हिब्रू दण्ड प्रणाली बड़ी कठोर थी। वह भी "प्रतिशोध" के सिद्धांत पर अवलम्बित थी। रोमन लोगों की तरह यहूदी भी अपराधी को ऊँची चट्टान से नीचे गिरा देते थे। यहूदियों का एक दर्दनाक तरीक़ा था अपराधी के ऊपर गरम पिघला रांगा या शीशा डाल देना। कमरे में या गन्दे तहख़ाने में उसे बन्द करके भूखों मार डालते थे। गरम सलाकों से आखें फोड़ देते थे या शरीर भर को दाग कर मार डालते थे। तेज़ आरी से जैसे लकड़ी चीरी जाती है, उसी तरह शरीर चीर डालते थे। पुराने ज़माने में जान लेने का, पराई जान से खेलने का रोग चतुर्दिक था। कहते हैं कि जिस प्रकार इतिहास में प्राणदण्ड का सबसे पुराना इतिहास ईसा से १६०० वर्ष पूर्व, मिश्र में मिलता है, उसी प्रकार इतिहास में प्रसिद्ध आततायी नरेशों में प्रथम स्थान जूडिया के नरेश हीरोद प्रथम का है। इतिहास ने इसे "हीरोद महान" की उपाधी से विभूषित किया है। इस चाण्डाल ने अपनी स्त्री को मरवा कर बेदेलहम नगर के सभी बच्चों का क़त्लेआम करवा दिया था। इतिहास में ऐसे हत्यारों की संख्या कम नहीं मिलेगी।

रोम में

ऊपर हमने लिखा है कि निर्दयता की दृष्टि से भारत सबसे आगे था। पर, रोम की रोमाञ्चकारी गाथा पढ़ने के बाद भारत तो उसके सामने बच्चा ही प्रतीत होता है। ईसा से साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व रोम के दण्ड विधान की प्रसिद्ध बारह तालिकायें चालू की गईं। इन बारह तालिकाओं ने कम से कम एक हजार वर्ष तक पश्चिमी संसार के दण्ड विधान को प्रभावित कर रखा था। यहां पर हम रोमन दण्ड विधान का "ऊंच-नीच" या इतिहास न देकर केवल कुछ दण्ड प्रणालियां ही बतलाना चाहते हैं। बारह तालिकाओं ने प्राण दण्ड के योग्य अपराधों की संख्या में काफ़ी वृद्धि कर दी। इसके अनुसार:—[1]

(१) निन्दा या अपवाद या मानहानि कारक प्रकाशन तथा अपमानजनक गायन।

(२) हल चला कर पैदा की हुई खेती को किसी बालिग़ व्यक्ति द्वारा काट लिये जाने पर या जानवरों से चरवा देने पर।

(३) जान बूझ कर या बुरी नीयत से किसी घर में या घर के पास रखे खलियान में आग लगाना।

(४) यदि कोई दास चोरी करते पकड़ा जावे।

(५) संरक्षक का संरक्षित को धोखा देना।।

(६) झूठी गवाही।

(७) स्वतन्त्र नागरिक की जानबूझ कर हत्या।

(८) रात्रि में नगर की शांति भङ्ग करना।

(९) पिता माता या बुजुर्ग की हत्या।

---

1. A History of Capital Punishment—By John Lawrence.

अपराधों पर प्राणदंड की सज़ा अनिवार्य थी। यहूदी लोग व्यभिचार कराने वाली कुमारी कन्या को ज़िन्दा जला देते थे। रोमन भी प्रायः ऐसा ही करते थे। माता पिता की हत्या के अपराध में अपराधी को एक बोरे में भर देते थे। उसके साथ ही एक कुत्ता, ज़हरीला सांप, एक बनमानुस तथा मुर्ग़ा भी रख देते थे। फिर उस बोरे को ऊपर से सी कर पानी में डुबो देते थे। कितनी भयङ्कर मृत्यु होगी! अङ्गभङ्ग तथा तख़्ते में कीलें ठोक कर मारने की प्रथा तो बहुत दिनों तक प्रचलित थी। नरेश कौंस्टें-टाइन जब ईसाई हो गये तो उन्होंने इन दोनों प्रथाओं को बन्द कर दिया। कुमारी कन्याओं को दंड देने में एक अड़चन होती थी। नियमानुसार कुमारी कन्या का गला घोंट कर नहीं मारा जा सकता था। अतएव उनको यही दण्ड देने के लिये पहले जल्लाद उनके साथ भोग कर लेता था जिससे उनका कुमारीपन छूट जाता था। तब उनको मार डालता था। यह प्रथा टाईबेरियस नरेश के सामने बड़ी प्रचलित थी। रोम में सबसे बड़ा हत्यारा शासक कैलिगुला था। वह यातना के नये नये तरीक़े ईजाद किया करता था। उसका कहना था कि "प्राणदण्ड प्राप्त अपराधी को यह महसूस होना चाहिये कि वह मर रहा है।" निर्दय रोमन नरेश नीरो को अपराधियों को कुत्ते से नुचवाने में बड़ा आनन्द मिलता था।

उस समय दास प्रथा थी। प्रायः हरेक रोमन के पास एक दास था। इन अभागे दासों को बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था। कौंस्टेंटाइन के शासन काल में रोमन स्त्री के साथ व्यभिचार करने वाले दास को या तो ज़िन्दा जला देते या गला हुआ शीशा उसके गले में उड़ेल देते। अपराधी दास के मुख पर बन्द कंटोप पहना कर, हाथ पीछे बांध देते थे और रास्ते भर कोड़े से मारते मारते वध-भूमि में ले जाते थे।

हत्यारे रोमन जिस देश पर विजय प्राप्त करते थे वहीं अपना ऐसा शासन चला देते थे। इङ्गलैण्ड में रोमन राज्य के समय अपराधी स्त्रियों की छाती काटकर उनके मुख के पास इस तरह लगा दी जाती थी मानो वे उसे खा रही हैं। अङ्ग-भङ्ग की सज़ा साधारण अपराध के लिये दी जाती थी। साधारण अपराधों में भी कोड़ा मारने की रीति थी। रोमन दण्ड विधान के अनुसार स्वतन्त्र नागरिकों तथा दासों के लिये दो प्रकार के क़ानून या सज़ायें थीं। यूनान में भी ऐसा ही था। प्लेटो ऐसे बड़े दार्शनिक ने भी लिखा था कि "दासों के लिये पृथक् क़ानून होना चाहिये।" यूनान में "स्वतन्त्र नागरिक पर यातनायें" नहीं लागू होती थीं। पर राजद्रोह के अपराध में अपराध स्वीकार कराने के लिये यह जायज़ था। राजद्रोह का मतलब था—"प्रतिहिंसात्मक विचार" इङ्गलैण्ड के शासन में रोमन नियम यूनानी-रोमन नियमों का मिश्रण था। रोमन नियमानुसार अपना अपराध स्वीकार या अस्वीकार न करने वाले यानी मौन अपराधी को दण्ड नहीं दे सकते थे। चीन में भी यही नियम था। अतएव इङ्गलैण्ड में—ऐंग्लो सैक्शन देश में—अपराध क़बूल कराने के लिये गरम या ठण्डे पानी के अनेक प्रयोग किये जाते थे।

राजद्रोह की परिभाषा भिन्न देशों तथा भिन्न काल में भिन्न रही है। यूनान में "प्रतिहिंसक विचार" राजद्रोह था पर क़र्ज़दार से रुपया वसूल करने के लिये कर्ज़ देने वाले को अधिकार था कि उसे अपने मकान में या जहां चाहे बन्द कर दे और रुपया प्राप्त करने के लिये जैसी यातना चाहे दे। कोई रुकावट नहीं थी। रोमन विधान के अनुसार किसी दुष्ट या नीच शत्रु का कार्य राजद्रोह समझा जाता था।[1] समुदाय के विरुद्ध कोई भी कार्य

1. Perduellio—an act of base or evil enemy.



पैरों में कीलें ठोंक कर प्राण लेना

चीन तथा प्रशान्त महासागर के देशों की दण्ड विधि।

शत्रुता का काम था। समय काल पाकर "रोमन जनता की शान में बट्टा लगाने वाली बात" राजद्रोह हो गई।[1] जब रोमन नरेशों ने प्रजा का सब अधिकार अपने हाथों में ले लिया तो "राजा की शान में बट्टा लगाने वाला काम" राजद्रोह हो गया। इस अपराध में कठोर यातनायें देकर प्राणदण्ड दिया जाता था। सम्पत्ति भी ज़ब्त करली जाती थी। रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ राजद्रोह का अपराध तथा दण्ड भी विस्तृत होता गया।

चीन की दण्ड-प्रथा

कठोरता तथा निर्दयता में चीन भी पीछे नहीं था। जॉन लारेंस[2] के अनुसार चीन में प्राणदण्ड के लिये सर काट लेने का तरीक़ा बहुत चालू था। पर, हमारी सम्मति में यह भ्रम है। चूँकि चीनी विधि में धार्मिक भावना तथा अन्धविश्वास का काफ़ी सम्मिश्रण है अतएव बड़े कठोर नियम लागू होते थे। बिना अपराध स्वीकार किये दण्ड नहीं मिल सकता था। इसलिये बड़ी बेरहमी के साथ "स्वीकार" कराया जाता था। इस कार्य के लिये "किया क्वेन" या "तीन ज़ू" यन्त्रों का साधारणतः उपयोग होता था। पहले यन्त्र में पैर को दबाकर भर्ता कर दिया जाता था। दूसरे यन्त्र से हाथ को। ऐसे सैकड़ों यन्त्र यातना के लिये बनाये गये थे।[3] इन यन्त्रों का उपयोग १५ वर्ष की उम्र वाले युवक तथा युवती से लेकर ७० वर्ष तक की उम्र वाले के लिये होता था।

अपराधी के गले में लोहे की गर्म नसेनी से सूराख़ कर दिया जाता था। इसी सूराख़ भीतर से लोहे की जञ्जीर पहना

1. Crimen majistatis populi romani imminutae.
2. A History of Capital Punishment.
3. Penal Code China—By George Staunton. pub. 1810

दी जाती थी। वह ६० फीट लम्बी होती थी। उसे एक दम नंगा कर देते थे। फिर ज़ञ्जीर से हांकते हुए, कोड़ा मारते समूचे नगर या ग्राममें घुमाया जाता। एक और भयानक सज़ा थी शरीर के एक हज़ार टुकड़े करके प्राण लेना। चेष्टा की जाती थी कि अंतिम टुकड़ा करते तक अपराधी जीवित रहे। सर हेनरी नार्मन ने इस प्रथा का लोमहर्षक चित्र खींचा है। एक टोकरी में चाकुओं का पुलिन्दा लेकर जल्लाद बैठता था। हर अङ्ग को काटने के लिये पृथक्-पृथक् चाकू होता था। पुराने चीनी नियम के अनुसार क़ब्र में सोये हुये आदमी को तंग करना बड़ा भारी अपराध था।[1] क़ब्रिस्तान को अपवित्र करने वाले को "एक हज़ार अंगच्छेद" ऐसे दण्ड दिये जाते थे। कभी-कभी हत्या के प्रमाण के लिये न्यायाधीश को क़ब्र में से लाश निकलवा कर शव-परीक्षा करानी पड़ती थी। तीन हज़ार वर्ष पूर्व चीन में शव-परीक्षक थे। कौटिल्य ने भी शव-परीक्षकों का ज़िक्र किया है। अस्तु,यदि शव-परीक्षा में कोई बात साबित न हुई तो न्याया-धीश को कठोर दण्ड मिलता था। मुर्दे को तंग करने से सबका परलोक बिगड़ जाता है। यह प्रचलित धारणा थी।

चीनी विधान के अनुसार परिवार के किसी भी सदस्य के अपराध की जिम्मेदारी उसके गुरु तथा परिवार के प्रधान पर भी होती थी। अध्यापक तथा पिता या बड़े भाई आदि को भी दण्ड दिया जा सकता था। बाद में चलकर अध्यापक तथा अभि-भावक का दण्ड बन्द हो गया। यदि आज ऐसी प्रथा चालू कर दी जावे तो निस्सन्देह अपराध कम हो सकते हैं। सभी नियमों की कठोरता समयानुसार कम होती गई। एक हज़ार अंगच्छेद में घण्टों तड़प-तड़प कर मृत्यु होती थी। बाद में भी यह प्रथा

1. Notes and Commentaries on Chinese Criminal Law–By Earnest Alabaster. Edn. 1899.

क़ायम रही पर रूप बदल गया। बाद में अपराधी को पहले मार डालते थे तब शरीर के टुकड़े करते थे। उसका परलोक तो बिगड़ ही जाता था क्योंकि चीनी धर्म के अनुसार जो व्यक्ति समूचे शरीर के साथ क़ब्र में नहीं जाता उसका परलोक बिगड़ जाता है। इसीलिये चीनी गला घोंटकर मारा जाना सब से दयालु दण्ड समझते थे क्योंकि उसमें शरीर ज्यों का त्यों बना रहता था। समयानुसार क़ब्रिस्तान भ्रष्ट करने के दण्ड में भी कठोरता कम की गई। उक्त अपराधों का दण्ड १०० कोड़े या थप्पड़ तथा ३००० मील दूर का देश-निकाला दिया जाता था।

सैंडविच द्वीप में कुमारी कन्या के साथ व्यभिचार पर कठोरतम सज़ा दी जाती थी। पुरुष तथा कन्या की आखें निकाल ली जाती थीं। चीनी विधान में विवाहिता स्त्री से व्यभिचार को बहुत ही घृणित कार्य समझा जाता था। किसी हत्या से सम्बंधित व्यक्ति को भी उतना ही कठोर दण्ड मिलता था जितना वास्तविक हत्यारे को। ऊपर लिखे दोनों अपराधों की सज़ा थी प्राणदण्ड। हर प्राणदण्ड की सज़ा में अपराधी की सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।

चीन के जेलों में भी कठोर यातना दी जाती थी। भारत की तरह कारागार की प्रथा वहां बहुत पुरानी है। रात्रि में सभी क़ैदियों को तख़्ते की खाट पर सोने दिया जाता था। उनके पैर लकड़ी के दो सूराख़ों में रख दिये जाते थे। समूचे शरीर को लोहे की जंजीरों से कसकर बांध दिया जाता था। कभी कभी क़ैदियों को नुकीली जञ्जीर से बांधकर छत में टांग दिया जाता था। स्त्रियों को केवल हत्या या व्यभिचार के अपराध में जेल में रखा जा सकता था। अन्यथा उसे फ़ैसला होने तक अपने पति या पिता माता की संरक्षता में रहने दिया जाता था।

जापान में

चीन का प्रभाव जापान के दण्ड विधान पर भी काफ़ी पड़ा था। अपराधी से सत्य क़बूल कराने के लिये कठोर यन्त्रणा देना वहां जायज़ था। कांटेंदार कोड़ा मारने का बड़ा रिवाज़ था। अधिक से अधिक डेढ़ सौ कोड़े मारे जा सकते थे। अदालती यन्त्रणा का जापान में अन्त सन् १८७३ में हुआ। पर आज तक जापानी दण्ड विधान का मौलिक रूप नहीं बदला है। वह था—"आंख के लिये आंख तथा दाँत के लिये दाँत" देना होगा। जापान में बड़े कठोर दण्ड प्रचलित थे।[1]

धर्म विरोधी कार्य के लिये तख़्ते में कीलें मार कर टाँग देते थे। मृत्यु-नृत्य की सज़ा होती थी जिसमें बहुत जल्दी जलने वाली लकड़ी पर अपराधी को खड़ा करके आग लगा देते थे। पीड़ा से तड़पता मानव जब उछल-कूद करता था तो दर्शकों को बड़ा आनन्द मिलता था। अनेक अपराधों के लिये, जिनमें मातृ-पितृ-गुरु घात तथा व्यभिचार सब से जघन्य थे, ज़हरीले सर्पों से भरी नाँद में छोड़ देते थे। पैर ऊपर करके, सर को नीचे गढ़े में गाड़ देते थे। शरीर के २१ टुकड़े काटते थे। कुलीन अपराधियों को आत्म-हत्या या "हरीकीरी" करने का अधिकार था यानी अपने हाथ से अपने को छुरी मार कर प्राण दे सकता था। जापान से ईसाई धर्म को उठाने के लिये जापानी ईसाइयों को कठोर दण्ड दिये गये थे। कहते हैं कि सन् १६६२ के सितम्बर के महीने में नागासाकी नगर में ५० ईसाई जिन्दा जला दिये गये थे। जापान में अब भी प्राचीन निर्दयता तथा बर्बरता बाक़ी है। इस विषय में हम आगे चलकर विचार करेंगे।

---

1. A True description of the mighty kingdom of Japan and Siam—Translated from Dutch by Roga Manley.

इङ्गलैंड के अमानुषिक अत्याचार

दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों की गुलामी करने के कारण इङ्गलैंड का हमारे न्याय-शासन, दण्ड-प्रथा तथा जेल-जीवन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता के बाद भी किसी न किसी रूप में वह प्रभाव बाक़ी रह गया है। वह भी समाप्त हो जावेगा। पर, उसके लिये जेल विज्ञान से परिचित लोगों को आगे आना पड़ेगा तथा काम करना होगा। जेल-सुधार के काम के नाम पर नीच तथा गन्दी प्रवृत्ति के पदलोलुप "समाज-सेवकों" की आवश्यकता नहीं है। सच्चे तथा ईमानदार सेवक चाहिये।

अस्तु, इङ्गलैंड के सम्बन्ध में हम लोग कुछ विस्तार के साथ लिखेंगे।

आज से लगभग हज़ार सवा हज़ार वर्ष पहले, जब कि इङ्गलैंड आधा जङ्गली था, प्राणदण्ड के लिये पेड़ या किसी ऊँचे स्थान पर लटका कर रस्सी के फन्दों से प्राण लेने का तरीक़ा वहां प्रचलित था।[1] रस्सी के फन्दों से प्राण लेने की विधि, बहुत ही सुधार के साथ, आज भी इङ्गलैंड, इङ्गलैंड के आधीन देशों में तथा भारत आदि में वर्तमान है। इङ्गलैंड में तो पुराने ज़माने में १००, या ५० आदमियों को (अपराधियों को) एक पंक्ति में खड़ा करके फांसी पर लटका देते थे। वह दिन बड़े उत्सव का, समारोह का होता था। लोग अच्छे अच्छे कपड़े पहन कर अपने बाल-बच्चे लेकर तमाशा देखने जाते थे, मानो सम्राट् का राज्याभिषेक देखने जा रहे हों।

1—History of Capital Punishment—John Lawrence.

फांसी की सज़ा प्रचलित होने पर भी एँग्लो-डेनिश (आंग्ल जाति के तथा डेन्मार्क के रहने वाले) इङ्गलैंड के नरेशों को अधिकार था कि जिस विधि से "जान लेना चाहें" "प्राणदण्ड देना चाहें" दे सकते थे। ब्रिटिश इतिहास में, और सम्भवतः पश्चिमीय इतिहास में, प्राणदण्ड के विरोधी प्रथम व्यक्ति थे विजेता नरेश विलियम प्रथम जिनको "दि कांकरर" (विजेता) कहते थे। नारमण्डी के ड्यूक का यह जारज पुत्र अपने बाहुबल से इङ्गलैंड की गद्दी पर बैठा था। यह आसन प्राप्त करने में उसे बड़ा रक्तपात करना पड़ा था। पर, शत्रु का या राज्य के विरोधी का प्राण लेने में जहां उसे लेशमात्र भी संकोच नहीं था वहीं उसे अपराध के कारण प्राणदण्ड देने में बड़ा संकोच होता था। अतएव उन्होंने आज्ञा जारी की कि किसी को सूली पर न लटकाया जावे। अपराधी का अङ्गभङ्ग कर दिया जाता था। सूली की प्रथा समाप्त करने के बाद विलियम ने प्राणदण्ड के लिये, और वह भी प्रायः राजनैतिक अपराधियों के लिये, सर काट लेने का तरीक़ा निकाला। इङ्गलैंड में दण्ड-स्वरूप सर काट लेने का पहला कार्य सन् १०७५ में हुआ। बाद में चल कर उस देश में सैकड़ों वर्षों तक यह दण्ड केवल "सम्मानित" तथा "महत्वपूर्ण" व्यक्तियों को दिया जाता था। छोटे आदमियों को सूली पर लटका देते थे। अस्तु, विलियम प्रथम का समय सन् १०२७ (जन्म) या १०२८ से १०८७ (मृत्यु) तक था।

विलियम ने सूली की प्रथा बन्द कर दी थी पर नरेश हेनरी प्रथम ने इसे फिर से चालू कर दिया। सर काटने के लिये उन्हों ने तलवार के स्थान पर कुल्हाड़ी का अधिक प्रयोग किया किन्तु आगामी २०० वर्षों में सूली का रिवाज़ घटता ही गया। ईसाई धर्म तथा उसमें "सम्प्रदायवाद" जैसे रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट के प्रचार के साथ ही, राजा के सम्प्रदाय के विरुद्ध काम

करने वालों को प्राणदण्ड देने की प्रथा उस देश में सन् १३८२ में शुरू हुई और सन् १६७७ तक हज़ारों नरनारी इसके शिकार हो चुके थे। धर्म के नाम पर अन्तिम प्राणदण्ड सन् १६७७ में हुआ था। पर, धर्म के इतर, छोटे छोटे अपराधों पर भी प्राणदण्ड दिया जाता था। केवल हत्या के लिये ही प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। बारह आने यानी एक शिलिङ्ग मूल्य का सामान भी चुरा लेने पर सूली पर लटकना पड़ता था। इतनी कठोरता होते हुए भी मध्य युग में. यानी ग्यारहवीं शताब्दि से सत्रहवीं शताब्दि तक वहां पर अपराध बहुत बढ़ते गये। यही दशा यूरोप की भी थी।

सन् १२७६ में इङ्गलैंड में २८० यहूदियों को शाही सिक्का "काट कर" उसका मूल्य कम कर देने या नक़ली सिक्का चालू करने के लिये प्राणदण्ड दिया गया था। संसार में जिस समय सरकारी सिक्का चला, उसकी मर्यादा क़ायम रखने के लिये बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था। प्रायः सभी देशों में जाली सिक्का बनाने वाले को प्राणदण्ड दिया जाता था। सरकार की मुद्रा नीति में गड़बड़ी करना यानि जाली सिक्का बनाना आज भी घृणित अपराध है।[1]

विचित्र अपराधों पर भी इङ्गलैंड में प्राणदण्ड हो सकता था। नरेश एडवर्ड प्रथम ने (जन्म १२३६, मृत्यु १३०७) साउथ

---

१. भारतीय दण्ड विधान के अनुसार भारत सरकार के किसी भी मूल्य के सिक्के को जाली बनाने के अपराध में आजन्म कालापानी (२० वर्ष की सजा) या १० वर्ष की सजा तथा जुर्माना हो सकता है। ऐसे अपराधी को जेल के अच्छे व्यवहार पर एक तिहाई अवधि के बाद जमानत पर भी नहीं छोड़ सकते। दण्ड के लिये देखिये धारा २३१-२३२.

गेट नामक नगर के मेयर (म्युनिस्पिल चेयरमैन) तथा नगर के फाटक के चौकीदार को इसलिये सूली पर टँगवा दिया था कि उन्होंने ठीक समय पर नगर का फाटक बन्द नहीं किया था जिससे हत्या का एक अपराधी नगर के बाहर भाग गया था। नरेश एडवर्ड तृतीय (जन्म १३१२, मृत्यु १३७७) के शासन काल में राजद्रोह के अपराध में (राजा के विरुद्ध विद्रोह ही नहीं) स्त्रियों तक को जिंदा जला देने की प्रथा चली। एडवर्ड तृतीय ने सम्मानित व्यक्तियों के लिये कुल्हाड़ी से गला काटना तथा साधारण व्यक्ति को सूली पर टांगने का नियम बनाया था। इस प्रकार अपराधियों में भेदभाव तो हो गया पर अपराधों में नहीं। छोटे बड़े अपराध का विभाजन न होने के कारण प्रायः हरेक अपराध पर प्राणदण्ड मिलता था। पादरियों के लिये कुछ छूट अवश्य थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गिरजाघर के धार्मिक प्रभाव से दण्डप्रथा में निर्दयता तथा कठोरता की कमी (किसी अंश में) यूरोप तथा इङ्गलैंड में हुई थी। पर यह कमी पहले पादरियों के लिये हुई। बाद में इसका प्रभाव औरों पर भी पड़ा। प्राणदण्ड के पूर्व पादरी का अपराधी से बातें करके भगवान से क्षमा-याचना करना तथा "अपने अपराध को स्वीकार कर पश्चात्ताप प्रकट करना" ज़रूरी हो गया था। आज तक यह नियम चालू है। पर गिरजाघर ने हस्तक्षेप करके, दण्ड प्रणाली में अपनी टांग अड़ा कर वास्तविक कल्याण अपना ही किया था। ईसवीय सन् ६१५ में पेरिस की पाँचवी सभा के चौथे आदेश के अनुसार किसी अपराधी पादरी की गिरफ्तारी या उस पर मुक़द्दमा बिना बड़े पादरी की अनुमति के नहीं हो सकता था। प्रायः पादरियों के मुक़द्दमे के लिये पृथक् न्यायाधीश भी बड़े पादरी नियुक्त कर देते थे। कुछ ऐसा ही नियम अंग्रेजों ने भारत में ब्रिटिश हुकुमत के समय अंग्रेज़ हाकिमों या अंग्रेज़ जनता के

लिये बना रखा था। काले लोग गोरे का मुक़द्दमा नहीं कर सकते थे। जेलों में गोरे क़ैदियों के लिये अलग अलग बारिक थे और उनको बड़े आराम से रखा जाता था।

अस्तु, एडवर्ड तृतीय के शासन काल में इङ्गलैंड पर गिर्जा-घर का काफ़ी प्रभाव था तथा रोम के पोप का "प्रभुत्व" था। अतएव पेरिस का नियम वहाँ भी लागू था। सन् १४८७ के बाद से इस "पादरी विशेषाधिकार" में तत्कालीन दृष्टि से क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। यह व्यवस्था केवल प्रथम अपराधी पादरियों के लिये मानी गई। दुबारा अपराध करने वाले को सबके समान दण्ड का अधिकारी बनना पड़ता था। हेनरी आठवें के (जन्म सन् १४९१, मृत्यु सन् १५१७) शासन काल में यह सहूलियत भी समाप्त हो गई। हेनरी आठवें ने पोप के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था।

राजद्रोह की व्याख्या

प्राणदण्ड की प्रथा के लिये एडवर्ड तृतीय का शासन काल कई दृष्टियों से विख्यात है। "राजद्रोह का स्टैचू" (क़ानून) भी उन्हीं के शासन काल में क्रम-बद्ध हुआ। इस समय तक नरेश किसी भी अपराध को "राजद्रोह" घोषित कर कठोर से कठोर दण्ड दे सकता था। पर एडवर्ड के ज़माने में रईस तथा ज़मींदार इतने प्रभावशाली हो गये थे कि उन्होंने नरेश को बाध्य किया कि 'राजद्रोह' की व्याख्या कर दें। अपने मन से किसी के विरुद्ध किसी भी क़ानून के भीतर राजद्रोह घोषित न कर दें। इसलिये १३५० के क़ानून के अनुसार राजद्रोह में निम्नलिखित अपराध शामिल किये गये:—

(१) राज में बाहर से नक़ली मुद्रा ले आना (२) राजा की मुद्रा या मुहर को नक़ली बनाना (३) राजा के विरुद्ध कार्य आदि।

1. Social Encyclopaedia – See. "Treason"

यही राजद्रोह थे। एक श्रेणी छोटे राजद्रोह[1] की थी। नौकर का अपने मालिक को मार डालना, पत्नी का पति को मार डालना, राजा के अतिरिक्त किसी और व्यक्ति का अनुयायी होना[2], यह सब छोटा राजद्रोह था। छोटा राजद्रोह सन् १८२८ में समाप्त हुआ। अन्यथा ऊपर लिखे सभी राजद्रोह की सजा प्राणदण्ड थी।

सन् १३५० के क़ानून में एक विचित्रता यह थी कि "राजा को चोट पहुँचाना या उसके विरुद्ध षडयन्त्र करना" राजद्रोह नहीं था। बाद में इस क़ानून की व्याख्या इस प्रकार कर दी गई कि "राजा के व्यक्तित्व को खतरे में डालने वाली" कोई भी चीज़ या काम राजद्रोह है। कुछ समय बाद "किसी भी क़ानून की हिंसात्मक अवज्ञा—ज़बरदस्ती रुकावट" भी राजद्रोह हो गया। उदाहरणार्थ, सन् १७१० में "सभी सम्प्रदायों की समानता" के क़ानून के विरुद्ध लन्दन में कुछ लोगों ने उग्र प्रदर्शन किया। जन समूह ने कई इमारतें नष्ट कर दीं। इन सबको राजद्रोही घोषित करके दण्ड दिया गया। इसके भी ४२ वर्ष पूर्व सन् १६६८ में जनता की भीड़ ने कुछ वेश्यालयों को नष्ट कर दिया तथा जेल के फाटक में घुस गये थे।[3] इनको राजद्रोह का दण्ड मिला। सन् १८४८ तक राजद्रोह का अभियोग अपने व्यापक रूप में बना रहा। उस वर्ष अनेक "राजद्रोहात्मक" अपराधों को पृथक करके "फ़ेलोनीज़ ऐक्ट" पास हुआ था।[4]

सन् १६५० तक इङ्गलैण्ड के प्राचीन सामुद्रिक क़ानून के अनुसार ६ पेंस (लगभग ६ आना) क़ीमत तक की जहाज़ी रस्सी या जाल काटने या चुराने के अपराध में प्राणदण्ड मिलता था। ऐसे अपराधों में प्रायः गला काट दिया जाता था। उन दिनों

---

1. Petty Treason. २. यह जर्मन विचार का प्रभाव था।
3. See Messengers' case 4. Felonies Act. 1848.

उस देश में तहखानों में बन्द करके भूखों मार डालने, आदमखोर चूहों से भरे तहखाने में आदमी को बन्द कर देना ताकि चूहे उसे नोच डालें, बहुत गन्दा पानी पिलाकर मार डालना, या पानी में उबाल कर मार डालना मामूली बात थी।[1] सोलहवीं सदी में एक अपराधी रसोइये को यही सज़ा दी गई थी। सन् १५३२में साउथ फील्ड में मालिक की अवज्ञा करने के अपराध में एक नौकर को पानी में उबाल कर मारा गया था। पति की हत्या के अपराध में सन् १७६० में यानी आज के १६४ वर्ष पूर्व तक, एक स्त्री को ज़िंदा जला दिया गया था। पति-घातिनी या ऐसे ही अपराधों के लिये पन्द्रहवीं से अठारहवीं सदी तक, ब्रिटेन में तथा यूरोप में हज़ारों स्त्रियाँ जिन्दा जला दी गई थीं। "टोनही" औरतों को पानी में डुबाकर मार डाला जाता था। फ्रांस में यह प्रथा सन् १७६३ तक थी। इङ्गलैण्ड में, सन् १६८८ में, स्टैंडसफील्ड के फ़िलिप नामक व्यक्ति को अपने पिता की हत्या से सम्बन्ध रखने के कारण (हत्या नहीं) प्राणदण्ड की सज़ा मिली थी। पर, जान लेने के पहले उनकी जबान काट दी गई थी। सन् १६६८ में एक क़ानून पास हुआ था जिसके अनुसार किसी दूकान से बारह आने तक की सामग्री चुराने वाले को चाहे कितनी भी उम्र का हो, प्राणदण्ड मिलता था। बहुत थोड़े वर्ष पहले तक ६–१० वर्ष के बच्चों को फांसी पर लटका दिया जाता था। बच्चों के साथ इस निर्दय व्यवहार को बन्द कराने का श्रेय मुख्यतः इङ्गलैण्ड की "मेरीन सोसायटी" को है जिसकी स्थापना सन् १७५६ में हुई थी।[2] उनके अपराध के प्रति वास्तविक उदार व्यवहार तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सन् १९०८ तथा १९३३ के क़ानून से

---

1. History of Tortures all Through the Ages-Scott.
2. Society and its criminals—Reiwald. Page 10.

शुरू हुआ।[1] सन् १७८० में इङ्गलैण्ड में २४० ऐसे अपराध थे जिनकी सजा केवल प्राणदण्ड थी।[2] इन २४० अपराधों में सन १७१३ तथा सन् १७२३ के क़ानून भी शामिल थे जिनके अनुसार पेड़ काटना या ४ शिलिङ्ग, २॥) रुपये तक का सामान चुराना प्राणदण्ड का अपराध था।

सन् १८२३ में पांच क़ानून पास हुये जिनके अनुसार लगभग १०० अपराधों को प्राणदण्ड से मुक्त कर दिया गया। पर, इसके पहले सन् १८१८ में ही बैंक आव इङ्गलैण्ड के एक पौंड (पन्द्रह रुपये) के जाली नोट बनाने के अपराध में कई व्यक्ति सूली पर लटकाये जा चुके तथा जाली बैंक नोट (सरकारी नोट) मुद्रा बनाने के अपराध में सन् १८२० में ४६ व्यक्तियों को फांसी मिल चुकी थी। तलवार से गला काटने की प्रथा हेनरी अष्टम् ने ही अपने शासनकाल में बन्द कर दी थी। गला काटने की जिम्मेदारी कुल्हाड़ी पर थी। इस कुल्हाड़ी की धार को देखकर (छूकर) अपना गला काटने के पहले सर वाल्टर रैले ने कहा था—"इस औषधि की धार बड़ी तेज है।"[3] यह घटना २६ अक्टूबर १६१८ की है।

यूरोप में

इङ्गलैंड में प्राणदण्ड की प्रथा कब से शुरू हुई, इसका सबसे पुराना इतिहास ईसा से ४५० वर्ष पूर्व का है।[4] उस जमाने में

---

1. The Prevention of Crimes Act, 1908; The Children and Young persons Act 1933.
2. Man's Judgement of Death—By Lewis E. Lawes. pub. 1923.
3. "It is a sharp Medicine"—See "A History of Capital Punishment." 4. यही ग्रन्थ

प्राणदण्डित अपराधी को घोर दल दल में फेंक देते थे। दल दल उसे हजम कर जाता था। प्राचीन काल का इतिहास देखने से यह प्रकट होता है कि प्राय: सभी अपराधों की सजा प्राणदण्ड ही थी। अभी थोड़े वर्षों पूर्व इस स्थिति में परिवर्तन हुआ है।

अतएव प्राचीन तथा मध्य कालीन यूरोप में बात बात पर प्राणदण्ड मिलना स्वाभाविक था। संभवत: यूरोप पर रोमके विधान का प्रभाव बहुत अधिक था और है। आज भी यूरोप के दण्ड विधान तथा दीवानी के क़ानून पर रोमन प्रभाव का ही प्राबल्य है। श्री ब्राउन के कथनानुसार "वर्तमान यूरोपीय महाद्वीप के देशों में वास्तविक क़ानून प्रणाली तथा जिस भाषा में वे लिपिबद्ध हैं, वह रोमन क़ानून से प्राप्त हुई है।"[1] रोम की "बारह तालिकाओं" का भी प्रबल प्रभाव रहा होगा—इसलिए भी कि प्राय: पूरा यूरोप रोम साम्राज्य (मध्ययुगीय "पवित्र रोमन साम्राज्य नहीं") के आधीन रह चुका था। इसलिए ज़िन्दा, दफ़ना देना, जला देना, शरीर को जानवरों से नुचवा डालना, इन्द्रिय काट लेना, गर्म लोहे से दाग़ देना आदि प्रथाओं का[2] प्रचलित रहना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। दूसरे को दण्ड देने की, प्रतिशोध की इससे बड़ी और क्या मिसालें मिल सकेंगी। इसमें क्या आश्चर्य है कि फ्रांस के मार्शल गिलीज़ दि रे ने सन् १४४० में १४० बच्चों का गला कटवाया था। रूस के सम्राट् आइवान भयङ्कर (इनको भयङ्कर की उपाधि थी) ने नोवोग्रोड नगर के २०,००० निवासियों को काफ़ी यातना देकर मारा था! इङ्गलैंड के नरेश जेम्स द्वितीय ने पैर के द्वारा प्राण लेने का तरीक़ा निकाला था! इङ्गलैंड में तथा यूरोप में भी १६वीं

---

1 The Austrian theory of law—By W. Jethro Brown pub. 1906. पृष्ठ २४८

2. Society and its Criminals. Page 9.

शताब्दि के अन्त तक आग लगाने पर प्राणदण्ड मिलता था चाहे उसमें प्राणहानि हो या न हो। जर्मनी में अनेक अपराधों की सज़ा थी भाले से कोंच कोंच कर मारना। यह दण्ड देने के लिये सेना से सिपाही बुलाये जाते थे। फ्रांस में जालसाज़ी के लिये भी प्राणदण्ड मिलता था। चोरी से माल लाने की या सरकार की आज्ञा के बिना समुद्रतट से माल लाने पर प्राणदण्ड मिलता था। स्वेडन का १ मई १५६३ का क़ानून था कि बलात्कार तथा पुरुष का पुरुष के साथ व्यभिचार का अपराध भी प्राणदण्ड के योग्य है। स्वेडन में नाजायज़ सन्तान की हत्या करने वाली माताओं को भी प्राणदण्ड मिलता था। सन १७३४ में स्वेडन में ६८ अपराधों के लिये प्राणदण्ड दिया जाता था। बलात्कार के लिये दक्षिण अफ्रीका में भी प्राणदण्ड की सज़ा थी। पुरुष का पुरुष के साथ व्यभिचार पर रोम में भी प्राचीन काल में प्राणदण्ड मिलता था। इस प्रकार हिब्रू काल में प्राय: जिन जिन चीज़ों के लिये प्राणदण्ड मिलता था वे दण्ड आज के ६०, ७० वर्ष पूर्व तक वर्तमान थे। केवल दण्ड-प्रणाली में कहीं कहीं अन्तर था।

खम्मूराबी के विधानानुसार पुराना तरीक़ा डुबा कर मारने का था या ऊंचे से नीचे गिरा देते थे। असीरिया में शरीर को छेद डालते थे। भाला आर-पार कर देते थे। हिब्रू समाज में पत्थर से मारते थे या जला देते थे। रोम में ग़ैर रोमन नागरिकों को तख़्ते में कीलों से ठोंक देते थे। आज ये सब प्रथायें प्राय: समाप्त हो गई हैं। ब्रिटिश साम्राज्य, भारत, अलबानिया, मिश्र, जापान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ प्रदेशों में अब प्राण-दण्डित को फाँसी दी जाती है। लैटविया में या तो गोली मार देते थे या फांसी पर लटका देते थे। फ्रांस में गिलोटीन से प्राण

लेने की प्रथा थी और है। संयुक्तराज्य अमेरिका के १५ राज्यों ने जान लेने के लिये बिजली की कुर्सी को अपनाया है।[1]

इस पुस्तक में हमने सभी देशों के प्राणदण्ड की प्रथा तथा उनका इतिहास नहीं दिया है। जितना जो कुछ आवश्यक था, हमने बतला दिया। अब हम प्राणदण्ड की वर्तमान कतिपय महत्वपूर्ण प्रथाओं का परिचय देना चाहते हैं।

फाँसी

अज्ञात काल से—हजारों वर्ष पूर्व से सूली द्वारा प्राणदण्ड की प्रथा थी पर उसे बहुत ही निन्दनीय समझा जाता था। बहुत ही छोटे तथा गन्दे अपराधों के लिये सूली पर लटकाया जाता था अथवा छोटी जाति या छोटे पद के लोगों के लिये ही यह "अपमान-जनक मृत्यु" सुरक्षित थी। बड़े लोग, पदवान लोग, कुल्हाड़ी की धार से स्वाहा होते थे। पर, आज उल्टी ही बात है। आज अधिकांश देशों में प्राणदण्ड के लिये श्रेष्ठ तथा सरलतम उपाय फाँसी है। फाँसी का फन्दा मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने वाली नस[2] को एक ही झटके में, पांच सेकेण्ड में तोड़ कर शरीर को चेतना हीन तथा निर्जीव कर देता है। पर आज का फाँसी का ढङ्ग तथा फन्दा पुराने ज़माने में न था। शुरू शुरू में पेड़ की शाखा में टांग देते थे जिसमें दम घुट घुट कर प्राण जाते थे। मध्ययुग में किसी भी पेड़ में अपराधी को लटका देना एक मामूली बात थी। सड़क के किनारे के वृक्षों में ऐसा दृश्य इतना साधारण हो गया था कि विशेष ध्यान भी नहीं आकर्षित करता था। टँगे हुये मुर्दे को कई दिन तक हवा में सड़ने के लिये छोड़

---

1. Encyclopædia Britannica 14th Edition. 1932. See Capital Punishment. Page 811.
2. Medulla oblongata.

दिया जाता था ताकि उसकी दुर्दशा देखकर अन्य लोगों को नसीहत मिले। क्रमशः वृक्ष की प्रथा बदली और दो खम्भों पर एक शहतीर रख कर टांगने लगे। पर, उसमें एक बड़ा दोष था। फ़र्श पर खड़े आदमी के गले में रस्सी बांध कर ऊपर खींचने में उसका दम घुटने में काफ़ी समय लगता था, उसे काफ़ी कष्ट होता था। बाद को एक चबूतरा बनाया जाने लगा। पर, अन्त में जो सुधार हुआ है, उससे दण्डित का कष्ट बहुत ही कम हो गया है। जहां पर दण्डित खड़ा होता है, उसके नीचे एक तह-ख़ाना होता है जिसमें तख़्ता झूल कर नीचे आ जाता है। इससे अपराधी रस्सी से ऊपर न खिंचकर नीचे जाता है और गले की नस तुरन्त टूट जाती है। कितनी ऊँचाई से नीचे गिरना चाहिये इसका बाक़ायदा अन्दाज़ लगा लिया जाता है। फाँसी के एक दिन पहले मोम का आदमी या बालू का बोरा लटका कर देख लिया जाता है कि रस्सी मजबूत है या नहीं। गला टूट सकता है या नहीं। भारत के जेलों में कई बार ऐसा हुआ है कि रस्सी टूट गई है। अपराधी ज़मीन पर आ गिरा है। कभी कभी शातिर बदमाश मुँह घुमा कर रस्सी दांतों से पकड़ लेते हैं ताकि गला न तोड़ पावे और बोझ बँट जाय। ऐसी दशा में किनारे खड़ा जेल अधिकारी ज़ोर से पैर से मार देता है जिससे समूचे दांत तक टूट कर गिर जाते हैं और गला टूट जाता है। मद्रास तथा कई प्रदेशों के जेलों में अनुभवी जल्लाद न होने के कारण बड़ी दर्दनाक मृत्यु होती है। ७ अप्रैल १६५३ को मद्रास के गवर्नर के पत्र से मुझे प्रकट हुआ कि वहां जेल के कई कर्मचारी मिल कर यह काम करते हैं। कोई पैर बांधता है, कोई आंख पर पट्टी, कोई तख़्ते का पल्ला हटाता है इत्यादि। कोई अनुभवी जल्लाद वहां नहीं है।

उत्तर प्रदेश में यह काम बड़ी सावधानी तथा तत्परता के साथ होता है। इङ्गलैंड में जेल के गवर्नर को सूचना दे दी जाती है कि किस सप्ताह में फाँसी होगी। सप्ताह के भीतर कौन दिन फाँसी होगी, इसका निश्चय जेल का गवर्नर यानी जेल सुपरेंटेंडेंट करता है। भारत में गृहसचिव दिन भी निश्चित कर देते हैं। हमारे यहां सूर्योदय के पहले या सूर्योदय होने तक फाँसी हो जानी चाहिये। इङ्गलैंड में आठ बजे दिन का समय निश्चित है। अभागे अपराधी को अपने सम्बन्धियों से एक दिन पहले मिला दिया जाता है। तभी वह समझ जाता है कि उसका समय आ पहुँचा। पर वास्तव में उसे फाँसी के घण्टे दो घण्टे पहले सूचना दी जाती है। एक दो दिन पहले से उसे इच्छानुसार भोजन दे दिया जाता है।

सभी जेलों में फाँसी नहीं होती। सभी जेलों में इसका प्रबंध नहीं होता। उत्तर प्रदेश के ५७ जेलों में केवल पन्द्रह में फाँसी होती है। हमारे प्रदेश में केवल दो ही परिवार हैं जिनको नवाबी जमाने से जल्लाद का अधिकार प्राप्त है। उस परिवार के छोटे छोटे बच्चे भी शुरू से ही यह काम सीखते जाते हैं। प्रदेश में कहीं भी फांसी हो, यही दो परिवार जा सकते हैं। मथुरा में प्रदेश भर की अपराधिनी स्त्रियों की फाँसी होती है। इन दोनों परिवारों के मुखिया को १५) मासिक भत्ता (रिटेनर्स फ़ीस) मिलती है, चाहे फांसी हो या न हो। यदि लखनऊ जेल में कोई फाँसी होगी तो इनको अलग से कोई रक़म नहीं दी जावेगी। इन्हें मँहगाई का भत्ता नहीं मिलता। लखनऊ के बाहर के जेलों में फांसी लगाने के लिये इनको २५) रुपया फ़ी फांसी तथा चतुर्थ श्रेणी के सरकारी नौकरों का सफ़र खर्च मिलता है। कभी कभी पास पड़ोस के राज्य जैसे विन्ध्य प्रदेश या भोपाल भी इनको बुलाते हैं। यदि जल्लाद को बुलाने के बाद किसी कारण फाँसी रुक गई तो भी उसकी फ़ीस उसे मिल जाती है।

क़ैदी के गले की नाप, उसके वज़न तथा उसकी लम्बाई के हिसाब से रस्सी तथा फन्दा ठीक किया जाता है। फाँसी पड़ने के पन्द्रह मिनट पहले क़ैदी के शिनाख़्त की अदालती कार्रवाही पूरी की जाती है। यह इसलिये कि कहीं भूल से या धोखे से किसी दूसरे की जान न चली जावे। शिनाख़्त के बाद क़ैदी को उसकी कोठरी से निकालते हैं। उसके हाथ पीछे बाँध देते हैं और तब वह फाँसी घर की ओर ले जाया जाता है। इस प्रकार उसे कम से कम समय तक प्राण जाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। चबूतरे पर पहुँचते ही उसके दोनों पैर बांध दिये जाते हैं ताकि झटके से प्राण जाने में बाधा न हो। उसके चेहरे तथा गर्दन पर लम्बी काली कन्टोप पहना दी जाती है। तब फन्दा लगाया जाता है। रस्सी को कितना नीचे गिराना है—यानि "ड्राप" का अनुमान तो पहले दिन ही लगा लिया जाता है। सुपरेंटेंडेंट जेल के रुमाल हिलाते ही रस्सी छोड़ दी जाती है, तख़्ता नीचे झूल जाता है। यदि क़ैदी बहुत उत्तेजित अवस्था में नहीं रहा तथा उसकी "हँफनी" नहीं बँधी रही, सांस नीचे की ओर उस समय हो जब कि लटकाया जा रहा है तो अनुमानतः दो सेकेण्ड में प्राण निकल जाते हैं। इस प्रणाली द्वारा चेतनाशून्य हो जाने के कारण पीड़ा या दुःख की भावना ही नहीं रह जाती। उस अभागे का प्राण निकल जाने पर उसे आध घण्टे तक लटकते रहने देंगे। ऐसा नियम है। भारत में फांसी की प्रणाली अब पाठकों की समझ में आ गई होगी।

इङ्गलैंड में अठारहवीं सदी के प्रारम्भ तक गले में फन्दा डाल कर नीचे से ऊपर उठाने की प्रथा थी। सन् १७५६ में वहां पर नये क़िस्म की फांसी होने लगी। फांसी का पूरा सामान और चबूतरा एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जाता था। इस प्रकार हर चौराहे या सार्वजनिक स्थान पर फांसी हो सकती थी और

जनता का मनोरञ्जन भी उसी प्रकार होता था जिस प्रकार हमारे यहां मुहल्ले मुहल्ले की रामलीला से लोगों को आनन्द मिलता है। एक ज़ीना बनाया गया था जिस पर अपराधी को चढ़ा देते थे और उसी पर से उसे लटका देते थे। ज़ीना बनाने के पहले फांसी के लिये एक गाड़ी बनाई गई थी जिसे हर स्थान पर ले जाना आसान था। उसी गाड़ी के ऊपर फांसी होती थी। जिस समय अभागा अपराधी लटक जाता था चारों तरफ़ की इकट्ठा भीड़ हर्ष से करतल ध्वनि करती थी।

"ड्राप" या नीचे गिरने का उपाय काफ़ी बाद में निकला है। शुरू शुरू में ८-१० इञ्च नीचे की ही गहराई होती थी। असली ड्राप अमेरिकन लोगों की ईजाद है। वह १० फीट से १७ फ़ीट तक होता था। वज़न के मुताबिक रस्सी को नीचे गिराने का तरीक़ा सन् १८८६ में चालू हुआ। भारत में मुग़ल ज़माने में भी रस्सी में गला फँसा कर नीचे तहखाने में गिरा देते थे। पर यह तरीक़ा इङ्गलैंड में बहुत बाद में आया। हमारे यहां फांसी की रस्सी (मुग़ल काल में) भी सुरक्षित रखी जाती थी। ब्रिटेन में १८वीं सदी तक जल्लादों को अधिकार था कि उसे बेच दें। वह उसके टुकड़े करके बेचता था। लोग बड़े चाव से यादगार के रूप में रखते थे। कुछ लोग उसे रखना शुभ भी समझते थे।

अधिकांश देशों में फांसी का समय सुबह ८ बजे का है। इङ्गलैंड में क़ैदी को अपने मरने की तारीख़ तथा समय बतला दिया जाता है। वह तय्यारी कर लेता है। जो चाहता है खा-पी, मिल-जुल लेता है। पादरी से भी बातें हो जाती हैं। भारत में दो घण्टा पहले ही बतलाते हैं। फ्रांस में भी क़ैदी को पता नहीं चलता। फ्रांस में फांसी के स्थान पर "गिलोटीन" होता है। इसमें सर काट लिया जाता है। पहले ज़माने में सज़ा के बाद तुरन्त फांसी होती थी। समाज ने इसमें बड़ा परिवर्तन कर दिया

है। अब फांसी के बाद राष्ट्र या राज्य के सर्वोच्च अधिकारी से क्षमा के लिये प्रार्थना-पत्र देने का नियम है। इसके अलावा और बहुत सी खानापूरियाँ होती हैं। बरस छः महीने तो लगते ही हैं। "जब तक श्वांस-तब तक आस" की कहावत के अनुसार मरने वाला अपराधी टकटकी लगाये रहता है कि कब उसका दिन आ जाय-या सज़ा बदल दी जाय। उसे जीवन के लिये कुछ और दिन भले ही मिल जाँय पर हमारी सम्मति में "मृत्यु की प्रतीक्षा" बड़ी ही भयानक वस्तु है। अस्तु, इङ्गलैण्ड में प्रति फांसी जल्लाद को १० पौण्ड यानी लगभग डेढ़ सौ रुपये मिलते हैं।

गिलोटिन

आज प्राणदण्ड की बहुत प्रचलित प्रणाली फांसी है। अधिकांश देशों में इसी का रिवाज़ है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कुछ प्रदेशों में गोली मार दी जाती है। वहां के कैलिफ़ोर्निया तथा ८ राज्यों में गैस द्वारा प्राण लेते हैं। जर्मनी में कुल्हाड़ी से गला काटने का ज़्यादा रिवाज़ था। आजकल क्या प्रथा है, हमको नहीं मालूम। फ्रान्स में गिलोटिन की रीति से सर काटने की प्रथा है। इस प्रथा का प्रारम्भ रोम से ही हुआ था। वहां तलवार से सर काटते थे। फ्रांस में यह काफ़ी प्रचलित थी। सन् १५३९ में भी वहाँ ऐसा ही होता था। दुधारी तलवार से यह काम होता था। तलवार इतनी भारी होती थी कि दोनों हाथों से उठाना पड़ता था ताकि सर तुरन्त कट जावे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि वार किसी और हिस्से पर पड़ा तो क़ैदी उठकर कह देता था कि वार हो गया। अब दूसरा वार नहीं हो सकता। पर, जल्लाद उसकी बात पूरी होते न होते दूसरा वार करके सर का सफ़ाया कर देता था। सन् १६०० में सर को किसी मज़बूत चीज़ के ऊपर रख कर काटने का उपाय निकल चुका था। सन् १६३२

में तूलो नगर में ऐसे अनेक वध हुये थे। प्राचीन पशु-बलियों या तांत्रिक नर-बलि की ही यह वास्तविक नक़ल थी। जिस चीज़ को गिलोटिन कहते हैं, जिसमें बहुत तेज़ छुरी ऊपर से ठीक अपने निशाने पर गिर कर सर को धड़ से अलग कर देती है, उसकी ईजाद सन् १७८९ में, फ्रांस की राजक्रांति के काल में हुई थी। १० अक्टूबर सन् १७८९ को विधान सभा में डा० गिलोटिन ने एक प्रस्ताव रखा था कि फ्रांस में सर काटने के अलावा और किसी प्रकार का प्राणदण्ड न हो। डा० गिलोटिन पेरिस की ओर से प्रतिनिधि थे। ३ मई, १७९१ में यह प्रस्ताव पास हुआ कि "हरेक प्राणदण्ड प्राप्त व्यक्ति का सर काट लिया जाय।" डा० लूई ने तलवार से सर काटने का विरोध किया। उन्होंने एक मशीन का ख़ाक़ा तैयार कर उसको उपयोग में लाने की सलाह दी। पर लोगों की जान लेने वाले यन्त्र को बनाने के लिये कोई बढ़ई तैयार नहीं हुआ। किसी प्रकार, काफ़ी मज़दूरी देकर कुछ बढ़ई प्राप्त किये गये और १५ अप्रैल सन् १७९२ में वह मशीन तैयार हो गई।

इस मशीन का प्रारम्भिक रूप बड़ा भयङ्कर था। एक बड़ा चबूतरा बनाया गया था जिसमें दो बड़े खम्भे बना कर बीच में छुरी लटकाई गई थी। अपराधी को एक तख़्ते से बाँध दिया जाता था। चौबीस सीढ़ियाँ चढ़ कर चबूतरे पर पहुँचते थे। अपराधी का सर नीचे की ओर रहता था। छुरी गिराने के लिये एक खटका दबाना पड़ता था। तीन डाक्टरों की कमेटी ने रिपोर्ट दिया था कि इस प्रकार मृत्यु तुरन्त हो जाती है। डा० गिलोटिन ने अपराधी को यातना से बचाने के लिये ही अपना प्रस्ताव रखा था। मशीन के सम्बन्ध में कल्पना उनकी थी, प्रयास डा० लूई का था। अतएव आज हम जिसे गिलोटिन कहते हैं उसके

अन्वेषक डा० गिलोटिन नहीं हैं। कल्पना अवश्य उनकी है। उनके प्रस्ताव के नाम पर ही गिलोटिन इतना मशहूर हो गया है।

पर, सन् १७६२ की मशीन इतनी ऊंची थी कि दर्शकों को दिखाई बहुत कम पड़ता था। अतएव उन्हें तमाशा का आनन्द नहीं आता था। इसीलिये उन्होंने एक गाना बनाया था कि "हमको पुराने ढङ्ग की फांसी चाहिये।" दूसरे के कष्ट में मनुष्य को कितना जघन्य आनन्द मिलता है, इसका यह कितना निन्दनीय उदाहरण है।[1]

१० अगस्त, १७६२ से फ्रांस में भयानक "आतङ्कवादी शासन" शुरू हुआ। गिलोटिन पर कटने वालों की संख्या हज़ारों की तादाद में पहुँच गयी। २१ जनवरी, १७६३ को यह मशीन उठा कर मुहल्ला लूई पन्द्रहवें—प्लेस लूई पन्द्रहवें—में स्थायी रूप से रख दी गयी और यहीं पर नरेश लूई पन्द्रहवें का गला काटा गया।

८ जून, १७६२ को समाप्त होने वाले तेरह महीनों में १२५५ व्यक्ति इसकी छुरी के नीचे आ चुके थे। दो महीने में ही १२७ गले कटे थे। इतना अधिक गला काटने वाले जल्लाद मिलना भी कठिन था। इसलिये प्राणदण्ड की सज़ा पाये हुए क़ैदी जेल से लाये जाते थे और जिस मशीन पर उन्हें स्वयं कटना था, उसी मशीन पर वे पहले औरों का गला काटते थे।

---

१. फ्रेञ्च गाने का अङ्गरेज़ी अनुवाद है:—

Give me back my wooden gallows.

Give me back my gallows.

—A History of Capital punishment,—

Lawrence.

अब गिलोटिन का रूप बहुत कुछ बदल गया है। अब बिजली के बटन से छुरी गिरती है। फ्रांस के विधान के अनुसार प्राणदण्ड सार्वजनिक होना चाहिये पर विधान का पालन करते हुये भी तरीक़ा ऐसा रक्खा गया है कि सेना चारों ओर से उस स्थान को इतना घेरे रहती है कि दर्शक को प्रायः दिखाई भी नहीं देता। प्राणदण्ड ऊषाकाल में होता है। इसलिये भीड़ भी इकट्ठा नहीं हो पाती। अपराधी को भी तुरन्त ही सूचना दी जाती है कि उसका अन्तकाल आ पहुँचा। फ्रेंच जल्लाद को फ्रेंच सिक्के में १०,००० लिवरे वार्षिक वेतन मिलता है।

बिजली की कुर्सी

अमेरिका के गोरे निवासी अपने साथ पश्चिम की निर्दयी प्रथायें ले आये थे। आरम्भ में उन्होंने इङ्गलैंड तथा फ्रांस की सभी निर्दय प्रथाओं को अपना रखा था। पर, समय काल पाकर वहां सुधार भी जल्दी होने लगा। सन् १८७० के बाद एक वैज्ञानिक ने "बिजली की कुर्सी" ईजाद की और घोषित किया कि उसके द्वारा अपराधी की सबसे सरल तथा कम समय में मृत्यु होगी। उसे कम से कम कष्ट होगा। पहला प्रयोग एक बछड़े पर किया गया। उसमें ५० वाट शक्ति की ही बिजली लगाई गई। पर इतनी काफ़ी शक्ति-शाली न समझ कर ७७० वाट शक्ति का कर दिया गया। पहली बार के प्रयोग में ज़रा सी भूल के कारण आदमी बिलकुल भुन गया। उसके जले चमड़े से कड़ी दुर्गन्ध आने लगी। प्राण लेने के सब काम में करीब आधा घन्टा लग गया। पर अब तो यह मशीन एकदम सही और शीघ्र काम करती है। इसका अनेकों बार प्रयोग कराने वाले, सिंगसिंग जेल के वार्डन (सुपरिंटेण्डेण्ट) श्री लायेज़ लिखते हैं[1] कि इसमें ८–१०

---

1. Meet the Murderer – By, Warden Lawis E. Lawis of Sing Sing Prison.

एम्पियर की करेंट दी जाती है और एक सेकेण्ड के २४०वें अंश में ही मस्तिष्क के अवयवों को नष्ट कर देती है तथा मृत्यु हो जाती है। जान लेने का इससे सरल तथा कम से कम कष्ट वाला और कोइ तरीका अभी तक ईजाद नहीं हुआ है। चेतना के समाप्त होते ही शरीर को पीड़ा का अनुभव नहीं हो सकता अतएव वास्तविक प्राण जाने में कुछ सेकेण्ड और भले ही लगते हों पर कष्ट की भावना के पहले ही कष्ट समाप्त हो जाता है।

अस्तु, फ्रेञ्च गिलोटिन की ईजाद के बाद उसके पहले शिकार थे निकोलस जैके पेलेती।[1] अमेरिकन कुर्सी पर पहले पहल बिठाये गये थे मि० केमलर। पांच मिनट में उनके बदन का गोश्त जलने लगा। शरीर कोयला हो गया। इसके बाद के दो और प्रयोग सफल रहे। चौथा अपराधी विलियम टेलर था जिसे आबर्न में कुर्सी मिली। कुर्सी ही टूट गई। अर्द्धचेतन अवस्था में अभागा नीचे गिर पड़ा। यदि वह होश में आ जाता तो "दुबारा" प्राण लेने में क़ानूनी अड़चन हो सकती थी। इसलिये उसे क्लोरोफ़ार्म देकर बेहोश रखा गया। कुर्सी की मरम्मत कर उसे फिर से उस पर बिठाकर मारा गया। यह घटना २७ जुलाई १८६३ की है। सन् १६०६ तक, न्यूयार्क राज्य में, सिंगसिंग जेल में ही, एक सौ हत्यारों को कुर्सी की भेंट चढ़ा दिया गया था। संयुक्त राज्य, अमेरिका में बिजली की कुर्सी सबसे पहले न्यूयार्क में ही बनी और उसी राज्य में काम आई। उस प्रदेश के गवर्नर ने ४ जून, १८८८ को इसके प्रयोग की स्वीकृति दी थी और १ जनवरी, १८८६ से इसका बाक़ायदा प्रारम्भ हुआ था। उस ज़माने की कुर्सी में और अब में बड़ा अन्तर पड़ गया है। अब तो अपराधी को ६० साइकिल ए० सी० का एक "शॉक" दिया

1. Nicholas Jacques Pelletier.

जाता है। ५७ सेकेण्ड तक २००० वोल्ट की बिजली की करेंट लगा दी जाती है। कुल मिलाकर दो मिनट तक करेंट देते रहते हैं। पहला 'शॉक' लगते ही चेतना समाप्त हो जाती है। उस समय शरीर का तापमान १४० डिग्री हो जाता है।

संयुक्त राज्य में भी प्राणदण्ड मिलने तथा सज़ा को कार्यान्वित करने के बीच में काफ़ी विलम्ब हो जाता है।[1] मौत की बहुत लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इतनी प्रतीक्षा का दण्डित पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। उसका मन और दिल इतना टूट जाता है कि उसका "सब कुछ" खो जाता है। बहुत से अपराधी पागल तक हो जाते हैं। न्यूयार्क प्रदेश के नियमानुसार प्राणदण्ड पाने वाले जो चाहें भोजन कर सकते हैं। पर टूटा हुआ मन भोजन की ओर कहां से जा सकेगा।

मरने वाले

फिर भी, प्राणदण्ड के इतिहास के साथ मरने वालों का इतिहास भी बड़ा रोचक है। मरने के पहले मानव की विचित्र गति होती है। कुछ दण्डितों का यह विश्वास रहता है कि मरने पर उनकी आत्मा संसार में घूमती रहेगी। अतएव वे अपने लिये काम सोच लेते हैं। इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका में ऐसी अनेक घटनायें हुई हैं जिनमें ऐसे क़ैदियों के पास लोग पहुँचते रहे हैं (ख़ास कर बूढ़ी महिलायें) कि मरने के बाद वह व्यक्ति उन्हें बतला दे कि स्वर्ग या नर्क में क्या हो रहा है। मरने के समय कैसा अनुभव होता है। कुछ लोग अपने प्रेमी स्वजन या प्रेमिका का पता तथा परिस्थिति बतलाने का अनुरोध करते हैं। कुछ लोगों ने यह सोचकर कि मुमकिन है कि मरने पर आत्मा बोल न

---

1. A History of Capital Punishment—Lawrence Page 68.

सके, आवाज़ से संकेत की भाषा बना लेते थे। एक क़ैदी ने मरने के पूर्व इस बात पर काफ़ी ज़िद्द की थी कि उसके डाक्टर से उसे मिला दिया जावे। जब डाक्टर मिलने आया तो उसने उनसे कहा कि "मर जाने पर मैं आपको बतलाने आऊँगा कि मुझे कैसा अनुभव हुआ ताकि मेरे बाद मारे जाने वालों को सूचित कर दिया जावे।" इतिहास से पता चलता है कि ऐसा कोई भी क़ैदी स्वर्ग-नर्क का बयान लेकर या अपने अनुभव की दास्तान लेकर किसी के पास आया नहीं। पर, अमरता की इस कल्पना में मृत्यु का दु:ख बहुत कुछ कम हो जाता है।

बहुतों को मरने के समय भी अपना शिष्टाचार नहीं भूलता। ज़ेबुन्निसा के प्रेमी को औरङ्गज़ेब जब पानी में उबाल रहा था, उसने ज़ेबुन्निसा की मान रक्षा के लिये उफ़ तक नहीं की थी। आगरा में फांसी पर लटकने के पहले एक क़ैदी ने ब्राह्मण सुपरेण्टेण्डेण्ट के चरण छुये थे और पण्डित जी आदतन उसे "चिरञ्जीव रहो" का आशीर्वाद दे बैठे, पर तीन मिनट बाद चिरञ्जीव का मुर्दा सामने लटकने लगा था। इङ्गलैण्ड में सन् १७४६ की घटना है कि लार्ड बामरिंड तथा लार्ड किलमार्नविक एक साथ वधशाला पहुँचाये गये। पद के अनुसार लार्ड किलमार्नविक छोटे थे। जल्लाद ने पहले उन्हीं को आगे बढ़ाया पर बड़ी नम्रता पूर्वक उन्होंने अपना स्थान लार्ड बामरिंड को देने का आग्रह किया। बामरिंड ने उनकी उदारता के लिये धन्यवाद दिया पर उनसे पहले मरने का महत्व नहीं छीना।[1]

सन् १९२७ में जुड ग्रे नामक एक सेल्समैन (किसी कम्पनी का एजेन्ट) तथा एक स्वाइडर नामक एक विवाहित महिला को सिंगसिंग जेल में फांसी देने की आज्ञा मिली थी। रुथ विवाहिता

1. History of Capital punishment—Lawrence.

स्त्री होने पर भी जुड ग्रे के प्रेम में दीवानी हो गई थी और उसने ग्रे को मजबूर किया कि अपने प्रेम के मार्ग का कण्टक मि० स्नाइडर को समाप्त कर दिया जावे। स्नाइडर मारे गये। पुलिस को सूचना दी गई कि उनको डाकुओं ने मार डाला। पर, सत्य का पता लग ही गया। सन् १९२८ में दोनों को बिजली की कुर्सी मिली। जिस दिन वे मरे उसी दिन प्रसिद्ध अंग्रेज नेता, लेखक, सुधारक तथा समाजवादी टामस हार्डी का देहान्त हुआ था। पर, जन समूह को हार्डी की मृत्यु में कोई रुचि नहीं थी।[1] ग्रे-स्नाइडर घटना ने, उनके छिपे व्यभिचार ने जनता की कामुक वासना को ऐसा जागृत कर दिया था कि इन दो प्रेमिकों के बयान से उसकी वासना की तृप्ति होती थी। समाचार पत्र भी जनता की रुचि को पहचानते हैं। दूसरे दिन एक समाचार पत्र ने ग्रे काण्ड को २८९ कालम इञ्च में तथा हार्डी की मृत्यु को ५ कालम इञ्च में तथा एक दूसरे पत्र ने क्रमशः ११६ तथा २ कालम इञ्च में छापा था। अपराधी अधिक लोकप्रिय होता है।

इसी सिंगसिंग जेल में एक अपराधी था सैंटेलो। उसने एक आदमी पर डाँका डाल कर उसे मार डाला था तथा उसका सब माल छीन लिया था। उसे प्राणदण्ड मिला। पर, मरने के पहले उसे इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि उसके ऊपर पचास डालर —लगभग सवा दो सौ रुपये का—ऋण रह जावेगा। उसने कहा "मैंने कभी किसी का एक पैसा उधार नहीं रक्खा है!" और उसने प्रार्थना की कि उसका मुर्दा वैज्ञानिक परीक्षा के लिये किसी डाक्टर के हाथ बेचकर उसका ऋण चुका दिया जाय। डाँका डालने में उसे कोई एतराज नहीं था। पर, किसी का कर्ज रखने में उसे घोर आपत्ति थी।

---

1. Meet the murderer – By Lewis E. Lawis.

भारतीय जेलों में प्राणदण्डित क़ैदियों के लिये जेल की साधारण आबादी से दूर, अलग स्थान होता है। यहां पर मृत्यु की प्रतीक्षा में क़ैदी "क्षमा याचना" की अर्ज़ी के जवाब की प्रतीक्षा में अपना जीवन सिसक सिसक कर बिताता रहता है। मुसलमान क़ुरान शरीफ़ पढ़ कर तथा हिन्दू गीता या रामायण पढ़ कर दिनरात भजन में समय बिताते हैं। जितना हो सकता है उतना भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उनकी रक्षा की जाय। जिसकी सज़ा प्राणदण्ड से बदल कर "कालापानी" यानी आजन्म क़ैद (वास्तव में चौदह वर्ष) की हो गयी वह अपने भगवान को दयालु समझता है। ईश्वर में श्रद्धा बढ़ती है। दृढ़ होती है। जिसकी प्रार्थना अस्वीकार हो गई, उसे देखकर अन्य सभी दण्डित व्यक्ति कलप उठते हैं। महीनों, वर्षों की प्रतीक्षा के बाद मालूम हो गया कि संसार में नहीं रहना है। मैंने दर्जनों जेलों में ऐसे क़ैदियों को देखा है। मैं प्राणदण्डितों की बारिक में काफ़ी चक्कर लगाता रहा हूँ। मैं सिंगसिंग जेल के भूतपूर्व वार्डन श्री लायेज़ से सहमत हूँ कि "हरेक प्राणदण्डित व्यक्ति चाहता है कि जल्दी सब समाप्त हो जाय तो अच्छा है।" मैंने देखा है कि क्षमा याचना की अर्ज़ी भेजने वाले क़ैदी की मानसिक हालत बड़ी ख़राब रहती है। मौत उसके सर पर है। वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। पर ज़रासी उम्मीद उसका दिन और रात ख़राब कर रही है। जिसे मालूम हो गया कि जाना है वह अधिक शांत हो जाता है। ऐसे क़ैदी की भूख प्रायः दुगनी तिगुनी हो जाती है। वह सोता भी ख़ूब है। उसका वज़न भी बढ़ जाता है। रोने और कलपने की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है। जब तय हो गया कि जाना है तब फिर क्या कहा जाय! खा लो, सो लो—एक एक क्षण बड़ा मूल्यवान है। मैंने ऐसे क़ैदी भी देखे हैं जिनकी क्षमा याचना की अर्ज़ी नामन्ज़ूर हो चुकी थी। अतः

उसकी प्रतिक्रिया घृणा का अतिरेक भी होती है। वे दिन रात सरकार को, समाज के नियम तथा व्यवस्था को गाली देते रहते हैं। ज़्यादातर क़ैदी झूठ बोलते हैं—मरते दम तक अपने को निर्दोष कहते हैं। पर मैंने ऐसे भी निर्दोष क़ैदी देखे हैं जिनके चेहरे से पता लग जाता है कि वह अभागा बेक़सूर है, पुलिस के फन्दे में आ गया है। जब निर्दोष के गले में फांसी लगती होगी, उसका दिल क्या कहता होगा। और, यह कहने में हमें संकोच नहीं होता कि सभी देशों में भी, पर विशेष कर भारत में, काफ़ी निर्दोष व्यक्ति फांसी पर लटक जाते हैं।

धार्मिक अत्याचार

अस्तु, मरने वालों के विषय में अभी आगे हमें बहुत कुछ लिखना है। अतएव यहां पर हम इस विषय को अधूरा ही छोड़ देते हैं। इस अध्याय में हमने प्राणदण्ड के तरीक़ों में विकास तथा उसकी विभिन्न प्रणालियों पर थोड़ा प्रकाश डाला है। उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि पुराने ढङ्ग का प्राणदण्ड कोरा प्राण-दण्ड ही नहीं होता था। केवल जान लेने में ही सन्तोष नहीं होता था, उसके साथ जितनी दूर तक कल्पना जा सकती थी, अत्याचार तथा निर्दयता भी शामिल की जाती थी। पुराने ज़माने के न्यायाधीश बैठे-बैठे निर्दयता के नये तरीक़े ईजाद करते रहते थे। ऐसी बर्बरता से उनकी आंतरिक प्रतिहिंसा शांत होती थी। जब जनसमूह को क्रूरता के अभिनय से आनन्द मिलता हो तो शासक वर्ग क्यों पीछे रहता। राज्य का नियम या उसकी व्यवस्था सामूहिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र होता है।[1] आरम्भिक जातियों के लिये जीवन बड़ा संघर्षमय था। एक जाति का दूसरे

---

1. History of Tortures—Scott.

के साथ निरन्तर झगड़ा लगा रहता था। इसलिये समाज की मनोवृत्ति ही घृणा तथा प्रतिहिंसा से भरी हुई थी। आत्म-रक्षा के संघर्ष में आन्तरिक घृणा का बाह्य प्रतिबिम्ब यातना तथा अत्याचार है। अपने प्रतिद्वन्दी के प्रति जितना ही अधिक भय तथा द्वेष होगा उतनी ही अधिक घृणा तथा निर्दयता का प्रदर्शन होगा। पुराने समाज का संस्कार हज़ारों वर्षों तक बना रहा। आज भी वर्तमान है पर परिष्कृत होता जाता है। पहले मानव अपने कुटुम्ब तथा सम्पत्ति तक ही आत्मरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करता था। जब उसमें धर्म का संचार हुआ तो उसने आत्मरक्षा के लिये अपने देवता को प्रसन्न रखना तथा उससे चिपटे रहने में अपनी रक्षा का बोध किया। अतएव पुराने ज़माने का मानव जाति के हित के नाम पर अत्याचार करता था। मध्ययुग का मानव धर्म के नाम पर अत्याचार करने लगा। धार्मिक जड़ता बड़ी भयङ्कर वस्तु होती है। इसलिये धर्म के नाम पर अत्याचार भी बड़े भयङ्कर थे। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू धर्म की सार्वभौमिकता के कारण उसने विधर्मियों पर कभी अत्याचार नहीं किया। अपने शास्त्र की मर्यादा में विदेशियों को हज़म करते गये। पर, बौद्धों के अत्याचार की कहानियां मिलती हैं। जापान में बौद्धों ने ईसाइयों के साथ बड़ा अन्धेर किया था। स्पेन में मुसलमानों पर बड़ा ज़ुल्म हुआ था। मुसलमानों ने भी इस दिशा में कमी नहीं की। यहूदियों के अपने ज़माने में डेढ़ हज़ार वर्ष से यहूदियों पर अनगिनत अत्याचार हुए हैं। हज़रत ईसा ने न्याय तथा सत्यके लिये प्राण दिया था। पर ईसा के अनुयायी यहूदी पाप को भूल न सके और आज तक यहूदी वर्ग संकट में है। पर, संसार में किसी भी धर्म ने धार्मिक अत्याचार की वैसी पराकाष्ठा नहीं कर दी जैसी कि ईसाई धर्म के नाम पर की गई है। ईसा के प्रेम की प्रतिक्रिया घृणा में हुई। युगों तक पृथ्वी की छाती का वह

घाव नहीं सूखेगा जो ईसाइयों की छुरी से अभी तक ताज़ा है। वैभवशील तथा अधिकार युक्त धर्म का यही परिणाम होता है। सोने की गद्दी पर बैठे थे धर्म गुरू पोप। राज्य का धर्म वही होता था जो राजा का था। अतएव राजा तथा पोप मिल कर पृथ्वी को नरक बना सकते थे। राज्य का धर्म निश्चित करने का यही बड़ा ख़तरा है। भारतीय संघ का अपना कोई धर्म नहीं है। धर्म व्यक्तिगत स्वाधीनता की वस्तु है। पाकिस्तान ने राज्य का भी एक धर्म बनाकर काफ़ी नैतिक तथा आर्थिक क्षति उठाई है और उसकी धर्मान्धता से उसकी मर्यादा में बट्टा लगा है।

अस्तु, राज्य राजद्रोह के लिये तथा धर्मगुरू अ-धार्मिकता के लिये दण्ड देने को दोनों तय्यार हो जायँ तो और परिणाम क्या होगा। निर्दयता तथा क्रूरता की अति होना स्वाभाविक है। रास्ता दिखा रहा था जन समूह। प्रतिशोध की प्रारम्भिक भावना का नाम ही यातना है। यातना अपने अधिकार तथा शक्ति का प्रदर्शन है। यातना अधिकार तथा शक्ति के संकल्प को व्यक्त करता है। हमारा जो नेता प्रतिशोध प्रतिहिंसा आदि का जितना अधिक प्रतिपादन करता है, उतना ही लोकप्रिय होता है। चालू सरकार को गाली देने वाला इसीलिये लोक-प्रिय हो जाता है। जब जनता स्वयम् घृणा को अधिक पसन्द करती हो तो हम क्या करें। सभ्य समाज का तथा धर्म का मूल कर्त्तव्य ही यह है कि जन समूह को प्रेम का मंत्र दे।

सामूहिक घृणा बड़ी भयंकर वस्तु है। जिन्दा जला कर मारने का काम पहले राज्य ने नहीं किया। इसे शुरू किया जन समूह ने अपने अपराधी को जला कर। ऐसे ही अत्याचार बढ़ते गये। यूरोप में यातना का एक भयानक तरीक़ा निकाला गया था। अपराधी के मुख में बारूद का छोटा थैला रख कर विस्फोट करा

देते थे। बिना इतनी यातना देकर मारे सन्तोष नहीं होता था। अपनी पारी हम अत्याचार करते थे पर दूसरा यदि हम पर अत्याचार करना चाहें तो हमें बुरा लगता था। उदाहरण के लिये गिर्जाघर या पादरी मण्डल जो चाहे अत्याचार कर सकता था। पर, राज्य की अदालतों द्वारा किये गये अत्याचारों का वह दल घोर विरोधी था। मध्ययुग के अन्त काल में राज्य तथा पोप में गहरी प्रतिस्पर्द्धा हो गई थी। दोनों ही अपने को अधिक प्रभावशाली तथा बलशाली बनाना चाहते थे। एक दूसरे से बढ़ कर अत्याचारी थे। बहुत गहरी क़ीमत चुका कर अन्त में राज्य जीत गया। पर, लाखों के बलिदान के बाद ऐसा हुआ।

निर्दयता की भी सीमा होती है। यन्त्रणा के जो औज़ार थे उनकी संख्या हज़ारों से ऊपर थी। कोड़े में कांटा लगा कर पीटना, जलाना, आधा भून देना, भालों से छेदना, अङ्ग-भङ्ग, लकड़ी के मूंगरे से मार मार कर शरीर को कुचल देना, घोड़े की सवारी में पीछे बांध देना, घसीट कर मार डालना—ये सब तो साधारण यन्त्र या उपाय थे। कुमारी मरियम की मूर्ति के भीतर जब कोई अभागा बन्द किया जाता होगा और बाहर से निर्दोष मूर्ति दीख पड़ने वाली चीज़ के भीतर जब चारों तरफ़ लगी हुई छुरियां उसको नोच-नोच कर चलनी कर देती होंगी, तब कैसा लगता होगा! या "व्हील" के भीतर पड़ते ही वह तेज़ छुरियों से ऐसा मथ दिया जाता हो जैसे मथनी से मक्खन—उस समय कैसा प्रतीत होता होगा। बदन में खीलें ठोंक कर, फिर उनको बाहर निकाल कर, आलपीने भर दी जाती थीं तब कैसा कष्ट होता होगा। इस तालिका को देने से लाभ भी क्या है। जब मनुष्य अपनी मनुष्यता ही खो बैठा तो उसे क्या ज्ञान रह सकता है। मध्य युग में जन-समूह अन्धा हो रहा था।

अपराध स्वीकार

बीते हुये ज़माने की यन्त्रणा तथा निर्दयता की करुण गाथा कहां तक सुनाई जाय। कल्पना करके कलेजा मुख तक आ जाता है। धन्य है वे लोग जिन्होंने उन कष्टों को सहा था तथा उन कष्टों के ज़माने में किसी तरह से ज़िन्दगी बिताते थे। निर्दयता में राज्य तथा पोप का अनुशासन एक दूसरे से सदा होड़ लगाता रहा। धर्म के नाम पर चौदहवीं सदी में मार्था कौंस्टैंटाइन के साथ, पहले बलात्कार किया गया। फिर उसके प्राण लिये गये। धर्म के नाम पर जोकोपो की जननेन्द्रिय काट ली गई, उसे घोड़े से बांध कर घसीटा गया और अन्त में आग में जला दिया गया। तेरहवीं सदी के अन्तकाल में इटली में अदालती अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। ज़रा सा सन्देह हो जाने पर भी यंत्रणा देकर अपराध की पूछतांछ की जा सकती थी। यन्त्रणा से घबड़ा कर, बेचैन होकर, अपनी जान बचाने के लिये कितने ही निरपराध लोग "अपना अपराध" स्वीकार कर लेते थे और प्राणदण्ड पा जाते थे। फ्रांस की सन् १८६३ की घटना है कि पार्लामेण्ट ने दो न्यायाधीशों को इसलिये मुअत्तल कर दिया था कि उन्होंने एक निरपराध व्यक्ति को एक स्त्री की हत्या के अपराध में प्राणदण्ड दे दिया था। अदालती यन्त्रणा से घबड़ा कर उस अभागे ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया था। पर, दण्ड मिल जाने के साल भर बाद पता लगा कि वह स्त्री जीवित है। यंत्रणा के भय से अनगिनत लोगों ने ऐसा किया होगा जिनका पता भी नहीं चल सकेगा। चौदहवीं सदी में फ्रांस में अदालती अत्याचार पराकाष्ठा पर था। उन दिनों ज़र्मनी तथा फ्रांस में यह नियम था कि प्राणदण्ड पूरा करने के पहले अपराधी के शरीर से मांस के टुकड़े नोचे जाते थे। इस काम के लिये लाल तपा लोहा काम

आता था। बिना इतनी यन्त्रणा दिये दण्ड पूरा नहीं हो सकता था।

चीन में भी न्यायाधीश को अधिकार था कि बिना अपराध स्वीकार किये किसी को दण्ड नहीं दिया जा सकता था। इसलिये न्यायाधीश लोग अपराधी को तरह-तरह की यन्त्रणा देते थे। किन्तु, इस सम्बन्ध में वहां एक बड़ी भारी रुकावट थी। यदि यंत्रणा देते देते कोई अपराधी बिना अपराध स्वीकार किये या निर्दोष होते हुए मर जाता था तो न्यायाधीश को कठोर दण्ड मिलता था। जब यूरोप में टोना टोटका करने वालों के विरुद्ध आन्दोलन चला तथा ये 'काफ़िर' जलाये जाने लगे तो अपना अपराध स्वीकार कराने के लिये उनको कड़ी यातना दी जाती थी। यातना से घबड़ा कर हज़ारों निरपराध पुरुष तथा स्त्रियों ने अपने को "जादूगर" स्वीकार कर लिया था।[1] स्वीकार कराने की प्रथा में सबसे बड़ा दोष यह है कि पहले से ही यह मान लिया जाता है कि वह व्यक्ति अपराधी है। केवल उससे स्वीकार करा लेना है। सन् १४६८ में लन्दन के लार्ड मेयर सर टामस कोक को राजद्रोह के लिये प्राणदण्ड मिला था। उनके विरुद्ध केवल एक ही गवाही थी और वह भी काफ़ी यंत्रणा देकर कहलाई गई थी। सन् १६०० तक यंत्रणा के विषय में स्कॉटलैण्ड, इङ्गलैण्ड के भी कहीं आगे बढ़ गया था। सन् १५५७ में इङ्गलैण्ड में प्राण लेने का एक नया तरीक़ा चालू किया गया था। मुँह पर सिल्क का महीन कपड़ा रख देते थे। मुख खुला रहता था। ऊपर से धीरे धीरे पानी छोड़ते थे। गीला होकर सिल्क धीरे धीरे मुख में धँसता जाता था और गले के भीतर तक पहुँच जाता था। उस समय पानी में दम घुटने की तरह पीड़ा पाता हुआ मानव तड़प कर

---

1. Von Spee ने इसे सिद्ध कर दिया था।

मरता था। इङ्गलैण्ड में विधानत: निर्दय व्यवहार तथा यन्त्रणा कभी भी जायज़ नहीं थी पर गवाही के लिये या अपराध स्वीकार कराने के लिये बराबर इसका उपयोग होता रहा।

आज अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड में किसी प्रकार की यंत्रणा देकर अपराध स्वीकार कराना मना है। "थर्ड डिग्री" तरीके नाजायज़ हैं पर सच बात तो यह है कि अब भी इनका काफ़ी उपयोग होता है। तरीक़ा ज़रूर बदल गया है।[1] भारत में भी इसकी मनाही है पर यहां की पुलिस भी इनका काफ़ी उपयोग करती है। हमारे देश में "क़बूल" करवाने का एक बहुत प्रचलित तरीक़ा है, अपराधी को पेट भर पूड़ियां खिला देना। पर, पानी एक बूँद न देना। जब वह प्यास से विकल हो जाता है तो उस से जो चाहे लिखा या कहला लीजिये।

टोना टोटका तथा इनक्विज़िशन

हमने ऊपर धार्मिक अत्याचार का ज़िक्र किया है। उसकी भी कुछ कहानी सुन लीजिये। जन्म-जन्मांतर बीत जाने पर भी ईसाई समाज मध्य युग के धार्मिक अत्याचार का प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। टोना टोटका के नाम पर, "विचक्राफ्ट" के नाम पर तथा "काफ़िर" या विधर्मी के नाम पर जो भयङ्कर अत्याचार हुए हैं, उनका वर्णन करने के लिये एक अलग ही ग्रन्थ लिखना पड़ेगा। पर इस सम्बन्ध में बहुत उत्तेजित होकर विचार नहीं करना चाहिये। धार्मिक अत्याचारों की तह में गहरा मनोवैज्ञानिक कारण था। यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार ज़्यादातर राजा के ईसाई होने के कारण हुआ था। इसलिये जन समूह में उस धर्म की जड़ नहीं जम पाई थी और ऊपर से ईसाई होते हुये भी बहुत बड़ी संख्या पुराने धर्म को मानती

1. History of Tortures – Scott.

थी, उसमें अन्धविश्वास रखती थी तथा जादू-टोना, मन्तर-जन्तर करती थी। यद्यपि सनातनी ईसाइयों ने भी इस काम को अपने अपने ढङ्ग से शुरू कर दिया था पर उनको अपना प्रतिद्वन्दी धर्म तथा वैज्ञानिक सहन न था। परेशानी तो यह थी कि बहुत से पादरी तथा बड़े पादरी (बिशप) भी पुराने धर्म की बातों को मानते थे। इसीलिये ईसाई धर्म के मठाधीशों तथा उनके द्वारा उत्पन्न किये घृणा के वातावरण के कारण जनता का एक बड़ा अंश "अविश्वासियों" पर अत्याचार करने के लिये तैयार हो गया था।

टोना टोटका वालों को "विच" कहते थे। यह शब्द अंग्रेजी या विदेशी 'विट' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है— "जानना"। पर पन्द्रहवीं सदी से इस शब्द का प्रयोग जादू टोना करने वाले पुरुष—स्त्री के लिये काम में लाया जाने लगा। इङ्गलैण्ड में "जो शैतान से सम्बन्ध रखता हो या उससे बातचीत या परामर्श" करता हो, उसे विच कहते थे। शैतान के लिये अंग्रेजी में 'डेविल' शब्द है, जो स्वत: "डिवाइन" यानि "दैवी" शब्द से बना है।[1] यानी, "डेविल" या "शैतान" का अर्थ है "छोटा ख़ुदा"। भारत - फ़ारस आदि देशों की तरह देवता तथा असुर की कल्पना अलग-अलग हो गई और यूरोप में भी बड़ा ख़ुदा तथा छोटा ख़ुदा को मानने वालों की एक प्रकार से दो पार्टी हो गई। चूंकि बड़े ख़ुदा के पक्ष में राज्य की तथा पोप की शक्ति थी अतएव वह शैतान के मानने वालों को परास्त करने लगा। शैतान की शक़्ल काली है। मृगचर्म पहने है। सर पर बारहसिंगे की सींगों का मुकुट है। फ्रांस तथा मिश्र की प्राचीन कन्दराओं में

1. History of Witchcraft and Demonology–By M. Summers, Pub 1926.



स्पेन में धार्मिक अदालत की आज्ञा से
अविश्वासी ईसाई को आग में भून रहे हैं।

उसका चित्र भी मिलता है। जानवरों में वह प्राय: बकरी, सांड, कुत्ता, बिल्ली या स्यार का रूप धारण कर लेता है। इसके पुजारी जन्तर-मन्तर जानने वाले तथा आदमी को जानवर के रूप में बदल देने वाले बतलाये जाते थे। ऐसे लोगों के विरुद्ध इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, नीदरलैंड्स आदि में घोर दमन शुरू हुआ। पर. धार्मिक जोश में शुरू किया गया दमन भयानक व्यभिचार का स्रोत बन गया। किसी भी सुन्दरी के "नहीं" कर देने पर उसे "विच" घोषित कर देना तथा फिर जिन्दा जलवा देने में क्या देर लगती थी। जन समूह हर्ष से ताली पीटता था जब आदमी को जानवर बना देने वाली विपत्ति जलकर प्राण दे देती। पुरुषों के लिये भी ऐसा ही होता। पादरियों के लिये किसी कन्या से व्यभिचार करने का रास्ता खुल गया। उनके भय से सभी कॉपते रहते थे। ऊपर से वे सादी चाल से रहते थे। पर, भीतरी तहखाने में उनके विलास का प्रचुर सामान एकत्रित रहता था। यन्त्रणा तथा यातना के भय से भी कितने निरपराध अपने को "विच" स्वीकार कर लेते और मर जाते।

सनातनी ईसाइयों ने या उनके नेता पोप ने रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की रक्षा के लिये "अविश्वासियों" को दण्ड देने के लिये चारों ओर पादरियों की अदालत क़ायम की थी। पोप इनोसेण्ट तृतीय ने इस योजना को जन्म दिया था। जहां पर पोप का प्रभाव था, पादरियों की अदालत क़ायम हो गई पर जर्मनी ऐसे राज्यों ने पादरियों की अदालत के बजाय अपने मजिस्ट्रेटों की अदालत के ज़िम्मे यह काम कर दिया। उन दिनों यदि "पवित्र रोमन साम्राज्य" तथा पोप में झगड़ा तथा प्रतिस्पर्द्धा न शुरू हो गई होती तो पादरियों की अदालतें न जाने क्या ज़ुल्म कर डालतीं। जो हो, अविश्वासियों को दण्ड देने वाली अदालतों

कहानी बड़ी करुण है।[1] पांच सौ वर्षों तक ऐसे अत्याचार होते रहे। उन अत्याचारों के स्वरूप को समझना भी कठिन है। ईसाई पुरोहित अपने सामने गरम कड़ाही में पानी या तेल डाल कर अपराधी को आग पर पका डालता और लोग समझते कि धर्म की रक्षा हो रही है। कुमारी कन्याओं के साथ रात्रि में बलात्कार करता, सुबह धर्म पर बलि चढ़ा देता। पादरी की एक उंगली कितने गले काट सकती थी, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। स्पेन के अरागान नगर पर जब फ्रेंच सेना ने क़ब्ज़ा किया तो धार्मिक बन्दियों की संख्या ४६२ मिली जिनमें ५२ सुन्दरी युवती कन्यायें थीं। केवल छोटे लोगही नहीं पकड़े जाते थे। स्पेन के राजा फ़िलिप द्वितीय का पुत्र डान कार्लो भी पकड़ा गया था। उसने यातना तथा प्राणदण्ड से बचने के लिये जेल में अपनी एक नस काटकर प्राण दे दिया। जो क़ैदी अन्त में यह कहते थे कि "हम रोमन कैथोलिक यानी सनातनी ईसाई" के रूपमें मरना चाहते हैं उसके साथ बड़ी भारी रियायत यह की जाती थी कि जलाये जाने के पहले उसका गला घोंट कर मार डाला जाता था जिससे वह धीरे धीरे जल कर मरने से बच जाता था। जो क़ैदी प्रोटेस्टेण्ट (सुधारवादी) ईसाई के रूप में मरता था, उसे आग में भून कर मारा जाता था। बहुत से लोग पकड़े जाने के बाद घूस देकर अपना अपराध स्वीकार कर लेने पर तम्बीह देकर छोड़ दिये जाते थे पर छूटने के समय उनको सख़्त चेतावनी दी जाती थी कि जेल के भीतर उन्होंने जो कुछ देखा है, उसका ज़िक्र किसी से न करें वरना उनकी ख़ैरियत नहीं रह सकती। कितने ही वैज्ञानिक तथा चिकित्सा शास्त्र में खोज करने वाले नयी खोजों के अपराध में—इतना ही कह देने पर कि पृथ्वी गोल है—आग में भून दिये गये। जहां-जहां स्पेन तथा पुर्तगाल का शासन था, इनक्वीज़िशन

1. A Master Key to Popery--By M. Gavin.

चालू था। हमारे देश में पुर्तगीज़ अड्डा गोआ में भी यह अदालत वर्तमान थी। डेलन के कथानानुसार सन् १७८८ में यह अदालत वहां बड़े ज़ोरों में काम कर रही थी। क़ैदियों को एक ऐसे स्थान में रखते थे जिसे पाख़ाना कहा जा सकता है। लेकिन वहां से छूटने वाले को बयान देना पड़ता था कि उसे काफ़ी आराम से रखा गया था।

राष्ट्रीय उन्माद

सभी ईसाई पादरी दुष्टतावश धार्मिक अनाचार नहीं करते थे। अनेकों का ऐसा विश्वास था कि धर्म की रक्षा करने के लिये अविश्वासियों पर अत्याचार आवश्यक है। इसी प्रकार, लाख यातना सहने पर भी हज़ारों दृढ़ निश्चयी लोग प्राण से हाथ धो बैठे, पर अपना विचार नहीं बदलते थे। हरेक युग की अपनी धारणा होती है। अपना विश्वास होता है। उसका नशा चढ़ जाता है। ऐसी दशा में कष्ट देना तथा कष्ट सहना दोनों सुख-कारक होता है। प्रथम अध्याय में हमने जिस "पीड़ा" देने में "सुख" तथा "पीड़ा सहने में सुख" प्रवृत्ति का वर्णन किया है, वही बातें यहां भी लागू होती हैं। उस समय धार्मिक उन्माद पर अत्याचार होते थे तथा सहे जाते थे। उसके भी पूर्व जाति या कुनबे के हित का उन्माद निर्दयता का कारण था। आज देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता ने वही स्थान ग्रहण कर लिया है। फांसी के तख़्ते पर लटकने के समय जितेन्द्र या सरदार भगतसिंह को संसार से बिदा होने का मानसिक क्लेश भले ही रहा हो पर उनका चित्त शान्त था। वे यह जानते थे कि उनके बलिदान के प्रति करोड़ों नर-नारियों की सहानुभूति है। देशभक्ति के नशे में चूर ये मतवाले अपनी पीड़ा में सुख का अनुभव कर रहे थे। स्त्री-सम्पर्क में कामुक व्यक्ति को कामुक सुख मिलता है। जन सम्पर्क में नेता को अन्तर्निहित कामुक सुख मिलता है। मन की उत्तेजना प्राप्त

होती है। अपने बचपन के साथी शहीद चन्द्रशेखर "आज़ाद" से मैंने एक बार पूछा था कि तुम विवाह कब करोगे। उन्होंने उत्तर दिया था—"मेरी शादी मेरे देश के साथ हो गई है।" तात्पर्य यह है कि मध्य युग के धार्मिक शहीदों में तथा आज के शहीदों में कोई अन्तर नहीं। धर्म के नाम पर सन् १८५७ की क्रान्ति का प्रथम शहीद मङ्गल पाण्डे जिस नशे में चूर होकर बारिकपुर में पल्टन के बीच में बन्दूक़ लेकर कूद पड़ा था, उसके मन में अङ्गरेज़ों की अधार्मिकता के प्रति तीव्र घृणा उग्र हो उठी थी, उतनी ही घृणा के "मद" में, लार्ड हार्डिंग पर गोली चलाई गई या कलकत्ता में पुलिस कमिश्नर टैगर्ट को मारा गया था। मनोवैज्ञानिक फ्रायड घृणा को भी प्रेम का रूप मानते हैं। यह सही है। घृणा का कारण प्रेम होता है, चाहे अपने से प्रेम हो, धर्म से हो या देश से। पर हर एक के भीतर नीच "स्व" घृणा को घृणा के रूप में ही आवाहन करना चाहता है। इसी के आजकल के उदाहरण कम्यूनिस्ट हैं। उनके लिये संसार में जितनी ही घृणा फैलेगी, परस्पर का वाद-विवाद तथा झगड़ा बढ़ेगा, उतना ही वर्गवाद यानी उनका "मज़हब" बढ़ेगा। जहां कम्यूनिस्ट राज्य भी है, वहां कम्यूनिस्ट प्रजा को स्थिर या शान्त नहीं बैठने देगा। बिना उत्तेजना जारी रखे (बिना घृणा का भूत जगाये रखे) पार्टी ठण्डी हो जावेगी। रूस के निरंकुश शासक स्टालिन ने स्वयं कहा था कि "हमको अपनी पार्टी में शान्ति (ख़ामोशी) नहीं आने देना चाहिये। हम उसे थपकी देकर सुला न दें, बल्कि उसे हर समय काम करने के लिये तय्यार रखना चाहिये, उसे निरस्त्र कर सदैव सशस्त्र रखना चाहिये।"[1]

---

[1] J. V. Stalin in "Report to the Seventeenth Congress of the C. P S. U. (R.) on the work of the Central Committee, Moscow. 1951. page 127.

क्या हम अधिक सभ्य हैं

घृणा के वातावरण तथा पार्टी को "सशस्त्र" रखने की चतुर्दिक प्रवृत्ति के कारण आज संसार बड़ा दुःखी है। बड़ी अशांति है। एक को सशस्त्र देख कर दूसरा चुप नहीं बैठ सकता। चारों ओर हाहाकार है। पुराने ज़माने में यातनायें बहुत अधिक थीं। पर अपराध भी बहुत कम थे। लोगों का सामाजिक जीवन उतना अपराधशील नहीं था। आज की सभ्यता ने अपराधियों का कारख़ाना खोल रखा है। आज दण्ड के साथ यातना न्यूनतम है पर अपराधों की संख्या दिन दूनी बढ़ती जा रही है। केवल हमारे देश में नहीं, चारों ओर यही समस्या है। पर, भूल से भी न सोचना चाहिये कि आज अपराधों की वृद्धि का कारण निर्दयता में कमी है। निर्दयता का रूप बदल गया है, निर्दयता वर्तमान है। पुराने ज़माने की बिखरी जनसंख्या में अपराध करने की उतनी गुन्जायश नहीं थी। आज सभ्यता के तौर तरीक़े ने अपराध के प्रलोभन तथा नये नये रूप पैदा कर दिये हैं। आज निर्दयता में कमी कहां है! सभ्य देशों का सिरमौर संयुक्त राज्य अमेरिका जापान के ऊपर अणुबम गिरा कर भी सभ्य कहला सकता है! हिरोशिमा की विभीषिका समूचे स्पेनी इनक्वीज़िशन, चीनी यातनायें तथा प्राचीन बर्बरताओं से बढ़ कर थी। किन्तु संयुक्त राज्य को असभ्य कौन कहेगा।

इतिहास बतलाता है कि सन् १५५६ में जालसाज़ी के अपराध में दण्डित श्री ऐंड्रू डूमण्ड का हाथ पीछे बांधकर एडिनबर्ग (स्काटलैण्ड) की सड़कों पर घुमाया गया था। एक चौराहे पर उनका दाहिना हाथ काटकर एक खम्भे में बाँध दिया गया था। इस के बाद वे राज्य से आजन्म के लिये निकाल दिये गये। ३० जुलाई,

१६१८ को एक मनीबेग चुराने के अपराध में जॉनी ब्राउन का गाल दाग़ दिया गया था। सन् १६३६ में चोरी करने के अपराध में कुछ मिश्री पुरुषों को फांसी की सज़ा तथा मिश्री स्त्रियों को पानी में डुबोकर मारे जाने का दण्ड मिला था। सत्रहवीं शताब्दि के आरम्भ में यातना तथा यंत्रणा के काम में आयरलैण्ड बहुत आगे बढ़ गया था। रोमन कैथोलिक (सनातनी) ईसाईयों का यहां पर प्रभुत्व था। सुधारवादी प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों को नङ्गा कर के औरतों की छाती काट लेते थे, पुरुष की जननेन्द्रिय। फिर मार डालते थे। नङ्गी स्त्रियों के शव पर या घायल शरीर पर नङ्गा पुरुष फेंक दिया जाता था। यह सब कार्य बड़े समारोह के साथ अर्द्ध रात्रि में होता था। क्या फ़र्क़ रहा पुरानी जङ्गली जातियों में तथा सत्रहवीं सदी के आयरिश लोगों में! आयरिश अत्या-चारी औरतों को मजबूर करके उन्हीं के हाथों उनके पति को फांसी पर टँगवा देते थे। माताओं को अपने हाथ से अपने बच्चों को डुबा देना पड़ता था। कितना निर्मम दण्ड है! सन् १७२७ में स्कॉटलैण्ड में एक स्त्री को ज़िन्दा जला दिया गया था। सन् १८३३ में भी इस प्रदेश में टर्की नामक एक यन्त्र था जिससे अपराधी के शरीर में कीलें ठोंक दी जाती थीं। बाद में सूईयां चुभा दी जाती थीं। १७ वीं तथा अठारहवीं सदी में जादूगरनी औरतों का तथा पुरुषों का "पता" लगाने के लिये जिस पर सन्देह हो, उसे पकड़ कर नङ्गा करके जाँच की जाती थी। उस समय विश्वास था कि ऐसे लोगों के शरीर पर खास स्थानों पर तिल या लच्छन होते हैं। औरतों को भी नङ्गा करके उनके गुप्त स्थानों की हजामत बना कर 'जांच' की जाती थी कि कहीं "तिल" तो नहीं छिपा हुआ है। और जन समूह यह सब नाटक देखता था। अर्द्ध रात्रि वाले आयरिश-समारोह में स्त्रियां भी नङ्गी

1. Criminal trials by Pitcairn.

अपराधिनी स्त्रियों के ऊपर नंगे पुरुषों का मुर्दा देखकर बड़ी प्रसन्न होती थीं। उनकी कामुक भावना को जरूर शान्ति मिलती रही होगी।

और आज हम ऊपर लिखी बातों को पढ़ कर घृणा से सर झुका लेते हैं। किन्तु, क्या हम उनके ऊपर उठ चुके हैं। सन् १६१४ की लड़ाई में आस्ट्रिया-हङ्गरी की पल्टनों ने सर्बिया पर आक्रमण करके वहां के स्त्री-पुरुषों के साथ क्या किया था! कितनी स्त्रियों के स्तन काटे गये थे! आयरिश अत्याचार भी उन दिनों की घटना देख कर शर्म से सर झुका लेता होगा तथा आयरिश स्त्रियां उतनी प्रसन्न नहीं होती रही होंगी, जितना सर्बिया के समाचार से आस्ट्रिया-हङ्गरी की औरतें। ऐंड्रू डूमण्ड की उपर्लिखित कहानी से हमारा रोमाञ्च हो आता है पर सन् १६२७ के दिसम्बर महीने में चीन के कैंटन नगर पर क़ब्ज़ा करने के बाद कम्यूनिस्ट चीनियों ने वहां क्या किया था! कम्यूनिस्ट विरोधियों की जननेन्द्रिय तथा अण्डकोष काट कर, नङ्गा मुर्दा सड़क पर फेंक दिया गया था। सड़क पर लाशों की ढेर लगी थी! वे लड़ाई में मारे गये लोग नहीं थे—यातना देकर प्राणदण्डित अभागे थे। कम्यूनिस्टों ने (रूस ने) बालकन देशों में कितना अत्याचार किया है! सन् १६४६–४७ में बालकन देशों में कितनी जानें उन्होंने ली हैं! सन् १६२० के नवम्बर महीने की बात है। आयरिश समाज ने ब्रिटिश अफ़सरों पर कितना ज़ुल्म किया था। सन् १६३७-३८ में चीन पर हमला करने वाली जापानी सेना ने ८० वर्ष की वृद्धा के साथ भी बलात्कार करके उसके कलेजे में छुरी उतार दिया था। पिछली बातें जाने दीजिये। सन् १६४२ के भारत में आन्दोलन में ही अंग्रेजों ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी ज़िलों में क्या क्या अन्धेर नहीं किये थे। आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका में नीग्रो समाज के प्रति क्या नहीं होता है। ज़रा सी भूल पर भी किस दुर्दशा के साथ उनके

प्राण लिये जाते थे। "लिंचिंग" की प्रथा प्रसिद्ध है। नीग्रो के ऊपर पेट्रोल छिड़क कर उसमें आग लगा देना तो मामूली बात थी। आस्ट्रेलिया के भयंकर दमन से वहां के आदिम निवासी समाप्त होते जा रहे हैं। पहले अंग्रेजों ने भी काफ़ी ,,गुलाम" (राजनैतिक नहीं) रख छोड़े थे। सन् १६५८ में जमाइका का टापू अंग्रेजों के हाथ आया। उस समय वहां केवल १४०० गुलाम थे। सन् १६७० में इनकी संख्या ८००० हो गई। पचास वर्ष बाद ८०,००० थी। सन् १७७५ में १,६०,००० तथा सन् १८१६ में ३,१४,००० थी। बहुत बाद में अंग्रेजों ने वहां से यह प्रथा समाप्त की। अतएव अपना मौक़ा आने पर, दांव लगने पर सभी अत्याचार करते हैं और सार्वजनिक निर्दयता तथा अत्याचार तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक सरकारी तौर पर मान्य निर्दयतायें समाप्त न हों।

कारागार

प्राणदण्ड के साथ कारागार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना कारागार की जानकारी के प्राणदण्ड की पूरी जानकारी नहीं हो सकती। प्रारम्भिक काल में अपराधी को गिरफ्तार करने के साथ ही मुखिया के सामने पेश कर देते थे। तुरन्त दण्ड मिल जाता था। गवाही-साखी या अपराध की छानबीन करने का नियम ही नहीं था। जब समाज का सङ्गठन अधिक वैज्ञानिक होने लगा तथा राज्य व्यक्तिगत प्रतिहिंसा को नियन्त्रित कर समाज की ओर से स्वयं प्रतिहिंसक बनने लगा तो अपराध की (अपराधी की नहीं) थोड़ी बहुत छानबीन शुरू हुई। अपराधी को अपना अपराध स्वीकार करना भी जरूरी था। इसलिये दण्ड के पूर्व उसे कुछ समय तक बन्द रखना पड़ता था। इस अवधि में उसे तरह तरह की यातनायें दे दी जातीं और मरने के पूर्व उसके सब कुछ करम हो जाते। बन्द रखने केस्थानों में उससे "अपराध स्वीकार" कराया जाता था जिसके लिये उसे हर प्रकार का नर्क भोगना पड़ता था।

पहले के राजा-रईस, जमीदार अपने महलों में या क़िले में अपने आदमी बन्द करने के लिये तहख़ाना रखते थे। सरकार का इन तहख़ानों पर नाम मात्र का नियन्त्रण था। आबादी बढ़ने के साथ अपराध भी बढ़ने लगे। इसलिये ज़रूरत महसूस हुई कि लफंगों तथा बदमाशों को सरकार स्वयं रखे। इङ्गलैण्ड में पहला जेल सन् १५३२ में ब्रिडवेल में खुला था। वह बादशाह का एक मकान था। पर इनके पहले भी राजा की ओर से फ्लीट तथा मार्शल सी के जेलखाने सरकारी हवालात के रूप में थे। इनमें क़ैदियों को कितना कष्ट था इसका पता सन् १७२६ में हाउस आव् कामन्स की एक कमेटी के रिपोर्ट से मिलता है। सन् १७२६ के क़ानून के बाद इङ्गलैण्ड-स्कॉटलैण्ड के जेलों का सुधार शुरू हुआ और आज उनकी सूरत ही बदल गई है। १८६८ का ब्रिटिश प्रिज़न ऐक्ट पढ़ने से काफ़ी जानकारी हासिल होगी। ब्रिटेन में पहले-पहले हर एक क़ैदी को अलग कोठरी में रखते थे। यह स्वयं बड़ी भारी यातना थी। फ्रांस में अब भी एक वर्ष की सज़ा वाले क़ैदी को तनहाई में रखते हैं। बेल्जियम में युगों तक तनहाई में रखने का नियम था। अब इस प्रथा में काफ़ी सुधार हो गया है। जर्मनी के जेलों का सुधार अभी हाल की घटना है, सन् १६२३ में उनकी व्यवस्था कुछ ठीक हुई थी। इटली में क़ैदी को अपनी सज़ा का शुरू का अंश तनहाई में भोगना पड़ता है। स्वेडन में जेल सुधार का कार्य सन् १६२१ में हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका में क्रान्ति युद्ध के पूर्व जेलों का कोई महत्व नहीं था। जेलों का महत्व तो तब होता है जब "क़ैद की सज़ा" दी जाती हो। आदि काल से लेकर सत्रहवीं सदी तक प्राय: सभी देशों में—भारत को छोड़कर—दो प्रकार की ही सजायें थीं। एक था अर्थ-दण्ड, दूसरा प्राणदण्ड। क़ैद की सजा तो बहुत बाद में आई। व्यक्ति के अपराध तथा उसके व्यक्तित्व का, अपराध के महत्व का

विचार कर दण्ड देने की प्रथा उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल से शुरू हुई है। अन्यथा ब्रिटेन के जेलों में अनिश्चित काल के लिये गुण्डे, लफंगे तथा बदमाश रखे जाते थे, इस लालच से भी कि उनसे मुफ़्त में मेहनत का काम लिया जावेगा। इसीलिये सन् १८५४ में इङ्गलैण्ड के जेलों की आबादी १५,००० थी। १८७४ में ६,००० रह गई—इसलिये कि ज्यादा आदमियों की ज़रूरत नहीं थी। सन् १६४६ में जार्ज फ़ाक्स ने "मित्र समाज" या "सोसायटी आव् फ्रेण्डस्" की स्थापना की थी। बाद में इन्हीं को क्वेकर्स कहते थे। अपराधी के प्रति मानवता तथा उदारता का व्यवहार करने का संसार में प्रथम आन्दोलन इस समाज ने शुरू किया।[1] इसके आन्दोलन का प्रभाव ब्रिटेन में काफ़ी पड़ा पर जेल सुधार का क्रमबद्ध कार्य जान हावर्ड ने शुरू किया था। उन्हीं के प्रयत्न से सन् १७७८ का क़ानून बना था जिसे ब्रिटिश जेल प्रणाली को प्रारम्भ करने का गौरव प्राप्त है। "सोसायटी आव् फ्रेण्ड्स" का प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका पर भी पड़ा था। इस समाज तथा जान हावर्ड की लेखनी के प्रभाव से प्रभावित होकर पेनसिलवानियां के राज्य ने सन् १७७६ में "क़ैद की सज़ा" भी देने का निश्चय किया था। पर वास्तव में सन् १७६६ के क़ानून के द्वारा शारीरिक दण्ड के स्थान पर "सार्वजनिक रूप से, बेइज़्ज़ती के साथ कठोर परिश्रम" की सज़ा की शुरूआत की गई।[2] तब से जेलों की दुनियां बहुत बदल गई है। अब जेलों में क़ैदियों को "दण्ड देने के लिये," "प्रतिशोध के लिये" या "डराने के लिये ताकि वे आइन्दा ऐसा काम न करें"—नहीं रखा

---

1. The Individualisation of Punishment By R. Sabilles. Eng. Tran. 1911.
2. The Evolution of penalogy in Pennsylvania–H. E. Barnes. Edn 1927

जाता। अब जेलों को "सुधार गृह" कहा जाता है जिसमें असाधारण, सुमार्ग से विचलित नागरिक की "चिकित्सा" की जाती है।

पर, जेलों में कितना भी सुधार हो, जेल जेल ही है और उसका अधिकारी यदि चाहे तो क़ैदी का जीवन नर्क कर सकता है।[1] इङ्गलैण्ड में शुरू शुरू में जेल के उच्च अधिकारी (वार्डन) का पद बड़ा क़ीमती था। सब से ऊँची बोली वाले को दिया जाता था। मरने तक पद पर बने रहना साधारण बात थी। कुछ लोगों ने इसे मौरूसी जायदाद बना लिया था। एक बार क़ीमत चुका देने के बाद फिर जेल अधिकारी जितना, जैसे, जिस प्रकार चाहे क़ैदी से मारपीट कर वसूल कर सकता था। जेल की अनेक यातनाओं में उसका सर्वोच्च अधिकारी सबसे बड़ी यातना होता था।

पर, हमारे देश में कारागार की प्रथा बड़ी पुरानी और सुसङ्गठित थी। श्रीकृष्ण ने कारागार में जन्म लिया। महाभारत काल में यदि नज़रक़ैद रखने का नियम न होता तो वासुदेव तथा देवकी जेल के भीतर महीनों तक कैसे रखे जाते! मनु ने स्पष्ट आदेश दिया था कि राजपथ के किनारे कारागार बनाना चाहिये ताकि और लोग देखें और नसीहत लें तथा "अपराधियों की यातना और अङ्ग-भङ्ग किये गये अपराधी" दिखाई पड़ें।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी स्पष्ट है कि दण्डित को निश्चित अवधि तक कारागार में रखने का नियम था। कौटिल्य ने जेल के सुपरेण्टेण्डेण्ट के लिये बड़े कठोर आदेश दे रखे थे। "यदि कारागार में किसी व्यक्ति को उसका अपराध बतलाये बिना जेल में रख लिया जाता है, बन्दी के साथ दुर्व्यवहार होता है, उसे पीटा जाता है,

---

1. History of Tortures Scott. 2. History and culture of Indian people. M. C. Majumdar Vol II.

उसको भोजन नहीं दिया जाता है, जल नहीं मिलता या उससे घूस लिया जाता है तो जेल अधिकारी को कठोर दण्ड दिया जावेगा। यदि वह अधिकारी किसी बन्दी स्त्री का सतीत्व नष्ट करता है तो उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये।"[१]

ढाई हज़ार वर्ष पूर्व महापण्डित कौटिल्य ने आज के जेलों की समस्या हल कर दी थी। क़ैदी के साथ दुर्व्यवहार न हो—जो दण्ड न्यायालय दे वही पर्याप्त है—उससे घूस न ली जाय तथा स्त्रियों की पूरी रक्षा हो। आज का दण्ड-पण्डित जिन सिद्धान्तों का निरूपण कर रहा है, कौटिल्य उनके विषय में बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से लिख गये हैं। जेल तथा क़ैदी की मर्यादा के सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति ऐसे मुख्य व्यवस्थापक भी इससे भिन्न सम्मति नहीं रखते रहे होंगे। चीन में भी जेल के अधिकारी के ऊपर कड़ा प्रतिबन्ध था। वह बन्दी पर उतना ही अत्याचार कर सकता था जितना न्यायाधीश बतलाता था। यदि यह पता चल जाय कि उसने निजी वैरवश कोई अत्याचार किया है तो उसे कोड़े लगते थे तथा देश-निकाला तक हो सकता था। हत्या तथा व्यभिचार के अपराध में ही महिलाओं को जेल में रख सकते थे अन्यथा और अपराधों पर वे अपने संरक्षक के यहां मुक़द्दमा का फ़ैसला होने तक रह सकती थीं।

हजारों वर्ष पूर्व हमारे यहां जेल प्रणाली पूरी तरह से चालू थी। यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिक सुधार नहीं हो पाये थे, लोग उनको जानते से थे। पर, उस समय धर्मप्रधान होने के कारण जेल जीवन में दयालुता का समावेश निश्चित था। कारागार की सज़ा बहुत कम मिलती थी।[२] ज़्यादातर अर्थदण्ड होते थे। पाल नरेशों के समय में प्राप्त सूचनाओं से पता चलता है कि

---

१. मजुमदार की पुस्तक 2. State and Government in Ancient India – Dr. A S Altekar पृष्ठ २४

जुर्माना वसूल करने वाले अफ़सर को दासापराधिक कहते थे। गुप्त शासन काल में जेल तथा पुलिस के अफ़सर को दण्डनायक कहते थे।

मुसलिम शासन काल में प्राचीन मर्यादा समाप्त हो गई थी। राजा पर से धर्म शास्त्र का अंकुश उठ गया था। एकदम निरंकुश शासन था। एक बार जेल में डाल देने के बाद जन्म भर उस क़ैदी की याद न आना तो मामूली बात थी। अभी दस वर्ष पूर्व तक देशी नरेशों के जेलखानों से ऐसे क़ैदी निकले हैं जो चालीस-पचास वर्ष से बिना मुक़द्दमा पड़े हुए सड़ रहे थे। मुग़ल काल में हमारे जेलों की हालत और भी ख़राब हो गई। नर्कमय तहख़ाने रह गये जिनमें से निकाल कर सूली पर लटका दिया जाता था या हाथी के पैर के नीचे कुचला जाता था। ब्रिटिश शासन काल में इङ्गलैण्ड के प्रभाव के कारण जेलों की व्यवस्था में काफ़ी सुधार हुआ। जेल में रहने की मीयाद, छूट, रियायती दिन, इतवार की छुट्टी आदि का आरम्भ हुआ पर वास्तव में हमारे जेल सूअर बाड़ा ही थे। राजनैतिक आन्दोलन के कारण जब राजनैतिक क़ैदी जेलों में जाने लगे, उनकी हालत अनायास सुधरने लगी। कांग्रेस के शासन काल में जेलों में सन्तोषजनक सुधार न होने पर भी सराहनीय प्रगति हुई है।

अर्थ दण्ड या प्राणदण्ड

पालराज वंश के जेल-शासन का ज़िक्र करते हुए हमने लिखा है कि यथाशक्य कारागार की सज़ा कम दी जाती थी, अर्थदण्ड अधिकतर होता था। हमारी सभी संहिताओं में,मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति आदि में अनेक अपराध पर अर्थदण्ड की व्यवस्था है। कौटिल्य ने उन अनेक अपराधों के लिये जिनके लिये प्राणदण्ड भी हो सकता था, पण-दण्ड (अर्थदण्ड) की व्यवस्था की है।

जेल की सजा "छोटे अपराधों" के लिये सोलहवीं सदी से पश्चिम में शुरू हुई। चीन में प्राणदण्ड के साथ अर्थ दण्ड भी अनिवार्य था। जिसे प्राणदण्ड मिलता उसकी समूची सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी तथा उसका कुछ अंश सरकार लेती थी, कुछ अंश उस परिवार को मिलता था जिसका व्यक्ति मारा गया है या जिसकी हानि हुई है।[1] ब्रिटेन में ऐङ्गलोसैक्सन काल में मारे हुए व्यक्ति की औक़ात के मुताबिक़ जीवन का मूल्य लगा कर जुर्माना होता था और उसे अदा कर देने पर प्राणदण्ड नहीं होता था। आँख, नाक, कान, आदि इन्द्रियों की हानि पहुँचाने पर उसकी पृथक् क़ीमत होती थी।

आज के ज़माने में भी अपराध का आर्थिक रूप हो गया है। अनेक जुर्मों में "जुर्माना अथवा क़ैद" की सज़ा होती है। कुछ में दोनों होती हैं। जुर्माना न दे सकने पर क़ैद की सज़ा बढ़ा दी जाती है। यह घोर सामाजिक विषमता की बात हुई। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जिसके पास पैसा होगा वह अपनी रिहाई ख़रीद सकेगा तथा ग़रीब को जेल जाना ही होगा।[2] पर अर्थदण्ड आज की ईजाद नहीं है। इस ज़माने की उपज नहीं है। वास्तव में प्राचीन काल में अर्थदण्ड का बड़ा रिवाज था। जिस प्रकार शुरू-शुरू के जेल केवल सम्पति सम्बन्धी क़ैदियों को रखने के लिये जेल बने थे यानी नादेहन्द कर्जदार को बन्द रखने के लिये बने थे उसी प्रकार प्राचीन जातियों का निजी हानि का मूल्यांकन था। जिस समय केन्द्रीय सत्ता नहीं थी, राज्य का सङ्गठन नहीं हुआ था, जाति के मुखिया की प्रभुता भी नहीं स्थापित हुई थी, आदमी

1. Notes and Commentaries on Chinese Criminal Law—Alabaster (1899).
2. Society and Its Criminals. page 236.

अपनी हानि का अनुमान स्वयं कर लेता था। उस समय पशु-धन था। पशु के रूप में हानि का—चाहे वह जीवन की ही क्यों न हो--हरजाना चुका दिया जाता था। अपराध शास्त्र के पण्डितों का अनुमान है कि शुरू-शुरू में प्राणदण्ड के बजाय पणदण्ड यानी अर्थदण्ड होता था। अर्थदण्ड हर एक युग में चालू था। जब राज्य की सत्ता क़ायम हो गई, सार्वजनिक दण्ड-विधान बन गया, आदि कालीन अर्थदण्ड का महत्व जाता रहा पर वह कभी मिटा नहीं। मध्य युग में पश्चिमी देशों में घोर से घोर अपराध की सजा जुर्माना देकर, हरजाना यानी अर्थदण्ड देकर भुगता ली जाती थी। रोमन व्यवस्था में भी अर्थदण्ड था। जर्मन व्यवस्था में हरजाना का बड़ा महत्व था। स्पष्ट है कि शुरू ज़माने में दीवानी तथा फ़ौजदारी के क़ानून भिन्न न होने के कारण दोनों के उसूल अर्थदण्ड से पूरे हो जाते थे। इसलिये अर्थदण्ड को प्रधानता मिलना कोई आश्चर्य नहीं है। पहले अध्याय में हम मैलिनोस्की तथा थर्नवाल्ड का जिक्र कर आये हैं जिन्होंने दण्ड विधान का मूल "परस्पर आदान-प्रदान" माना था। वास्तव में "इस हाथ दे उस हाथ ले" का यह वसूल शुरू से ही अपराध का मूल्यांकन करता था। अपराध की मर्यादा वैसे ही बनाई जाती थी जैसे ऋणदाता तथा ऋणी के बीच का सम्बन्ध। कर्ज़ देने वाला मय व्याज के अपनी रक़म मांगता था। जान लेने वाले को मय व्याज के दाम चुकाना पड़ता था। समय पाकर अपराध का मूल्यांकन बदला। मनुष्य के जीवन का मूल्य अधिक क़ीमती समझा जाने लगा होगा। अतएव जिसकी हानि की गई होगी उसने पशु या अन्य धन के रूप में मुआविज़ा न लेकर प्राण के बदले प्राण लेने वाले का प्राण मांगा होगा। व्यक्ति की इस माँग को पूरा करने की जिम्मेदारी जाति के मुखिया ने या समाज के प्रधान ने—या फिर बाद में राज्य ने अपने ऊपर ले ली होगी।

एक बार प्राणदण्ड का प्रतिहिंसक आनन्द उठाने के बाद समाज ने उस आनन्द को छोड़ा नहीं। कई देशों में उसके साथ सम्पत्ति भी छीन लेने का प्रबन्ध कर लिया गया। आर्थिक व्यवस्था में आधुनिक परिवर्त्तन के बाद पण-दण्ड (अर्थ-दण्ड) का महत्व पुनः बढ़ गया है और वर्त्तमान क़ानूनों को देखने से पता चलता है कि सत्ताधारी पैसे वालों ने पैसा देकर अपराध से मुक्ति ख़रीदने का अद्भुत उपाय निकाल लिया है। कितने ही ऐसे अपराध हैं जिन में हत्या से भी अधिक भीषण अनाचार किया जाता है पर उसकी सज़ा जैसे कुछ नहीं है। तेज़ मोटर चला कर किसी की जान ले लेने वाला मोटर मालिक कुछ अर्थदण्ड देकर छूट जाता है। लिमिटेड कम्पनी या बैंक में हज़ारों ग़रीबों का पैसा लगवा कर, फिर सब रक़म अपने घर में रख कर, दिवाला निकाल देने वाला सेठ जेल नहीं जाता। जिनके पैसे डूब गये वे चाहे भूखों ही मर जाँय। आज अनेक ऐसे भयङ्कर अपराध, जैसे चोरबाज़ारी आदि हो रहे हैं जो हज़ारों की भूख, नंगेपन तथा मृत्यु के कारण हैं पर ऐसे अपराधियों को बिरले ही दण्ड मिलता है और मिलता भी है तो धन के रूप में। छः महीने की सज़ा हज़ार दो हज़ार रुपये के अर्थदण्ड के रूप में बदल जाती है। जन समूह इन "सफ़ेद-पोश" हत्यारों के प्रति घृणा भी नहीं करती, उदासीन सी रहती है। इसका कारण है। प्रदर्शनमय तथा प्रत्यक्ष अपराध से उसे उत्तेजना होती है। उसकी वासना को शान्ति मिलती है। जेब में कैंची लगाता हुआ चोर सबको अपनी ओर खींच लेता है। धोखा देकर सरकारी टैक्स को न अदा करने वाला धनी यदि जनता के जेब में कैंची चलाता है तो कोई उधर ध्यान भी नहीं देता।

इसका कारण है। अपराध स्वतः कोई चीज़ नहीं है। जनता अपराध उसी को समझती है जिस कार्य को वह पसन्द नहीं करती पर जिसके किये जाने से उसमें भावुक प्रतिक्रिया तथा प्रतिहिंसा की उत्पत्ति होकर मानसिक उत्तेजना प्राप्त होती है। किसी का प्राण लेना जन समूह को स्वीकार नहीं पर प्राण ले लिये जाने से तथा प्राण लेने वाले का प्राण हरने की क्रिया से घृणा के भाव की परितुष्टि होती है। प्रतिहिंसा की प्रेरणा को शान्ति मिलती है। इसलिये जनता को प्राण लेना बुरा लगता है। प्राणदण्ड नहीं।

तीसरा

अपराधी, अपराध तथा न्यायाधीश

कौन सा ऐसा युग था जब अपराधी नहीं थे या अपराध नहीं होता था। आदि काल का ऐसा कौन सा अपराध है जो मनु के समय में, आज के पांच हज़ार वर्ष पहले होता था, और अब नहीं होता। किन्तु क्या कारण है कि उन अपराधों पर पहले जैसा कठोर दण्ड नहीं दिया जाता है। व्यवस्था या क़ानून में जो परिवर्तन हुआ है, उसका कोई कारण, कोई रहस्य तो होगा ही। क़ानून बनाया किसने! सङ्गठित सम्प्रदाय या समुदाय का नाम राज्य है। असङ्गठित समुदाय ऐसी संस्था नहीं बना सकता जो सब पर अधिकार चला सके तथा जिसका अनुशासन सब लोग मानने लगें। बिना राज्य के तथा राजकीय अनुशासन के देश की सत्ता नहीं रह सकती।[१] सङ्गठित समुदाय का प्रतिनिधि होने के कारण राज्य समुदाय के बाहर नहीं जा सकता। इसलिये वर्तमान क़ानून का अधिकांश भाग उन प्रचलित रीति-रिवाज़ों से ग्रहण किया गया है जिनको राज्य द्वारा अपनाये जाने के पहले व्यवस्था के रूप में माना जाता था। राज्य की स्वीकृति या अपनाये जाने पर ये व्यवस्थायें निर्भर नहीं करती थीं। "राज्य इनका पालन कराता है, इसलिये कि ये व्यवस्था हैं, क़ानून हैं। वे इसलिये क़ानून नहीं हैं कि राज्य उनको कार्यान्वित करता है।"[२] इसलिये क़ानून राज्य से बड़ा है। इस बात को ध्यान में रख कर चलने

---

१. अराजक नाम रठ्ठ पालेतु न सक्का—जातक—भाग ६. पृ०.३९

2. The Austinian Theory of Law-Brown. Edn. 1906 page—334.

से ही हम वर्त्तमान दण्ड-प्रणाली पर अधिक निष्पक्षता पूर्वक विचार कर सकते हैं।

राज्य तथा समाज का सम्बन्ध कैसे पनपा। जिस "सामाजिक प्रतिविधान" को हम राज्य का जन्मदाता समझते हैं उसके विषय में दार्शनिक कांट का सिद्धान्त है कि उसे एक ऐतिहासिक घटना समझ कर न चलना चाहिये बल्कि सामाजिक सम्बन्ध का आदर्श समझ कर उस पर विचार करना चाहिये। किन्तु, इसमें हम एक भूल कर सकते हैं। हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि व्यक्ति तथा राज्य का सम्बन्ध स्वत: समझौते द्वारा हुआ होगा। विवश होकर नहीं। पर, ऐसा मानना भूल है। राज्य तथा व्यक्ति का अकाट्य तथा अनिवार्य सम्बन्ध है। हमारे सामाजिक कर्त्तव्य केवल उसी मात्रा में नहीं हो सकते जिस मात्रा में हम समाज से लाभ उठाते हैं।[1] ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण समाज का विचार करके किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करना होगा।

राज्य तथा समाज ने पुराने रीति रिवाजों के आधार पर अपराध तथा अपराधी का क़ानून बनाया। उस क़ानून में जलियांवाला बाग़ के दिनों के लिये कौन सी गुञ्जायश की गई थी कि भारतीयों को चौपाये की तरह से चलाया जाता था, नङ्गा करके कोड़े मारे जाते थे तथा अंग्रेजों को देखकर झुक कर सलाम करना पड़ता था! जनरल डायर ने ३६७ आदमी जान से मार डाले, १२०० घायल कर दिये थे।[2] पर, प्रचलित क़ानून में ऐसे जघन्य कार्य के लिये भी गुञ्जायश निकल आई और हम उसे ग़ैर क़ानूनी न कह सके। तो क्या क़ानून इतनी सरल तथा इतनी

---

1. Principals of Political Science and Government by B. B. Majumdar. Edn. 1946. Page 37.
2. Mahatma Gandhi—Odhams Press, London, 1942. Page 129.

व्यापक चीज़ है कि सब कुछ समेट ले। तब तो उसका "अपराधी" या "अपराध" एक बड़ी ख़तरनाक चीज़ हो जायगा। हम सब उसके दायरे में आ सकते हैं। जिसे हम अपराध कहते हैं वह किसी दूसरे राज्यमें प्रशंसा का कार्य हो सकता है। जिसे हम प्रशंसनीय कार्य समझते हैं वह भी अपराध गिना जा सकता है।

गांधी जी ने अपने सरल सीधे शब्दों में बड़ी मार्के की बात कही थी कि "जब दुष्टता फ़ैशन की और गुण की वस्तु बन जाती है तो उससे छुटकारा पाने में बड़ा समय लगता है।......... हमारे शब्दकोष से अपराधी शब्द हटा देना चाहिये। या तो हम सभी अपराधी हैं.........या जैसा कि एक जेलर ने कहा था कि गुप्त रूप से हम सभी अपराधी हैं।......समाज का कर्त्तव्य है कि उन लोगों के प्रति जो निश्चित रीतियों या परम्पराओं के विरुद्ध काम कर बैठते हैं, हृदयहीन सौतेली माँ जैसा व्यवहार न करें।......मैं ईमानदारी के साथ कभी भी किसी को फाँसी लटकाने की बात नहीं स्वीकार कर सकता.....एक बार जब कोई मारा गया तो उसकी क्षति-पूर्त्ति नहीं हो सकती। उसकी जान ले लेने का दण्ड नहीं दिया जा सकता। ईश्वर ही केवल ऐसी शक्ति रखता है कि किसी की जान ले ले क्योंकि उसीने जीवन दिया है।......व्यक्तिगत रूप से मैं हिंसा के अपराधियों को भी जेल में बन्द रखने के विरुद्ध हूँ।.......यदि मेरी चले तो सभी जेलों के फाटक खोल दूँ और हत्या के अपराधियों को भी छोड़ दूँ... हर प्रकार के अपराध भिन्न प्रकार की बीमारियाँ हैं और सुधारकों को उन्हें इसी रूप में देखना चाहिये।...सभी अपराधियों को रोगी समझ कर जेलों को उनकी चिकित्सा तथा स्वास्थ्य के लिये अस्पताल समझना चाहिये।" [1]

1 The Wit and Wisdom of Gandhi—Edited by H. A. Jack. 1951—Page 153–154.

बापू के इन मीठे तथा सरल शब्दों में समाज तथा राज्य शास्त्र का समूचा निचोड़ आ गया। उस महापुरुष ने अपराध की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली। हमारी प्रवृत्ति के भीतर बैठी प्रतिहिंसा तथा घृणा के भाव के साथ साधारण दुर्बलताओं को प्राकृतिक मान लिया तथा यह स्पष्ट कह दिया कि रीति रिवाजों के बल पर बना हुआ क़ानून समाप्त कर नये विचार से, सत्य तथा धर्म के विचार से प्रचलित क़ानून की रचना करनी होगी। तब हम समाज का वास्तविक कल्याण करेंगे। इस विषय पर बड़े ठण्डे दिल से विचार करना होगा। बापू ने ठीक ही कह दिया कि "अपराध एक रोग है।" हम उस महापुरुष के इन शब्दों को उतने ही भावुक ढंग से नहीं कह सकते। इस रोग को समझना भी होगा। हमारे ऐसे लोग केवल फ़ैशन के अनुसार कोरी उक्ति द्वारा इस समस्या का निबटारा नहीं कर सकते। आम तौर पर अपराधी उसे कहते हैं जो अपराध करने का दोषी हो। किन्तु एक व्यक्ति अपराधी का काम करते हुए भी अपराधी नहीं हो सकता।[1] हत्या करने वाला पागल आदमी अपराधी नहीं कहा जाता। इसलिये अपराध स्वतः कोई चीज़ नहीं रहा। विचार का विषय व्यक्तिगत अपराधी हो जाता है। उस व्यक्तिगत अपराधी को ही बापू ने "रोगी" कहा था।[2]

अपराध क्या है!

अपराधी की व्याख्या करने के लिये हमको उसका वर्गीकरण करना होगा। कैसा अपराधी! आम तौर पर यह कह कर छुट्टी पा ली जाती है कि वह व्यक्ति साधारण मनुष्यों से कम बुद्धि वाला, भिन्न बुद्धि वाला, या आर्थिक या अन्य परिस्थितियों से

---

1 The Individual Delinquent—Wilham Healy Edn 1927. Page 3. 2. वही, पृष्ठ २२.

प्रादुर्भूत प्राणी है। यानी वह एक विचित्र प्रकार का जन्तु है, एक क़िस्म का जानवर है जिससे समाज को ख़तरा है।[1] किन्तु, यह ख़तरा उसके किस काम से है! अपराध से! घूम फिर कर फिर वही सवाल आ गया कि अपराध क्या है? यह है बड़ा भयंकर शब्द। सभी इससे डरते हैं। "अपराध लगने से" कौन नहीं घबराता। अपराधी कोई नहीं बनना चाहता। पर अनायास भी अपराधी बनना पड़ता है। यदि अपराध की व्याख्या ठीक हो जाय तो अनायास अपराधी न बनना पड़े। हमें कुछ ऐसा भ्रम हो गया है कि अनैतिक कार्य का ही नाम अपराध है। किन्तु, अनैतिक काम पाप हो सकते हैं, अपराध नहीं। किसी ने मुझे अपनी पेंसिल रखने को दी है। मैंने उक्त आदमी को जानबूझ कर पेंसिल वापिस लेने की याद नहीं दिलाई। इस प्रकार वास्तव में पेंसिल चुराने का अपराध करते हुये भी मैं अपराधी नहीं हूँ। चोर नहीं कहा जाऊँगा। पापी हो सकता हूँ। कोई काम स्वतः अपराध नहीं होता पर काम का समय तथा काम करने का ढङ्ग अपराध होता है। आदमी की जान लेना भयानक अपराध है। पर तेज़ मोटर चलाने के कारण या शराब पीकर मोटर चलाने के कारण कोई मर जाय तो अपराध की सूरत ही बदल जाती है। एक देश में विवाहिता स्त्री को भगा ले जाना भारी अपराध है। दूसरे देश में यह व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार हो सकता है। भारत में ही छत्तीसगढ़ की कुछ जङ्गली जातियों में यह नियम है कि जो भी कोई किसी स्त्री को पकड़ कर उसके हाथ की चूड़ियाँ फोड़ कर अपनी चूड़ियाँ पहिना दे, वह औरत उसी की बीबी हो जायगी। ऐसी विवाहिता स्त्री को भगा ले जाना अपराध नहीं हुआ। जिसने उसे अपराध कह दिया, जहां पर अपराध की श्रेणी में आ गया,

१. पिछले पृष्ठ की पुस्तक। पृष्ठ १६०.

वही अपराध बन गया ! इसीलिये इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका में लिखा है कि "अपराध कोई निश्चित पदार्थ नहीं है।"

अपराध की व्याख्या करने का प्रयत्न अभी तक सफल नहीं हुआ है। कोई कहता है कि "यह असामाजिक कार्य है।" एक व्याख्या है कि "समाज ने जिस मर्यादा तक आचरण की आशा की थी, उसे पूरी न करना" अपराध है। "कोई ऐसा कार्य करना या न करना जिसके लिये क़ानूनी सजा निर्धारित हो।" इस तरह से जो चीज़ क़ानूनन मना हो, उसे करना यदि अपराध हो तो अंधेरी रात में बिना रोशनी के साइकिल चलाना उतना ही बड़ा अपराध है जितना किसी की जान ले लेना। पर. दोनों अपराधों को बराबरी का दर्जा देना कोई स्वीकार नहीं करेगा। इसलिये सिद्ध हुआ कि अपराध का कोई ऐसा रूप है जो क़ानून तथा विधान से भी ऊपर है। बहुत कुछ विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अपराध उन नियमों का उल्लंघन है जिन्हें समाज ने अपनी रक्षा के लिये बनाया है तथा बनाने का अधिकार रखता है।[1] स्वतः समाज कोई काम नहीं करता। उसका प्रतिनिधि ही कार्य सञ्चालन करता है। वह प्रतिनिधि है राज्य।

राज्य क्या है ! हैरल्ड लास्की के अनुसार "मानव चरित्र को नियन्त्रण में रखने के लिये एक प्रणाली बन गई है। उसी प्रणाली का नाम राज्य है। राज्य के स्वरूप की जितनी भी छानबीन कीजिये, यही प्रकट होगा कि यह एक प्रणाली मात्र है जिसके द्वारा मानव-जीवन को नियन्त्रण में रखने के लिये आचार-व्यवहार के कुछ सिद्धान्त लागू कर दिये जाते हैं। राज्य आज्ञा देता है कि चोरी मत करो। यह आज्ञा न मानने पर राज्य दण्ड देगा। राज्य आवश्यक कर्त्तव्यों के पालन की हिदायतें देता है और उन्हें

---

1 Boys in Trouble—By L. le Mesurier. Edn. 1931 Page 15.

मनवाने के लिये शक्ति का उपयोग करता है। राज्य के ही दृष्टि-कोण से, उसे ऐसा शासन करने का स्वतः सिद्ध अधिकार है। ये हिदायतें या निर्देश उचित, अच्छे या बुद्धिमत्तापूर्ण, हो या न हों पर राज्य के निर्देश हैं इसलिये वैध हैं। आदमी किस परिस्थिति में, कैसे काम करे, इसका निर्णय राज्य ही कर सकता है। यह भी कह सकते हैं कि राज्य उन व्यक्तियों का समुदाय है जिन्हें यदि आवश्यक हुआ तो मजबूरन जीवन की एक निश्चित प्रणाली के आधीन कर लिया गया है। उस समाज में हरेक आचरण उस प्रणाली के अनुकूल होना चाहिये।"[१] "प्रजा की मांग के द्वारा ही क़ानूनी अनुशासन तय्यार होते हैं।"

समाज ने राज्य की रचना की। राज्य ने समाज के आदेश की पूर्त्ति के लिये नियम बनाये। समाज के आदेश आदि काल से एक ही प्रकार के नहीं है। उनमें बराबर परिवर्त्तन होता रहता है। प्राचीन समाज ने दण्ड के लिये जेलों की रचना नहीं की थी। सब अपराध की सजा प्राणदण्ड थी। जब जेल की सजा होने लगी तो उस पर भी गिरजाघर का प्रभाव पड़ा। ईसाई पादरी एकान्त सेवन कर "प्रायश्चित्त" करते थे। अतएव क़ैदी के लिये भी "काल कोठरी" आदर्श समझी गई।[२] फिर भी, क़ैदी के लिये कारावास-निवास में कोई नियम या व्यवस्था नहीं थी। सन् १७८९ में जब फ्रांस में "मानव के अधिकार" की घोषणा हुई तो उसका प्रभाव क़ैदी के जीवन पर भी पड़ा। फ्रेञ्च दण्ड विधान सन् १७९१ में रास्ते पर आना शुरू हुआ। किन्तु, जेल इसके

1. Introduction to Politics—Harold J. Laski. Edn. 1936 page 1–2
2. Crime and its Repression—By G. Aschaffenburg Edn. 1913.

काफ़ी पहले संगठित हो चुके थे। ऐम्सटर्डम का जेल सन् १५९३ का था। बाल अपराधियों के लिये पोप क्लीमेण्ट ग्यारहवें ने सन् १७०३ में एक जेल बनवाया था। समाज की विचारधारा में रद्दो-बदल के कारण अपराधी का भी पद बदलता गया। आज दण्डित अपराधी को अनेक देश के जेलों में घर से अधिक सुख मिलता है। वह सुबह-शाम बाहर घूमने जा सकता है। अपने पैसे से सिगरेट पी सकता है। लम्बी अवधि की सज़ा में छुट्टी लेकर घर भी जा सकता है। जेल जीवन में, जेल के कारख़ानों में काम करके काफ़ी कमा भी सकता है। क्या ऐसे ही जीवन का नाम दण्ड है! अभी दो सौ वर्ष पूर्व जिस चोरी करने के अपराध में प्राणदण्ड मिलता था, आज उसी अपराध में ऊपर लिखा सुखमय जेल जीवन मिलता है। ऐसा क्यों होता है?

जब अपराध के विषय में समाज का निश्चित मत नहीं है तो फिर अपराध क्यों होते हैं? पण्डितों का कहना है कि जितना ही अधिक आदमी अपने निजी व्यक्तित्व का अपने चारों ओर के वातावरण के साथ सामञ्जस्य करा सकेगा[1] उतना ही वह "न्याय-प्रेमी" सच्चा नागरिक होगा। व्यक्ति तथा वातावरण के बीच जो विषमता होती है उसी से अपराध पैदा होते हैं। ग़रीबी, शिक्षा का अभाव, बुरी सोहबत, माता-पिता के संरक्षण या प्रेम में कमी, अधिक लाड़-प्यार, अभाव की पूर्त्ति की तीव्र इच्छा तथा अभाव की भावना आदि कारणों से अपराध हो सकते हैं। पर, यदि इन्हीं कारणों से ऐसा होता तो एक ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती थी जिसमें अभाव की भावना न हो, ग़रीबी न हो, सभी वर्ग समान हों तथा ऐसे समाज में दण्ड देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जब अपराधी ही नहीं रहे तो दण्ड

1. Boys in Trouble—Page 23.

कैसा। पर कम्यूनिस्ट देशों में पूंजीवादी देशों की तुलना में कम चोर-डाकू नहीं हैं। चोरी, डकैती, क़त्ल सब जगह हैं। तब, अपराध का कारण कोरा वातावरण ही नहीं हो सकता, सामाजिक विषमता नहीं हो सकती। पिता की अपराधी प्रवृत्ति पुत्र में भी आती है, ऐसी बात भी अब ग़लत साबित हो गई है। डाक्टरों ने साबित कर दिया है कि पिता की बीमारी पुत्र को होना अनिवार्य नहीं है। अठारहवीं सदी के प्रारम्भिक काल में इटालियन विद्वान लोम्ब्रोजो ने बहुत छानबीन करके यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि विशेष प्रकार की शक्ल-सूरत, ऊंचाई, नाक-कान, आंख वाले ही अपराधी बन जाते हैं। गोरिंग आदि ने उनके इस सिद्धान्त की धज्जियां उड़ा डालीं। तय हो गया कि अपराध शक्ल-सूरत पर नहीं निर्भर करता।

यदि यह पुस्तक अपराध-शास्त्र पर होती तो हम इस विषय पर काफ़ी लम्बा विवेचन करते। हमारा क्षेत्र प्राणदण्ड के अपराध तथा अपराधी तक ही सीमित है। इसलिये हमने ऊपर जो विवेचन किया है तथा इस पुस्तक में अपराध-अपराधी का जहां भी कहीं ज़िक्र किया है वह प्राणदण्ड से सम्बन्धित था। यदि अपराध-विज्ञान पर प्रकाश डालना हो तो लोम्ब्रोजो या उनके भी पहले के लेखकों के सिद्धान्तों से लेकर वर्तमान ग्लूक-तालिका तक का क्षेत्र पार करना पड़ेगा। यदि हम ऐसा करेंगे तो अपने मूल विषय से हट जायेंगे। हमें बहुत जल्दी अपराध की व्याख्या या अपराधी का परिचय प्राप्त करके आगे बढ़ना है। इसीलिये हम पुनः अपना प्रश्न दोहराते हैं—

"अपराध किस वस्तु का नाम है"

वैज्ञानिक विचारधारा

सम्भव है हम जो कुछ लिख रहे हैं, वह कतिपय विद्वानों को बुरा लगे। ख़ास कर पुलिस विभाग के लोग मेरी बातों से

कठिनाई से सहमत होंगे। किन्तु, अपराधशास्त्री तथा पुलिस का झगड़ा युगों से चला आ रहा है। पुलिस नियम के विरुद्ध प्रत्येक कार्य को अपराध समझती है। अपराधशास्त्री उस नियम के औचित्य पर ही हमला करने के लिये तय्यार हैं। आजकल सामाजिक नियमों की अवज्ञा करने वाले को अपराधी न कह कर असामाजिक व्यक्ति कहने की प्रथा चल पड़ी है! क्या यह मान लिया जाय कि जो असामाजिक काम कर रहा है वही बुरा काम है, पाप का काम है। बाक़ी सब काम भले हैं! कितने ही लोग हर साल नक़ली दिवाला निकाल कर लाखों रुपया हड़प कर जाते हैं। पुलिस उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती पर किसी की जेब से सबके सामने पांच रुपया निकाल लेने वाला ६ महीने के लिये जेल चला जाता है। कम्पनी के शेयरों की हेरा-फेरी में करोड़ों रुपया डूब जाता है। नक़ली कम्पनियां बना कर ग़रीब जनता का लाखों रुपया चूस लेने वाले मूंछों पर ताव देते घूमते हैं। यदि समाज के अकल्याण से अपराध का अन्दाज़ लगता हो तो संयुक्त राज्य अमेरिका में हर साल अनुमानतः नक़ली दिवाला तथा रद्दी स्टॉक और शेयरों में जनता का १०,००० लाख डालर यानी लगभग ५ अरब रुपया डूब जाता है जब कि डकैती, जेबकटी, चोरी आदि में अमेरिकन जनता का प्रति वर्ष २५४० लाख डालर यानी लगभग १,२७,००,००,००० रुपये की हानि होती है। यह अवश्य है कि चोरी-डकैती के अपराध से उत्तेजना पैदा होती है, अनुकरण और उसकी रोकथाम, सामाजिक व्यवस्था में विरोध तथा उसके दिमाग़ी प्रतिरोध तथा उससे उत्पन्न हिंसा-प्रतिहिंसा की भावना से हमारी कामुक प्रवृत्ति को शान्ति मिलती है। एक मनोवैज्ञानिक ने सच कहा है कि यदि अपराधी न होता तो मानव को अपने मन की दुर्भावनाओं के जोश को ठण्डा करने का अवसर कैसे मिलता। हमारे विकारों

का शिकार बनकर और उनको समेटकर अपराधी संसार से चल देता है। अस्तु, दिवालियों या कम्पनी के लुटेरों के छिपे अपराध को समाज चुपचाप खा जाता है। इसलिये अपराध उसे ही मानना चाहिये जिससे तत्कालीन समाज के बहुमत को "उत्तेजना" प्राप्त हो।

देश की अमीरी या ग़रीबी पर अपराध निर्भर करता है, ऐसी बात मैं नहीं मानता। अमीर देशों का सिरताज संयुक्त राज्य अमेरिका है। उसके विषय में श्री कार ने लिखा है कि "जो राष्ट्र मशीन, रेडियो तथा मोटर गाड़ियों के बनाने में संसार में सबसे आगे है, वही राष्ट्र क़ानून और व्यवस्था की दृष्टि से सभी सभ्य देशों में सबसे पीछे है, सामाजिक नियन्त्रण की प्राचीन समस्या का हल निकालने में सबसे पिछड़ा है—दूर है।"[1] इस कटु सत्य के आंकड़े वर्तमान हैं। सन् १६५१ में संयुक्त राज्य में फ़ी १८ सेकेण्ड पर एक अपराध होता था। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका को पूंजीपति देश कहें तो उसके विपरीत कम्यूनिस्ट रूस का उदाहरण भी उतना ही लज्जाजनक है। यू० एन० आर० आर० ए० कमीशन के एक सदस्य जॉन फ़िशर के कथनानुसार सन् १६४५-४६ में रूस की राजधानी मास्को के चारों ओर इतनी ज़्यादा डकैतियां पड़ने लगीं कि एक पूरी घुड़सवार पल्टन भेज कर डाकू दल से लोहा लेना पड़ा था।[२]

ऊपर हमने राज्य की परिभाषा में बतलाया है कि समाज के अनुशासनों को कार्यान्वित करने वाली शक्ति का नाम राज्य है।

---

1. Delinquency Control—By Lowell Julian Carr Edn. 1940—Page 3.

२. जॉन फ़िशर का लेख—"No rest for the weary Russians" in "Readers Digest" Dec. 1946, Page 104.

समाज की एजेन्सी राज्य के पास है। क्या समाज इतना मूर्ख है कि अपना कल्याण-अकल्याण कुछ नहीं समझता और भूल किये जा रहा है। पर, राज्य का स्वरूप वह नहीं रह गया है जिसका आदर्श गाया जाता है। आज राज्य निरन्तर व्यक्ति के ऊपर अपना नियन्त्रण कठोर करता जा रहा है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सिद्धान्त की बात हो रही है। कम्यूनिस्ट सत्ता में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं रहता। समाजवादी सत्ता में व्यक्ति का बलिदान करके समाज को सब कुछ समझते हुए राज्य को सब हक़ दे दिये जाते हैं और पूंजीवादी सभ्यता में कुछ थोड़े से व्यक्ति समाज तथा व्यक्ति दोनों को निगल जाते हैं। जिस अहङ्कार तथा अहंभाव से मानव ने अपना व्यक्तित्व प्रारम्भ किया था, उसका समुच्चय राज्य बन गया है। राज्य के अहंभाव ने राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय दलबन्दी को उतना ही प्रतिहिंसात्मक बना दिया है जितना व्यक्ति की निजी घृणा ने। चूंकि राज्य हमारे मन की घृणा को जगाये रखा है इसलिये हम उसको बलवान बनाते चलते हैं। जो राज्य सामाजिक विकारों को जितना पनपने देता है, उतना ही प्रिय होता है। सबसे बड़ा सामाजिक तथा व्यक्तिगत विकार है "भय"। पड़ोसी से भय, बलशाली से भय, दूसरे राज्य से भय। प्राचीन काल से ही हम भय के वातावरण में रहते हैं। इसका निरूपण प्रथम अध्याय में हो चुका है। अपने को भय से बचाने के लिये हमने अपने लिये "राज्य का भय" पैदा किया। आज वही राज्य सबसे सफल है जो हमको अनेक काल्पनिक भय दिखाकर भयभीत रखता है, साथ ही उस भय का आतङ्क खड़ा करके अपने भय से हमको पंगु बना देता है। हिटलर ने, मुसोलिनी ने काल्पनिक भय की मूर्त्ति खड़ी करके अपनी निरंकुश सत्ता स्थापित कर ली। और, फ़ासिस्ट या नाज़ी राज्य से बढ़कर क्रूर शासन इस ज़माने में मिलना कठिन है। आज के

दण्ड विधान के विषय में भी ठीक यही बात है। हमारे मन में असामाजिक कार्यों की एक धारणा, एक भ्रांति बैठ गयी है। समाज की अरक्षा की आशंका तथा नियमों के उल्लङ्घन से व्यवस्था में घोर व्यतिक्रम का एक ऐसा भूत सवार हो गया है कि दण्ड सम्बन्धी सुधार में बड़ा ख़तरा दीख पड़ता है। हमने अपना जीवन काल्पनिक विपत्तियों से भी विषैला कर लिया है। बड़े बड़े पण्डित कल्पना के प्रवाह में बह गये हैं। संसार को सभ्यता तथा संस्कृति की उच्चतम शिक्षा देने वाले विद्वान भी काल्पनिक भय से न बच सके। शायद नीत्से का यह कथन सदैव सत्य रहेगा कि मानव की नैतिक भावनाओं से प्राचीन काल की रक्त तथा यन्त्रणा के प्रति अभिरुचि पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई है। कांट ऐसे मनोवैज्ञानिक प्राणदण्ड के कट्टर समर्थक थे, इतने बड़े समर्थक थे कि यन्त्रणा तथा प्राणदण्ड के प्रथम विरोधी बेक्कारिया की भी खिल्ली उड़ाते थे। गेटे ऐसा महान् पुरुष प्राणदण्ड की प्रणाली को ज़रूरी समझता था।

प्राचीन भारत ने दण्ड को धर्मशास्त्र का विषय बना दिया था। दण्ड का रूप कठोर होते हुए भी प्रायश्चित्तात्मक था। इसलिये नीच "स्व" को जागृत होने का अवसर कम था। कठोरता के साथ मानवता थी। पर, पश्चिम की दण्ड प्रणाली प्रतिशोधात्मक थी। आज भी उसका आन्तरिक रूप वही है। व्यक्तिगत बहिर्मुख प्रतिशोध का स्थान राज्य के अन्तर्मुख प्रतिशोध ने ले लिया। किन्तु प्रतिशोध की कठोरता से अपराध में कमी नहीं होती। इङ्गलैंड का ही उदाहरण लीजिये।

अठारहवीं सदी में इङ्गलैंड में "देश द्रोह" के अपराध में अपराधी के हाथ पैर फैला कर बांध देते थे। कोड़े मार मार कर घायल कर देते थे। शरीर में से कुछ हिस्सा काट लेते थे। पर

यह ध्यान रखते थे कि प्राण न निकल जाय वरना खेल खत्म हो जायगा। फिर पेट फाड़ कर लाद निकाल लेते थे, और उसकी आंखों के सामने लाद जलाते थे। इसके बाद उसका सर काट लेते थे। फिर जला देते थे और उसकी राख हवा में बिखेर देते थे। इतनी अमानुषिकता होने पर भी उन दिनों इङ्गलैंड में राजनैतिक उपद्रव कम नहीं हुए। अठारहवीं सदी के अन्त तक अपराधिनी स्त्री को इङ्गलैंड में जला कर मारते थे। उसे सूली देना स्त्री की मर्यादा के विरुद्ध समझा जाता था। आज वही अपराध है, वही नारी जाति है पर जला कर मारने पर ब्रिटेन में क्रांति हो जायगी। क्यों! वास्तव में दण्ड या अपराध कोई चीज़ नहीं है। समाज की भावुकता ही सब कुछ है। आज वह कुछ सोचती है। कल कुछ। इसलिये लास्कीने कहा है कि "बहुमत" ही नियम है। आज का अल्पमत कल जब बहुमत होगा तो वह जो कहेगा, वही नियम होगा। अँग्रेज जनता छोटे छोटे बच्चों को फांसी पर लटकते देखकर विकल नहीं होती थी। सन् १८३२ में भी एक ६ वर्ष के बच्चे को इस अपराध में फांसी दी गई थी कि उसने एक दूकान की खिड़की में से दो आने की क़ीमत का पासा चुरा लिया था। उस समय के समाज के लिये वही दण्ड उचित था। सन् १६०८ में क़ानून के अनुसार ब्रिटेन में सात वर्ष की उम्र तक के बच्चे को "अपराधी" मानना ही समाप्त कर दिया गया। १४ वर्ष की उम्र के बच्चे को प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता था। इस प्रकार नाबालिग़ को फांसी देना लगभग समाप्त कर दिया गया। अपराध समाप्त नहीं हुआ—उस की व्याख्या समाप्त हो गई। उसका दण्ड बदल गया। पर यह सुधार कैसे होता यदि सन् १७५६ में जन्म लेने वाली मेरीन सोसायटी ने बाल अपराधियों के प्रति दयालुता तथा मानवता का व्यवहार करने का आन्दोलन न उठाया होता।



चीन के प्रसिद्ध नगर कैंटन पर कब्जा करने पर कम्युनिस्टों ने चीनियों की ऐसी दुर्दशा की।

सुधारकों की विपत्ति

काल्पनिक भय के साथ ही वर्गीय स्वार्थ भी दण्ड विधान के सुधार में बड़ा बाधक होता है। हेनरी आठवें (अंग्रेज नरेश) ने विष देने वालों को गरम खौलते पानी में उबाल कर मारने की प्रथा निकाली थी। उन्होंने अपने शासन काल में ७७ व्यक्तियों को इसी तरह से मारा था। बाद में, अंग्रेज नरेशों ने देशद्रोह के अपराध में यही दण्ड व्यवस्था की। सर सैमुयेल रोमिली ने ऐसी दण्ड व्यवस्था के विरुद्ध जब आन्दोलन शुरू किया तो लोग चीख पड़े कि यह व्यक्ति "ब्रिटिश विधान को ही नष्ट कर देगा।" पर, सन् १८३६ में जब ब्रिटिश दण्ड विधान से २०० अपराध प्राणदण्ड के दायरे से निकल गये तो ब्रिटेन पर कोई पहाड़ नहीं टूट पड़ा। उन दिनों इङ्गलैंड में हर बाईस आदमी पीछे एक अपराधी था। आज २२०० पर एक का औसत भी ज्यादा है। फिर भी कान्ट ऐसे विद्वान प्राणदण्ड को आवश्यक लिख गये हैं।[1] सन् १७७० तक फ्रांस में ११३ अपराधों के लिये प्राणदण्ड मिलता था। क्या सन् १७७१-७२ के बाद से फ्रांस में हरेक की जान माल का ख़तरा बढ़ गया है!

हमने ऊपर लिखा है कि निजी स्वार्थ भी सुधार में बड़ा बाधक रहा है। यदि प्राणदण्ड की प्रथा न होती तो नरेम्बर्ग की अदालत कैसे बैठती जिसके द्वारा मित्र राज्य चुन चुन कर अपने शत्रुओं का प्राण ले लेते। नाज़ी तथा फ़ासिस्त नेताओं के साथ हमने वही किया है जिस काम के कारण हम उनसे घृणा करते थे। महायुद्ध के बाद नरेम्बर्ग की अदालत का इतिहास बीसवीं सदीके

1. On Metaphysics of Ethics By Kant—"Concerning the Law of Punishment and Pardon."

प्रजातन्त्रवाद को तथा कम्युनिज्म को सदा के लिये कलंकित कर चुका है। यदि युद्ध में जर्मनी विजयी होता और शायद मित्र राज्यों के साथ ऐसा ही व्यवहार होता तो हम उसके लिये क्या कहते ! जब कई राज्य मिलकर इस तरह से अपनी आन्तरिक प्रतिहिंसा को शांत कर सकते हैं तो किस मुँह से वे व्यक्तिगत प्रतिहिंसा को ग़ैर क़ानूनी कह सकेंगे। उनका क्या नैतिक प्रभाव पड़ेगा।

निजी स्वार्थ था इङ्गलैण्ड के भिन्न व्यवसाय संघों का कि जेलों में क़ैदी उद्योग-धन्धे में न लगाये जावें। डर था कि जेल का माल सस्ता पड़ेगा और बाज़ार खराब कर देगा। सब व्यवसायियों ने मिलकर क़ैदियों को काम सिखाने के लिये मास्टर देना अस्वीकार कर दिया था। सन् १७१० से १७१६ तक ब्रिटिश सरकार को काफ़ी दबाव डालकर इन व्यवसायी संघों को जेल से छूटे क़ैदियों को काम में लगाने के लिये राज़ी करना पड़ा। संयुक्त राज्य अमेरिका के पच्चीस राज्यों ने अपने यहां के जेलों में औद्योगिक कार्य की मनाही कर दी है ताकि जेल की सस्ती उत्पत्ति से बाज़ार में कोई प्रतिस्पर्द्धा न पैदा हो। जेल में बेकार बैठा क़ैदी दङ्गा फ़साद करे, राज्य का अन्न मुफ़्त में खाय, मानव शक्ति का ह्रास हो, दुरुपयोग हो—भले ही हो। पर, आर्थिक स्वार्थ अन्धा होता है। यदि इसी मिसाल से हम यह भी निष्कर्ष निकालें कि जब शुरू में समाज में यह प्रस्ताव आया होगा कि प्राणदण्ड के बजाय आज आजन्म काला पानी की सज़ा दी जाय तो समाज ने यही सोचा होगा कि जिन्दगी भर रख कर खिलाने से अच्छा यही है कि प्राण लेकर छुट्टी पा लो। जेल में परिश्रम का कोई आर्थिक मूल्य नहीं रह गया तो क़ैदी को पालने से क्या लाभ !

इस प्रकार हमने देख लिया कि समाज का वर्तमान दण्ड विधान पाप या प्रायश्चित की भावना से परे है। समाज की अपराध से रक्षा का भी सवाल नहीं है। शुरू ज़माने की प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति न्यायालय में काम देती है। दण्ड विधान के मूल में बैठी है। अपराध की व्याख्या हमारे काल्पनिक भय तथा प्रतिहिंसात्मक भावुकता पर निर्भर करती है। इसलिये अधिकांश देशों में दण्ड विधान के सुधार में बाधक जनता रही है। जनमत रहा है।

मुसलिम-धर्म में

जनता में प्रतिशोध की भावना अब भी वैसे ही वर्तमान है जैसे प्राचीन काल में थी। केवल उसका रूप बदल गया है। हमारे धर्म ग्रन्थ भी उसको जागृत तथा सचेष्ट रखने में सहायक होते हैं। "शठम् प्रति शठम् कुर्यात्" वाक्य हमको सदैव सावधान करता रहता है कि शठ के प्रति शठता का ही व्यवहार होना चाहिये। मुसलमानों के पवित्र क़ुरान शरीफ़ में "क़सास" का सही अर्थ न समझ सकने के कारण प्रतिशोध को धार्मिक कर्त्तव्य समझा जा सकता है। क़सास के अनुसार बेगुनाह का क़त्ल करने पर प्रतिशोध जायज़ यानि वैध हो जाता है। जो मारा गया है, उसका बदला लेना चाहिये। गुलाम मारा गया हो तो उसके बदले में मारने वाले का गुलाम, बांदी मारी गयी हो तो उसके बदले में बांदी, इसी तरह औरत, बच्चे या खुद मारने वाले को क़त्ल कर डालना गुनाह नहीं है।[1] इस प्रकार प्रतिशोध को धार्मिक स्वीकृति मिल जाने से स्वभाव-जन्य आन्तरिक प्रतिहिंसा को स्वीकृति प्राप्त हो गयी। प्राचीन प्रतिशोधात्मक विचार धारा

---

१. देखिये क़ुरान शरीफ़, दूसरा सियारा (सर्ग) छठां रुकू (उप–अध्याय)

को पुष्टि मिली। इसके साथ ही प्राचीन काल का मुआवज़ा भी, हरजाना भी धार्मिक रूप से जायज़ है। मारे गये व्यक्ति के कुटुम्बी यदि स्वीकार कर लें तो हत्या का जवाब हत्या से न होकर आर्थिक क्षतिपूर्ति से भी हो सकता था।

मुसलिम धर्म के अनुसार पहला क़त्ल हज़रत आदम के दो लड़कों के बीच आपसी झगड़े के कारण हुआ। हाबिल और क़ाबिल सगे भाई थे। हाबिल से ख़फ़ा हो कर क़ाबिल ने कहा कि मैं तुमको मार डालूँगा। बड़े भाई ने कहा कि तुम चाहे जो भी करो, मैं कुछ नहीं बोलूँगा। और वे सचमुच कुछ न बोले और क़ाबिल ने उनको मार डाला। तब क़ाबिल को फ़िक्र हुई कि लाश कैसे छिपाई जाय। उस वक़्त तक दफ़नाने का तरीक़ा लोगों को नहीं मालूम था। क़ाबिल की निगाह एक कौवे पर पड़ी जो चोंच से ज़मीन खोद रहा था। तब उनकी समझ में आया कि मुर्दे को गाड़ देना चाहिये। शायद दफ़नाने का हुनर इन्सान ने उसी समय से सीखा।

प्राचीन कथायें तथा विश्वास प्रायः मिलते जुलते हैं। हिन्दू धर्म की प्रलय काल की कथा किञ्चित रूपान्तर से ईसाई तथा मुसलिम धर्म में भी विद्यमान है। हमने प्रथम अध्याय में प्रथम हत्या का जिक्र करते हुए पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार सन्तान द्वारा अपने पिता की हत्या का उल्लेख किया है। मुसलिम धर्म के अनुसार बड़ा भाई मारा गया। बहरहाल हत्या हुई, अपने बुज़ुर्ग की हुई, घृणावश हुई तथा नीचता पूर्वक हुई। उसके बाद की हत्यायें प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध के कारण होती रहीं। मानव समाज को इन आदिकालीन दुर्बलताओं के ऊपर कैसे उठाया जावे?

सभी अपराधी हैं

प्रतिशोधात्मक, प्रतिहिंसात्मक तथा घृणा की, द्वेष की भावना से परिपूर्ण समाज में कौन अपराधी नहीं है। यदि दण्ड का तथा समाज के लाञ्छन का भय न हो तो कितने व्यक्ति सदाचारी और न्यायनिष्ठ बने रहेंगे। अपनी स्वच्छन्दता की रक्षा के लिये व्यक्ति ने समाज की रचना की तथा समाज से राज्य बना। पर, व्यक्ति ने अनुभव किया कि उसके अहंभाव तथा अहङ्कार को समाज ने और फिर राज्य ने काफ़ी ठेस पहुँचाया है। व्यक्ति की स्वच्छन्दता का अपहरण हो गया है इसीलिये व्यक्ति के मन में राज्य के विरुद्ध सहज संघर्ष बना रहता है। इसीलिये व्यक्ति के हित में बनाये गये नियमों के विरुद्ध काम करने में आन्तरिक प्रतिहिंसा तथा द्वेष की भावना को शांति मिलती है। बिना क़ानून के शिकञ्जे में आये क़ानून तोड़ते रहने में सुख मिलता है। सरकार मादक-द्रव्य-निषेध तथा जुआ खेलने के विरुद्ध क़ानून बनाती है। पर भारत में या अमेरिका में, इङ्गलैण्ड में या रूस में, उसे तोड़ने में ख़ास मज़ा मिलता है। खुले आम शराब पीने से ज़्यादा मज़ा मिलता है लुक छिपकर पीने में। अपराध करने में उत्तेजना प्राप्त होती है। जो लोग स्वयम् इन अपराधों में भाग नहीं लेते वे दूसरों को क़ानून तोड़ते देखकर प्रसन्न होते हैं। और कुछ लोग स्वयं भाग नहीं लेते तो आंखें मूंद लेते हैं। यदि जन-समूह सरकार से सहयोग करे तो ऐसे अपराध आसानी से बन्द हो सकते हैं। पर जनता का सहयोग बिरले को ही प्राप्त होता है। सहयोग वहीं मिलता है जहां प्रत्यक्ष भय का अनुभव होता है। यदि हमको मालूम हो जाय कि डाँकू हमारे पड़ोस में आ गया है तो हम पुलिस के साथ पूरा सहयोग देंगे। पर दूर के डाँकू के लिये चिन्तित होना हमारे क्षुद्र स्वार्थ को

स्वीकार नहीं। ऐसी दशा में हम अपराध की क्या व्याख्या करें या कर सकते हैं ?

साधारण से भिन्न व्यक्ति

अस्तु, समाज जिसे अपराध कहे, वही दण्डनीय है। अपराध की क़ानूनी व्याख्या स्पष्ट है। राज्य की शांति तथा मर्यादा को भङ्ग करने वाला कार्य अपराध है। मर्यादा क्या है, राज्य की मर्यादा का क्या मापदण्ड है, इसका निर्णय समाज का परिवर्तनशील सङ्गठन करता रहता है। पुराने जमाने में समुदाय के हितों की अवहेलना को राजद्रोह कहते थे। आदि काल से राजद्रोह का अपराध हर प्रकार के समाज में वर्तमान था। पर, शुरू में शत्रु के साथ मिल जाने से लेकर अनगिनत प्रकार के काम राजद्रोह में सम्मिलित थे। अब राजद्रोह की परिभाषा बहुत ही सीमित तथा संकुचित हो गई है। हर प्रकार के अपराध की वर्तमान परिभाषा में सबसे बड़ा तथा क्रांतिकारी परिवर्तन इसलिये हो गया है कि अब दण्ड विधान अपराध के कार्य पर नहीं पर "अपराध का कार्य करने का इरादा (विचार)" पर जोर देता है।[1] यदि किसी का मकान बन रहा हो और एक ईंट नीचे आ जाय जिससे सड़क पर चलने वाले व्यक्ति का सर फट जाय और वह मर जाय तो मकान बनाने वाले कारीगर को हत्या का अपराधी नहीं कहा जायगा। अपराधी की भावना देखनी चाहिये उसकी नीयत (मोटिव) पर पहले ध्यान देना होगा। इसीलिये "राजद्रोह" की व्याख्या भी बदल गयी। राज्य के प्रति द्रोह, संयुक्तराज्य अमेरिका के क़ानून के अनुसार, वही कार्य होगा जिसमें "राज्य के विरुद्ध युद्ध हो या राज्य के शत्रुओं का अनुकरण किया जाय, उनको सुविधा तथा आराम पहुँचाया जाय।"

---

1 'Intent to Commit the Criminal Act–Mens Rea'

यदि इतना सब काम अपराधी ने नहीं किया है तो राजद्रोह की नीयत कदापि नहीं हो सकती।

नीयत–तबीयत–विचार की बात आ जाने पर अपराध से उठकर ध्यान अपराधी की ओर जाता है। अपराधियों को जब निश्चित काल के लिये जेल में रखा जाने लगा तो उनके सम्बन्ध में अध्ययन का अवसर मिला। यों तो बिना जेल जीवन की कुछ धारणा हुए ही अरिस्तू ने अपराध की जीव-विज्ञान द्वारा मीमांसा करने का प्रयास किया था। लोम्ब्रोजो को सुसज्जित जेल जीवन की जानकारी नहीं थी। फिर भी प्रारम्भ के अपराध शास्त्री तथा वर्तमान ग्लूक प्रणाली के हिमायती भी मानते हैं कि अपराधी साधारण जन-समूह से भिन्न प्रकृति या मनोवृत्ति का प्राणी है और उसने भिन्न वातावरण तथा प्रभावों में पड़ कर अपराध का काम किया है। यदि हम इस सर्व-सम्मत सिद्धान्त को मान लें तो गांधी जी का कथन कि "अपराधी एक रोगी है"—मानने में कोई कठिनाई न होगी। जिस प्रकार समाज के सभी व्यक्ति सुन्दर तथा स्वरूपवान नहीं हो सकते उसी प्रकार समाज के सभी सदस्यों की एक समान मनोवृत्ति नहीं हो सकती। सबके लिये समान वातावरण नहीं हो सकता। राज्य के प्रयत्न करने पर भी, सबको एक ही ढङ्ग से नहीं चलाया जा सकता। राज्य कैसे रोक सकता है कि कोई व्यक्ति एक स्त्री के मरने पर दूसरी शादी न करे–और दूसरी शादी की पत्नी विमाता होने के कारण यदि अपनी सौत के लड़के के साथ दुर्व्यवहार करती है, वह लड़का मन में घोर घृणा भर कर आवारा बन जाता है तो इसमें उस बच्चे का क्या दोष है। उसके अपराध का दण्ड, ज़िस वातावरण में वह पला है, उसी वातावरण को मिलना चाहिये। लड़के का क्या दोष है।

हमने अपराधी को "असाधारण" समझ कर उसे साधारण समुदाय से दूर फेंक दिया है। उसे जाति से बाहर कर दिया है।

भला ऐसे भी कभी सुधार हुआ है। उसकी "असाधारणता" की काफ़ी खोज की जा रही है। आस्ट्रियन मनोवैज्ञानिक बेनडिक्त (सन् १८३५–१९२०) ने प्राणदण्ड में कटे हुए नर मुण्डों को लेकर परीक्षा की तो वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उनका मस्तिष्क जानवरों से बहुत ज्यादा मिलता था। इटालियन मनोवैज्ञानिक मैरो की खोज थी कि केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली का समुचित पोषण न होने के कारण कोई आदमी अपराधी बनता है। कुछ लोगों ने ढूँढ़ निकाला कि आत्महत्या करने का विचार पागलपन है। अधिकांश आत्म-हत्यायें पूर्णचन्द्र यानी पूर्णिमा के दिन उसके आसपास के दिनों में होती हैं। जॉन आरबथनाट की खोज है कि पृथ्वी की भूमध्य रेखा के पास के राज्यों में ज्यादा अपराध होते हैं। शराब पीने के अपराध उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव के निकट राज्यों में ज्यादा होते हैं। अमेरिकन अङ्क-विशारद मेयो स्मिथ तथा क्वेटलेट का कहना है कि सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध, जैसे चोरी आदि, जाड़ों में ज्यादा होता है। व्यक्ति के विरुद्ध अपराध, जैसे हत्या आदि, गर्मी में अधिक होता है। एच० एच० गोडार्ड का विचार है कि दिमाग़ी ख़राबी के कारण अपराध होता है। अपराधी के दिमाग़ की परीक्षा सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका के मासाचुसेट राज्य में १९२१ में शुरू हुई। गत महायुद्ध के बाद मास्को (रूस) जेल में क़ैदियों की विशद मनोवैज्ञानिक परीक्षा की गई और उनका चार प्रकार से वर्गीकरण कर[1] दिया गया—आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अपराधी, राजनैतिक तथा शुद्ध अपराधी। यह बड़ा महत्वपूर्ण वर्गीकरण है। इसके कारण जैसा रोगी वैसा इलाज हो सकता है। ऐसे अध्ययन से बड़ा काम चलता है। ऐसे अध्ययन का ही

1. Socio-Economics, Tro-Psychological, Crimino-political and Criminalistic.

परिणाम था कि जेलों में सुधार का आन्दोलन शुरू हुआ। सन् १६३६ में अपराधियों की सहायता के लिये फ़िलाडेल्फ़िया में एक समिति ने जन्म लिया था। इङ्गलैण्ड में हावर्ड लीग की स्थापना हुई। सन् १८७६ में एलमिरा (संयुक्त राज्य अमेरिका) के "सुधार गृह" में अनिश्चित काल की सज़ा देकर सुधार के लिये क़ैदी रखे जाने लगे ताकि जब सुधर जांय, तभी छोड़ दिये जावें। सन् १६०६ में संयुक्त राज्य अमेरिका में दो महान् संस्थाओं ने जन्म लिया।[1] बाल अपराधियों के लिये इङ्गलैण्ड में १६०७ में प्रोबेशन ऐक्ट पास हुआ। पच्चीस वर्ष हुए बम्बई में बाल अपराधी की सेवा के लिये एक समिति बनी। सन् १६४६ में अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति ने भारत में जन्म लिया।

मनुष्य द्वारा किया हुआ कार्य ही अपराध होगा। वही काम यदि जानवर करे तो हम उसे अपराध नहीं कहते। कुत्ता रोटी चुरा ले जाय तो वह अपराधी नहीं कहा जायगा। आदमी रोटी की चोरी करे तो हम उसे जेल भेजकर मुफ़्त की रोटी खाने को देंगे। पुराने ज़माने में राजा, रईस या नगर का अधिकारी स्वेच्छानुसार किसी को अपराधी कह कर बन्द कर सकता था। मानव का अधिकार राजा के हाथ में था। पर अमेरिकन विधान[2] तथा फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति में "मानव के अधिकार" की घोषणा ने हरेक की निजी स्वतन्त्रता की रक्षा की। "कोई भी व्यक्ति क़ानून द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से अपनी स्वाधीनता तथा जीवन से वञ्चित नहीं किया जा सकता।"

---

1. American Institute of Criminal Law and Criminology and National Society of Mental Hygiene 2. Bill of Rights.

दण्ड-दाता राज्य है

हरेक को दण्ड देने का अधिकार नहीं है। राज्य ही दण्ड दे सकता है। वही दण्ड का आधार है। राज्य अपने नियमों के पालन की एक प्रणाली बना देता है। इस प्रणाली में व्यतिक्रम का नाम ही अराजकता है। सभ्यता की प्रगति तथा समाज के विचारों में परिवर्तन के साथ ही इस प्रणाली में सुधार और परिवर्तन हुआ होगा। अंग्रेज़ी और अमेरिकन क़ानून ने—साथ ही अनेक देशों के क़ानून ने—यह निश्चित कर दिया कि "एक ही आदमी को, एक ही अपराध के लिये दो बार दण्ड नहीं दिया जा सकता तथा उसका जीवन दो बार ख़तरे में नहीं डाला जा सकता।" यदि ऐसा न होता तो शायद अदालतों से एक ही जुर्म में दो बार सज़ा मिलती—दो बार फांसी भी हो सकती थी। सभ्य समाज के क़ानून के मुताबिक़ "बिना क़ानूनी कार्यवाही के किसी की सम्पत्ति नहीं छीनी जा सकती।"

प्राचीन काल में "अपना अपराध स्वीकार कराने के लिये" कितनी यातनायें दी जाती थीं, इसका वर्णन हम कर चुके हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्ति अपने विरुद्ध साक्षी बन कर अपना प्राण ले लेता था। ब्रिटिश तथा अमेरिकन क़ानून ने स्पष्ट कर दिया है कि "किसी भी व्यक्ति को अपने विरुद्ध साक्षी बनने के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता।" भारत में भी यही नियम है। पर देखने में सरल प्रतीत होने वाला यह नियम हज़ारों वर्ष की यातना के बाद बन सका। सोवियत रूस के दण्ड-विधान में एक बड़ा भारी ऐब यह है कि यदि कोई कार्य (अपराध) प्रचलित क़ानून के दायरे में नहीं आता है तो उससे मिलते जुलते क़ानून की सहायता से दण्ड दिया जा सकता है। इस नियम के द्वारा रूसी सरकार ने अपने हाथ में निरंकुश अधिकार रख लिया है।

क़ानून की मर्यादा तोड़ दी है। सभ्य समाज में निश्चित, व्याख्यापूर्ण दण्ड-विधान का होना अनिवार्य है अन्यथा पुराना रोमन काल ही ठीक था जब कि भिन्न मुक़द्दमे की सुनवाई के लिये पृथक् कमेटी बनाई जाती थी और बैठती थी। आज के युग में समाज का आदेश है कि राज्य की व्यवस्थापक सभा या शक्ति साफ़ बतला दे कि किन कामों को वह असामाजिक समझती है और उनके किये जाने पर वह उचित कार्रवाई करेगी। व्यवस्थापक सभा के इस तथा ऐसे निर्णय को राज्य का शासक मण्डल कार्यान्वित करेगा। रोमन साम्राज्य में स्थानीय रीति-रिवाजों के आधार पर दण्ड शासन होता था। आज हरेक के लिये क़ानून का निश्चित रूप होना चाहिये। इङ्गलैण्ड में क़ानून के विकास के समय भावना यह थी कि जनता (प्रजा) के संरक्षण की वह प्रतिज्ञा करता है और जनता (प्रजा) उसकी (राजा की) शान्ति (राज्य में शांति) बनाये रखने की प्रतिज्ञा करती है। इसी भावना से राजा को न्याय का प्रतीक तथा आधार मानने का भाव उत्पन्न होकर आजकल के ब्रिटिश क़ानून का मुख्य आधार माना गया है।

अपराध शास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन लाखातेर (१७४१–१८०१) तथा गाल (१७५८–१८२६) ने शुरू किया। आज का वैज्ञानिक अपराधशास्त्र उन्हीं के लगाये पौधे का फल है। पर, वर्तमान संसार को आदर्श दण्ड विधान की शिक्षा देने वाला इङ्गलैंड ही है। जेरेमी बेंथम (१७४८-१८३२) का मत था कि "अपराध करने के सुख" से "दण्ड भोगने का दुख" अधिक होना चाहिये। सर सैमुएल रोमिली (१७५७–१८१८) का जिक्र हम कर चुके हैं। ब्रिटेन में कठोर तथा यातनामय दण्डों के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले वे प्रथम सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। ऐसे सुधारकों का ब्रिटेन के न्याय पर बड़ा असर पड़ा। सन् १८०० में २०० से अधिक अपराधों के लिये प्राणदण्ड था। सन् १८६१ में केवल तीन ही

अपराध (हत्या, राजद्रोह तथा सामूहिक डकैती) के लिये प्राणदण्ड रह गया। जॉन हावर्ड (१७२६-१७८६) के प्रयत्न से ब्रिटेन में अपराध के प्रति उदार भावना के पनपने में बड़ी सहायता मिली। हावर्ड ने अपराधी के व्यक्तित्व की ओर ध्यान आकर्षित करके दण्ड की सूरत बदल दी। संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १७९४ में केवल हत्या ही प्राणदण्ड के लिये रह गया। शेष सभी अपराधों के लिये भिन्न सजायें रह गयीं। शारीरिक दण्ड (कोड़ा मारना) आदि भी वहां उसी वर्ष से बन्द हुए थे। इसका असर भी ब्रिटिश क़ानून पर काफ़ी पड़ा।

अनुभव से समाज ने बहुत कुछ सीखा है। नियमों की कठोरता तथा बहुलता से अपराध कम नहीं होता। अमेरिकन शासन में रोड द्वीप-समूह सन् १८८२ में भी था और सन् १९२३में भी। सन् १८८२ में वहाँ पर ५० प्रकार के अपराधों की व्याख्या थी। सन् १९२३ में इनकी संख्या २१२ थी।[1] यानी सभ्यता की प्रगति के साथ नये अपराध पैदा होते रहे और वास्तविक अपराधों की संख्या भी गत सौ वर्षों में अठगुनी बढ़ गयी थी। ज्यादा क़ानून बनाने का यही परिणाम होता है। अब दुनियां को बहुत कुछ मालूम हो गया है। संसार के प्राय: सभी देशों में अपराध करने का उम्र १८ से २५ वर्ष तक की जवानी की उम्र है। जापान में ३० से ४० वर्ष के भीतर अपराध होते हैं। जापान में अपराधिनी स्त्रियां बहुत कम होती हैं—फी ६ मर्द अपराधी पीछे एक स्त्री होती है। यहूदी लोग हत्या या डकैती का अपराध प्राय: नहीं करते। दक्षिणी इटालियन माता या पिता से उत्पन्न अमेरिकन बड़ा अपराधी होता है। अमेरिकन जेलों में हत्या का

---

1. Criminal Justice in America—By Roscoe Pond.

अपराध करने वाले प्राय: ३० वर्ष की उम्र के निकट होते हैं।[1] क्या इन महत्वपूर्ण बातों को जानकर हम अपराधों की रोक-थाम नहीं कर सकते? ऐसी जानकारी से यही लाभ उठाना है।

समाज सेवक अपराधी

घूम फिर कर हम इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि अपराध तथा अपराधी के हित में दण्ड विधान में आमूल परिवर्त्तन होना चाहिये ताकि उसके साथ आज जो ओछी भावुकता मिश्रित है, उसके मूल में जो भावुकता बैठी हुई है, वह समाप्त हो जाय। तभी हम समाज को सही रास्ते पर ले चल सकेंगे। असामाजिक कार्यों का विचार करने के लिये मन से उत्तेजना तथा भावुकता निकाल देनी होगी। तभी हम समझ सकेंगे कि वास्तव में असामाजिक कौन है और क्यों है। युगों के बीत जाने पर भी हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाये हैं कि अपराधी का उपचार कैसे हो! एलियट और मेरिल ने अपनी पुस्तक में बड़ा कटु सत्य लिखा है कि—"मूल सिद्धांतों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका है कि अपराधी का उपचार हो या उसे दण्ड मिले। एक तरफ़ पुरानी विचारधारा के ज़िद्दी अनुयायी हैं कि अपराध के अनुसार दण्ड मिलना चाहिये और अपराध की गुरुता के अनुपात में अपराध करने का दोषी ज़िम्मेदार व्यक्ति ज़रूर दण्डित होना चाहिये। दूसरी ओर व्यावहारिक मत के लोग हैं जो अपराधी कार्य के तह में बैठ कर उसका वैज्ञानिक अनुसन्धान करना चाहते हैं और असामाजिक काम करने वाले

1. Man's Judgement of Death—By Lewis E. Lawes. (लगभग ६० प्रतिशत)

का ऐसे व्यक्ति के रूप में जो समाज के लिये ख़तरा है, उससे ख़तरे का अन्दाज़ लगाकर उसका उपचार करना चाहता है—"[1]

समाज निश्चय नहीं कर पा रहा है कि दण्ड दे या उपचार करे और दण्ड पाने वाला दण्ड पाता जा रहा है। सत्तर वर्ष हुए जब कि "अपराधी" का अध्ययन शुरू हुआ था। सन् १८६७ में लोम्ब्रोजो की "अपराधी" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। किन्तु इसके भी बहुत पहले, सन् १५६६ में ही ऐम्सटडम के अधिकारियों ने "बेकारी का युवकों में अपराधी प्रवृत्ति से सम्बन्ध" पर विचार करने की चेष्टा की थी। और अब तक हमारा अध्ययन पूरा नहीं हो पाया है। युगों बीत गये जबकि स्पिनोजा ने कहा था कि "मानव स्वभाव की भूलों पर पश्चात्ताप करने की, हँसी उड़ाने की या भर्त्सना करने की—या उनसे घृणा करने की भूल नहीं करनी चाहिये।" पर आज हममें से कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो अपराधी से किसी प्रकार सम्पर्क रखना चाहते हैं! हम उसे अपने से इतना दूर क्यों समझते हैं! उसने किया क्या है—अपनी इन्द्रियों की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये ऐसा काम किया है जो समाज के बहुमत द्वारा "अपराध" घोषित कर दिया गया है। अपराध के रूप में किया गया कार्य है तो समाज के एक सदस्य का ही व्यवहार और उसे "असाधारण" केवल इसलिये कह दिया गया है कि समाज ने मना कर रखा था। बहुत से ऐसे काम इन्द्रिय-तृप्ति के लिये चौपाये करते हैं जिनको मानवी समाज में अपराध कहा जायगा जैसे नर का मादा के लिये आपसी झगड़ा। पर अपराध कह देने से भी कार्य

1. Social Disorganisation–By Mabel A. Eliot and Francis E. Merril. Edn. 1941. Page 956.

की स्वाभाविकता बनी रहती है।[1] अपराधी समूचे समाज का एक बड़ा भारी काम कर रहा है। वह समाज की प्रतिहिंसा तथा घृणा का स्रोत बनकर समूचे समाज को वैसे ही व्यवहार से बचा रहा है। स्वयम् दण्ड सहकर शेष समाज को सच्चा तथा तथा ईमानदार बने रहने में सहायक हो रहा है। बचपन से दण्ड तथा आतङ्क में पला हुआ समाज अपने अहंभाव की प्यास बुझा लेता है।

दण्ड-दाता पिता

वास्तविक समस्या अपराधी तथा अपराध की नहीं रह जाती। दण्ड तथा दण्डदाता का सुधार करना होगा। यदि दण्ड तथा दण्डदाता नहीं रहेगा तो अपराध की व्याख्या ही क्या रह जायेगी। दण्ड हमारे साथ पैदा होते ही लग जाता है। धार्मिक पुरुष को भी हम धर्म-भीरु यानी दण्ड से डरने वाला कहते हैं। पाप का भय दण्ड के कारण है। पैदा होते ही बच्चे को माता की ममता प्राप्त होती है। माता की ममता स्निग्ध होती है। उसमें नारी सुलभ कोमलता होती है। इसीलिये बच्चा पहले-पहल परिवार में माता को ही पहिचानता है। माता के स्तन का दूध न पीने पर भी, हार्लिक्स के डिब्बे पर जीने वाला बच्चा माता को पहिचानता है। पुरुष स्वभाव वालीं मातायें ही दण्ड दे सकती हैं अन्यथा माता को अपने बच्चे को यदि दण्ड भी दिलाना होता है तो लड़के के पिता से कहती है। साथ ही दण्ड देने वाले पिता से माता सन्तान की रक्षा करती है। बीच-बचाव भी वही करती है। पिता परिवार का प्रधान होता है। आदि काल से पिता को यह आदर प्राप्त रहा है।

---

1. The Biologist looks at Crime—M. F. Ashley (in the Annals of the American Academy of Political Science. 1941, Page 46.)

कुछ थोड़े से समाज ऐसे भी हैं जहां स्त्री (माता) प्रधान होती है पर उनकी संख्या नगण्य सी है। पिता के ऊपर अपने परिवार के भरण-पोषण तथा सन्तान को भावी जीवन के लिये तय्यार करने की जिम्मेदारी होती है। इसलिये उसके हृदय में अपार स्नेह होते हुए भी उसे अनुशासन से काम लेना पड़ता है। बच्चे की जिन्दगी बनाना या बिगाड़ना उसके हाथ में है। माता-पिता के हाथ में है! हमने ऊपर लिखा है कि जैसा वातावरण होता है, वैसा ही व्यक्ति बनता है। इस वातावरण की शिक्षा बचपन से ही मिलती है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि शुरू के ८-१० वर्षों में बच्चों को जैसे वातावरण में रहना पड़ता है उसका प्रभाव उसके ऊपर जन्म भर अमिट रहता है। इसलिये इस नाजुक उम्र में जो कुछ उसने सीखा वह कभी नहीं भूल सकता। उसका संस्कार वर्तमान रहेगा। अतएव बालक होश सम्भालते ही यह समझ लेता है कि उसके लिये सबसे बड़ा अधिकारी पिता है। सबकी शिकायत मां से की जा सकती है पर पिता अपनी शिकायत स्वयं सुनता है। इसलिये मैलिनोस्की ने सही लिखा है कि "परिवार में अधिकार का आधार पिता है। वहीं से दण्ड का प्रारम्भ होता है।"

हर एक परिवार में माता का विचित्र स्थान होता है। पति उसे पत्नी बना कर रखना चाहता है। पति को अपनी स्त्री का सब कुछ चाहिये। स्त्री अपने पति के बच्चों की माता बनना चाहती है। उसकी भूख सहज है। मांग है। पिता से भयभीत पर स्नेह करने वाली सन्तान भी अपनी माता के प्रेम के लिये अपने पिता की प्रतिद्वन्दी है। परस्पर होड़ सी रहती है। दूसरे योनि वाले से प्रेम स्वाभाविक है। मां लड़की से ज्यादा लड़के से स्नेह करती है। पिता को अपनी कन्या ज्यादा प्यारी है। दोनों (लड़का-लड़की) बराबर यह अनुभव करते हैं कि कौन किसे ज्यादा प्यार

करता है। फिर, कई बच्चे हो जाने पर बड़े छोटे का भेद होता है। लड़की मन ही मन चाहती है कि "काश मैं लड़का होती"–और उसे अपने भाई की स्वच्छन्दता खटकती है। छोटा लड़का सोचता होगा कि यदि मैं बड़ा होता तो मेरे अधिकार ज्यादा होते ! इस प्रकार परिवार में अन्तर्द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा तथा होड़ चलती रहती है। सबकी निगाह पिता के ऊपर रहती है। वह स्नेह भी करता है पर भूल का दण्ड भी देता है। पुत्र के प्रति उसे ख़ास ज़िम्मेदारी महसूस होती है। इस पुत्र को ही बड़ा होकर परिवार की मर्यादा निभानी होगी। इसलिये उसे ठीक से तय्यार करना होगा। जीवन संघर्ष में पिता को संसार भर से लोहा लेना पड़ रहा है। वह सबको पराजित कर आगे बढ़ जाना चाहता है। पर अपने पुत्र में पिता अपने को प्रतिबिम्बित समझता है। उस की स्त्री ने पुत्र के रूप में उसको पुनर्जन्म दे दिया है। अपना पुनर्जन्म समझ कर ही पिता पुत्र की उत्पत्ति से बड़ा प्रसन्न होता है और योग्यता, प्रतिभा तथा वैभव में अपने लड़के से हार जाने में उसे सुख मिलता है। इसे वह अपनी ही जीत समझता है।

"सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयम्।"

पर, सन्तान के मन पर शुरू-शुरू में दण्ड तथा आतङ्क की छाया पड़ के सदा के लिये उसे भयभीत न बना दे, इसीलिये हमारे शास्त्रों ने "लालयेत्पञ्चवर्षाणि" का आदेश दिया था। तब उसके बाद दस वर्ष तक ताड़ना करे। दण्ड देकर अनुशासन कर उसका जीवन संयमित करे। पर, सन्तान पर दण्ड का भय हमेशा नहीं चल सकता। पिता के दण्ड को सन्तान सहर्ष नहीं स्वीकार करता। उसे बुरा भी लगता है। उसकी चले तो वह पिता से उलझ बैठे। बहुत से बच्चे उलझ भी जाते हैं। इसलिये, भयवश बालक दण्ड को सह भी ले पर अपनी परवशता पर, अपनी

छुटाई पर, अपनी अधिकार-हीनता पर उसे मन ही मन क्रोध भी आता है। घृणा तथा द्वेष के भाव पैदा होते हैं। बचपन से ही उसे दण्ड से डरना, दण्ड देने वाले से डरना तथा अंशत: उससे घृणा करना—यह नसीहत मिलती है और बचपन में मन पर पड़ी हुई यह अमिट छाप कभी दूर नहीं हो सकती। हमारे शास्त्रकार यह जानते थे कि ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता चलता है, पिता के अधिकार के प्रति विद्रोह करने की भावना बलवती होती चलती है। इसीलिये निर्देश किया गया कि–'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रोमित्रवदाचरेत्।"–सोलह वर्ष का पुत्र हो जाने पर उसके साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिये। अन्यथा सन्तान को एक बार विद्रोह करने का मौक़ा देकर हम उसे अपना शत्रु बना लेंगे और परिवार का कल्याण नहीं हो सकेगा। इस आदेश का बड़ा गूढ़ अर्थ है। दण्ड की सीमा होनी चाहिये। अधिकार पालन की सीमा होनी चाहिये। यदि दण्ड तथा अधिकार पालन से विद्रोह तथा घृणा या प्रतिहिंसा असीम हो उठी तो वही व्यक्ति जो समाज का (परिवार का) होनहार सदस्य हो रहा था, विद्रोही बन बैठा। क्या राजा का दण्ड या अधिकार का पालन भी असीम बनकर अच्छे ख़ासे लोगों को विद्रोही तथा समाज का शत्रु नहीं बना रहा है? इस पर विचार करना चाहिये।

पिता का प्रतिद्वन्दी

प्राचीन समाज में परिवार का बड़ा महत्व था। परिवार को सुसंगठित रखने के लिये पिता की प्रधानता आवश्यक थी इसीलिये रोमन, चीनी, मिश्री तथा भारतीय सभ्यताओं में पिताओं ने पितृ घातको बड़ा कठोर अपराध बना दिया था जिसका बड़ा निर्दय दण्ड दिया जाता था। धीरे धीरे पिता के अधिकार के प्रतिद्वन्दी पैदा हो गये। पिता का दण्ड देने का दायरा बहुत छोटा हो गया।

पिता का काम समाज करने लगा। समाज का काम राज्य करने लगा। राज्य ने पिता के कर्तव्यों को भी अपने हाथों में ले लिया। सन्तान का स्वास्थ्य, सन्तान की शिक्षा, नौकरी, उन्नति आदि की ज़िम्मेदारी राज्य की है। अब राज्य पिता को भी दण्ड दे सकता है—यदि पिता दण्ड देते हुये अपनी सन्तान के हाथ पैर तोड़ डाले! किन्तु, पुत्र अपने शैशव काल से पिता से अनुशासित होने, पिता से दण्ड पाने तथा पिता का फ़ैसला मानने की नसीहत पा चुका है। इसलिये बड़ा होने पर भी वह दण्ड तथा दण्ड के भय के सामने पिता की भावना ले कर ही जाता है। सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले राज्य का प्रतीक राजा था। वही दण्ड तथा न्याय का स्रोत था, आधार था। इसलिये राजा को "पिता" तुल्य या "पिता" मानना प्रजा के लिये सहज बात थी। राजा के प्रति वही पिता-सुलभ वात्सल्य था, स्नेह था। इसीलिये राजा के अत्याचारी होने पर भी प्रजा उसे सहन करती थी। जहाँ पर पितृत्व की भूख शान्त होती हो, वहां दण्ड भी, अन्याय भी सहनीय बन जाता है। राजा या निरंकुश शासक जनता के इसी सहज-स्नेह के कारण अपने अधिकार पर बने रहते हैं। पर, दण्ड तथा भय की सीमा पार हो जाने पर विद्रोह भी होता है। बचपन से ही हमने अपने मन में अपने पिता के अनुशासनों के प्रति विद्रोह की भावना को दबा रखा है। वही भावना अंत तक मन में बैठी रहती है।[1]

न्यायाधीश

राजा, राज्य, पिता सब का प्रतीक, क़ानून-दण्ड देने वाला नियम तथा उसका संचालक न्यायाधीश (जज) ही बन जाता है। अनजाने ही हम उससे पिता के समान डरते हैं। यही नहीं, जिस प्रकार एक बालक को पिता जब दण्ड देता

---

[1] Society and its Criminals Reiwald.

है तो सभी बालक दूर से खड़े होकर तमाशा देखते हैं। और दण्ड पाने वाले के प्रति हमदर्दी या यदि अपना बैर रहा तो सन्तोष की भावना होती है; उसी प्रकार जिस अपराधी से, जिस अपराध से न तो हमारा परिचय है न साक्षात्कार, उसके "तमाशे" को देखने के लिये हम न्यायालय में खड़े होते हैं—हमदर्दी या घृणा का भाव लेकर। न्यायाधीश हमारे सामने पिता के समान बैठा हुआ है। हम उसे देखकर भयका अनुभव करते हैं। इस अनुभव से हमको खेद नहीं होता। वर्षों से जो चीज़ खो रही थी, उसकी प्राप्ति का भीतरी सुख मिलता है। और हमें ऐसा लगता है जैसे वहाँ अदालत में जो लोग खड़े हैं, वे सभी एक परिवार के हैं। न्यायाधीश उस परिवार का प्रधान है।

ऐसा नहीं है कि न्यायाधीश के प्रति हमारा ही यह भाव रहता हो। न्यायाधीश की गद्दी पर बैठते ही उस अधिकारी के मन में अपने बचपन का संस्कार उदित हो जाता है। उसके मन के अन्तर्पट पर अपने पिता से, या अपने घर के बूढ़े बुज़ुर्ग से डरने का भाव जाग उठता है। उस समय जिस डरने की परिस्थिति में वह था, आज उसकी प्रतिक्रिया हो रही है। वह डराने की स्थिति में है। यदि वह अधिक प्रतिहिंसात्मक है तो अपने पद का दुरुपयोग कर सकता है। या तो वह कठोर पिता बनेगा या उदार पिता बनेगा। यह निर्भर करता है उसके संस्कार पर, उसकी शिक्षणीय संस्कृति पर।

पिता तथा सन्तान का सम्बन्ध बड़ा नाज़ुक होता है। पिता चाहता है कि अपनी सन्तान को अच्छे पद पर पहुँचा दे। भले घर में लड़की की शादी हो जाय तथा लड़का समाज में ऊँचा स्थान पाये। यह भाव सभ्य समाज में ही नहीं है। जङ्गली जातियों में भी है। मैलेनोसिया के तोब्रियांद ग्राम में रहने वाली

जङ्गली जाति के बीच में रहकर मैलेनोस्की ने ठीक ऊपर लिखी भावना उनमें पाई थी। वहाँ पर सन्तान के कारण बच्चों के ननिहाल वालों से बड़ा झगड़ा रहता था क्योंकि ननिहाल वाले सन्तान की सम्पत्ति पर अपना हक़ समझते थे।[1] पर, यह बात तो दूसरी ही है। सबसे रोचक बात है उन जङ्गली लोगों का अपने संरक्षक या पिता से सम्बन्ध। मैलेनोस्की का कहना है कि "मैंने देखा कि बच्चों से काम लेने के लिये साधारण हुक्म से काम नहीं चलता था।" या तो उनसे प्रार्थना के रूप में किसी काम के लिये कहा जाता या डांट कर। इन दो के बीच का मार्ग नहीं था। डांट-डपट बहुत होती थी। गुस्से में आकर पिता अपने बच्चों को खूब पीट देता था। सभी बच्चे शान्तिपूर्वक मार नहीं सह लेते थे। वे लड़ बैठते थे। गाली देते थे। यदि बालक स्वयं पिता पर या माता पर आक्रमण कर बैठता था तो वे उससे कुपित नहीं होते थे। उदारतापूर्वक मुस्करा देते थे। मैलेनोस्की ने ऐसे पिटने वाले संरक्षकों या अभिभावकों से कहा कि उद्दण्डता के लिये बच्चे को पीट दो। पर क्रोधवश वे पहले भले ही पीट चुके हों किन्तु सन्तान के प्रति प्रतिशोधात्मक या हिंसात्मक (प्रतिहिंसात्मक) व्यवहार उन्हें बहुत ही निन्दनीय तथा अनैतिक प्रतीत होता था। वे ऐसी सलाह मानने के लिये तय्यार नहीं थे।[२]

आज के न्यायाधीश पिता के सामने भी यदि मैलेनोसिया के जङ्गलियों का आदर्श हो कि "प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा के लिये दण्ड न देना" तथा "सन्तान की भूलों पर उदारतापूर्वक मुस्करा देना" तो कितनी लाभदायक बात होगी। मैलेनोसियन पिता यह

---

1. The Sexual Life of Savages—By Bronislaw Malinowski. Edn. 1952. Page 13.

२. वही—पृष्ठ ४५.

जानता था कि उदारता ही विद्रोह तथा घृणा को शान्त करती है। उसके सामने अपनी सन्तान का भविष्य था। वह यह महसूस करता था कि उसकी कठोरता से बच्चे की उद्दण्डता बढ़ेगी उसका भविष्य भी बिगड़ जावेगा पर, उसमें एक बड़ा भारी दोष भी था। मेलिनोस्की के कथनानुसार वह या तो अनुरोधपूर्वक आज्ञा देता था या डाँट कर। आज का न्यायाधीश भी शायद बीच का मार्ग नहीं जानता। न्यायाधीश से हमारा तात्पर्य क़ानून से है। यदि डाँट और विनम्रता के बीच का रास्ता निकल आये तो दण्ड का स्वरूप ही बदल जायेगा। अपराधी को भय के साथ स्नेह, स्नेह के साथ सुधार का मार्ग मिल सकेगा। महाभारत के अनुसार संसार में सभी के लिये तीन प्रकाश हैं—सन्तति, कर्म और ज्ञान (विद्या)।[1] गृह्य सूत्र में पिता ने कहा है—"हे पुत्र, तुम्हारा नाम वेद है।" हिन्दुत्व का सब कुछ वेद है। पुत्र की संज्ञा 'वेद' बना कर हमने उसका महत्व बहुत ऊंचा कर दिया है। राज्य का पुत्र-प्रजा भी वेद है। न्यायाधीश का पुत्र एक अपराधी भी वेद है। उसकी भी वही संज्ञा है। उसका भी वैसा ही सत्कार होना चाहिये।

अपराध के रूप

न्याय शासन में निजी विकारों को दूर रखना होगा। अपराध की जो कुछ मनोवैज्ञानिक व्याख्या हमने की है उसका निचोड़ यही है कि:—

(१) अपराध केवल उस वस्तु का नाम है या उस कार्य को कहते हैं जिसे तत्कालीन समाज नापसन्द करता हो।

(२) आरम्भ से ही प्रेम तथा घृणा, राग-द्वेष के वातावरण में पलने के कारण मानव स्वभाव में प्रतिहिंसा अन्तर्निहित होती है। जब उसका नीच "स्व" जाग उठता

---

१. महाभारत—सर्ग २—७२—५

है, अहंकार प्रबल हो उठता है, उसकी भीतरी प्रतिहिंसा कार्य रूप में परिणत हो जाती है।

(३) वातावरण के कारण अपराधी मनोवृत्ति प्राप्त होती है। यदि वातावरण ठीक रक्खा जाय तो ऐसी कुप्रवृत्ति दबी रह जाती है, अन्यथा नियमों के बन्धन को तोड़ कर स्वच्छन्द कार्य करने की इच्छा कोई अस्वाभाविक वस्तु नहीं है।

(४) ज्यादातर प्रतिहिंसात्मक अपराध की तह में प्राकृतिक कामुक भावना होती है। अपने से विपरीत योनि वाले के द्वारा पीड़ा प्राप्त करना, उससे शान्ति मिलना, उसकी मारपीट भी सहना (पति पत्नी के रूप में भी) यानी पीड़ा सहने में सुख तथा इसके विपरीत पीड़ा देने में सुख[1], इन सब भावों का आधार कामशास्त्र है।

(५) मनुष्य सबसे पहले अपने पिता के सामने अपराधी के रूप में जाता है। दण्ड का श्रीगणेश वहीं से होता है। यदि दण्ड का वातावरण उदार रहा तो बालक की प्रवृत्ति प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा के भावों से भरने नहीं पाती। यदि दण्ड निर्दय तथा कठोर होता है तो बच्चा आगे चल कर बड़ा द्वेषी, हिंसात्मक तथा उद्दंड हो जाता है।

कामुकता ने आत्म-पीड़न को जन्म दिया। आत्म-पीड़न से पर-पीड़न शुरू हुआ। कामुक के साथ धार्मिक प्रवृत्ति का बड़ा मेल हो जाता है। देवी का उपासक बहुत कम सोच पाता होगा कि वह अपने से विपरीत योनि के प्रति इतना अधिक आकृष्ट क्यों है। माता के प्रति सन्तान का इतना खिंचाव क्यों होता है? कृष्ण की बाल-लीला में हमको अपना पितृत्व या मातृत्व जागृत

---

1. Dunglison's Medical Dictionary— 1893.

मिलता है। प्राचीन यूनान में अपने को कोड़ा मार कर, अपने से अपना अङ्ग-भङ्ग कर, अपने को अपमानित करके देवता को प्रसन्न किया जाता था। जो व्यक्ति देवता को प्रसन्न करने के लिये अपने को कोड़े लगा सकता है वह अपने को प्रसन्न करने के लिये या उसी देवता को प्रसन्न करने के लिये दूसरे को भी कोड़े लगा सकता है। यूनानी देवी सिबेली को प्रसन्न करने के लिये यूनानी युवक मूर्त्ति के सामने अपने लिंग का ऊपरी चमड़ा या लिंग भी काट कर हाथ में लेकर इधर-उधर नाचता था। उसके बाद दुराचार के अभियोग में न्याय द्वारा लिंग काट लेना देवी-देवता की सन्तुष्टि का कारण बन गया। जब अपना कट गया तो दूसरे का भी काटना ही चाहिये। अपने ऊपर किये गये अत्याचार की भी प्रतिहिंसा होती है। प्राचीन रोमन के विषय में ओटोकीफ़र लिखते हैं—[२]

"रोमनगणतन्त्र के अन्तिम दिनों में जहाँ तक हो सका, स्वतन्त्र रोमन नागरिक के लिये प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त कर दी गई। पर, रोमन साम्राज्यशाही के प्रारम्भ में, आगस्टस के शासनकाल में, दण्डों में मार्कें की वृद्धि स्पष्ट है, खास कर के प्राणदण्ड की वृद्धि से। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है। (साम्राज्यशाही के दिन बीतते जाते हैं) ऐसे दण्ड का अधिक से अधिक मुक्तहस्त से उपयोग होता जा रहा है, कम से कम गम्भीर अपराधों के लिये, कठोर से कठोर ढङ्ग से प्राणदण्ड दिया जा रहा है तथा निर्दयता बढ़ती ही जा रही है। 'ईसाई' सम्राट्

1. Sexual Life in Ancient Greece – By Hans Licht Page 215 Edn. 1952.
2. Sexual life in Ancient Rome—Otto Kiefer Edn. 1951—Page 95.

कौंस्टेण्टाइन के राजकाल में भयङ्कर चीजें पैदा हो गईं—जबान का कुछ टुकड़ा काट लेना, अपराधी के मुख में शीशा गला कर भर देना।"

रोमन गणतन्त्र के जमाने में भी जङ्गली जानवरों के सामने अपराधी को फेंक देते थे। कार्थेज के पतन के बाद अफ्रिकानस ने पराजित शत्रुओं को जङ्गली जानवरों के सामने फेंक दिया था और रोम में यह कार्य जनसमूह के मनोरंजनार्थ सार्वजनिक रूप से किया गया था। राजा आगस्टस ने जङ्गली जानवरों के सामने फेंकना ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया था पर सम्राट् क्लाडियस ने इसको फिर से चालू करके जनता को प्रसन्न कर दिया था। जङ्गली पशुओं के सामने शत्रुओं को फेंकने की प्रथा लड़ाई के जमाने में शुरू हुई। लड़ाई के जमाने में उत्तेजित वातावरण में मनुष्य पैशाचिक नियम बना लेता है और इन नियमों के आधार पर बने नियम अपनी पैशाचिकता क़ायम रखते हैं। हमने पहले अध्याय में ही रोमन स्त्रियों की पैशाचिक वासना की तृप्ति तथा निर्दयता के काण्डों का वर्णन किया है। आज न जाने कितने क़ानून उसी प्राचीन कामुकता से उत्पन्न हैं और दण्डशास्त्र तथा न्यायशास्त्र के विद्यार्थी को उनकी वास्तविकता समझ लेनी चाहिये।

दण्ड-विधान की जटिलता

इसलिये आज के दण्ड विधाता तथा न्यायाधीश को बहुत ही फूँक कर पैर रखना होगा। वह भी मनुष्य है। उसमें भी प्राचीन काल से प्राप्त मानसिक दुर्बलतायें हैं। यदि वह उन कमजोरियों के ऊपर नहीं उठता है तो समाज का बड़ा अकल्याण होगा। वकील चाहता है कि दण्ड विधान बहुत पेचीदा रहे ताकि "क़ानूनी व्याख्या के लिये वकील की शरण लेनी पड़े। पर

समाज चाहता है कि क़ानून इतना सरल तथा सहज हो कि अपराधी स्वयं उसको समझ सके और अपनी पैरवी अपने आप कर सके। जिन दिनों बड़े कठोर दण्ड थे, ज़रा से अपराध पर प्राणदण्ड हो सकता था, जनता क़ानून को जानती थी। मुक़द्दमे की पैरवी के लिये वकील नहीं रहता था। न्यायाधीश स्वयं सब कुछ सुनता-समझता था। उसके ऊपर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी थी। घटना तथा परिस्थिति पर वह स्वयं विचार करता था। आज वकीलों की झुण्ड नज़ीरें लेकर खड़ी रहती है। मुक़द्दमे का फ़ैसला नज़ीरें करती-कराती हैं। क़ानून के सामने न्यायाधीश ने अपनी बुद्धि तथा आन्तरिक प्रेरणा का दरवाज़ा बन्द कर दिया है। दण्ड विधान में सुधार करते-करते हमने उसे इतना जटिल बना दिया है कि नियमों की जटिलता में उलझा हुआ विचारपति (जज) अपराधी को समझने का सरल कार्य नहीं कर सकता। आज सही अपराध भी नियमों के दांव-पेंच में ग़लत साबित हो जाता है और नक़ली अपराध भी सही प्रतीत होता है। इसीलिये इतिहास में ऐसी सैकड़ों मिसालें मिलेंगी कि प्राणदण्ड के बाद पता चला कि वह व्यक्ति निर्दोष था। पन्द्रह-बीस बरस बाद तक पता चला है कि असली अपराधी जीवित है। बेगुनाह को सूली टाँग दिया गया था। अभागा क़ानून की मार से मर गया। भूल करने वाले न्यायाधीश का कुछ नहीं बिगड़ा।

प्राचीन सभ्यता में न्यायाधीशों पर बड़ा कठोर अनुशासन था। भारत, चीन, मिश्र आदि देशों में विचारपति ही पुलिस तथा नगर शासन का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। अपराधों का पता लगाना तथा असली अपराधी को दण्ड देना उसी का काम था। निजी वैर विरोध के कारण दण्ड देने वाले या अपराधी पर अनावश्यक अत्याचार करने वाले या निर्दोष व्यक्ति को दण्ड

देने वाले को बड़ी कठोर सजायें मिलती थीं। प्राचीन हिन्दू काल में "सब के साथ बराबर न्याय" पर बहुत ज़ोर दिया गया था।[1] यदि न्याय शासन बहुत ऊँचे दर्जे का नहीं रहेगा तो "प्रजा को राज्य से वह संरक्षण प्राप्त न होगा जिसका उसे अधिकार है।" मनु ने स्पष्ट आदेश दिया है[2] कि "जब अन्याय न्याय को घायल कर देता है और न्यायाधीश घायल के शरीर से घायल करने वाले अन्याय के तीर को नहीं निकाल देता जब अन्याय न्याय को नष्ट कर देता है, सत्य को झूठ मार देता है और न्यायाधीश बैठे हुए यह दृश्य देखा करते हैं तो वे भी नष्ट हो जायेंगे। न्याय की हत्या से शासन की हत्या हो जाती है। न्याय की रक्षा से शासन की रक्षा होती है। इसलिये न्याय पर कभी प्रहार नहीं होना चाहिये। प्रहारित न्याय सबको नष्ट कर देगा।"

मनु के मतानुसार न्याय का आधार और स्रोत राजा है। राजा को ही न्यायालय का अध्यक्ष होना चाहिये। उसको परामर्श देने के लिये विद्वान ब्राह्मण तथा मंत्रीगण रहें। मनु ने राजा के मंत्रि मण्डल के लिये बारह सदस्य बतलाये हैं। बृहस्पति ने १६ तथा ऊषान ने २० का निर्देश किया है। राजा की अनुपस्थिति में न्यायालय का प्रधान विद्वान ब्राह्मण हो, जिसे राजा ही नियुक्त करेगा।[3] उसके साथ तीन परामर्शदाता हों। इस प्रकार "बेंच" बनी। परामर्श दाता भी वेद के पण्डित ब्राह्मण हों। तालाब, कुंएं आदि की चौहद्दी के झगड़ों में गवाहों को बुलाकर, साक्षी

1. The history and culture of the Indian People — Majumdar Vol. II. Page 340.

२. मनु० अध्याय ८—१२ से १५ तक

३. मनु०—अ०८—१.

लेकर तब निर्णय करना चाहिये। देहातियों की भीड़ की राय तथा दोनों पक्षों के सर्व-सम्मत निर्णय को (सम्पत्ति के मामले में) राजा को मानना पड़ेगा।[1] यह प्रथा वर्तमान जूरी प्रथा का ही आदि रूप थी।

कौटिल्य के अनुसार हर प्रमुख नगर में एक न्यायालय होगा जिस में धर्मशास्त्र के तीन पण्डित तथा राजा के तीन मन्त्री सदस्य होंगे।[2] यह भी एक प्रकार से "जूरी" प्रणाली हुई। इन दोनों आदेशों से स्पष्ट है कि न्याय को निष्पक्ष बनाने के लिये किसी एक व्यक्ति को निरंकुश अधिकारी बनने से रोका गया है। न्याय शासन में साक्षी का, गवाही का बड़ा महत्व था। मनु के अनुसार यदि अभियुक्त अपने ऊपर लगाये गये अपराध को अस्वीकार करे तो गवाहियाँ लेनी चाहिये। अभियुक्त के शत्रु या मित्र की गवाही नहीं मानी जायगी। केवल विश्वसनीय व्यक्ति की गवाही लेनी चाहिये। गवाही के समय शपथ लेनी होती थी। ब्राह्मण सत्य की, क्षत्रिय उस रथ या पशु की जिस पर सवारी करता हो, वैश्य अपने धन या स्वर्ण की तथा शूद्र सभी अपराधों को[3] सर पर रख कर (वैसी भावना बना कर) शपथ लेता। न्यायाधीशों को अधिकार था कि वे अपराध की सत्यता की जाँच के लिये खुफ़िया नियुक्त कर सकते थे, खुफ़िया जाँच करा सकते थे।[4] कौटिल्य ने अनुचित दण्ड देने पर, विचारार्थियों के साथ दुर्व्यवहार करने पर, अपराध की सत्यता की जाँच के लिये सभी उपायों या साधनों का उपयोग न करने पर, मुक़द्दमे का फ़ैसला करने में विलम्ब करने पर, गवाहों की गवाही में दख़ल देने पर या उनको कर्त्तव्य पालन से

१. कौटिल्य १८७. २. मनु० ८-१०९-१११. ३. मनु ८-११३-११५. ४. मनु० ८-१८२ - १८३.

रोकने पर तथा सम्पत्ति के बँटवारे में एक व्यक्ति को आधा से अधिक देने पर बड़े कठोर दण्ड का आदेश दिया है।[1] उस ज़माने में दीवानी तथा फ़ौजदारी के मुक़द्दमे अलग अलग अदालतों में नहीं होते थे। किन्तु, न्याय-शासन में न्यायाधीशों के प्रति बड़ी कड़ाई बरती जाती थी तथा अभियुक्त की "रक्षा" का भार भी अदालत पर ही था, अतएव न्याय शासन आज की तुलना में कहीं अच्छा था। आज तो सभ्य संसार की अदालतों में अभियुक्त बरसों सड़ाये जाने के बाद फ़ैसले की आशा कर सकता है। अपराध की सत्यता का पता लगाना न्यायाधीश का काम नहीं है। उसके सामने जैसा सबूत होगा, वैसा ही फ़ैसला देगा। आज का दण्ड विधान कहता है कि "राजा कोई भूल नहीं कर सकता"। राजा या राज्य शासन के नियमों के ऊपर है। प्राचीन भारतीय मत था कि यदि राजा भी धर्म शासन (विधान) के विरुद्ध चले तो उसे भी प्राणदण्ड देना चाहिये। साक्षी के लिये भी बड़े कठोर नियम थे। यदि झूठी गवाही से किसी को प्राणदण्ड मिल गया है और बाद में सत्य का पता चला है तो उसी ढङ्ग से साक्षी को भी प्राणदण्ड मिलेगा।

मनु तथा कौटिल्य के अतिरिक्त सभी संहिताओं का भारतीय न्याय-शासन पर बड़ा प्रभाव सदियों तक बना रहा। डा० आल्तेकर के कथनानुसार सन् १२०० तक राजा ही न्याय का आधार बना रहा। या तो वह सभी मामलों पर पहले ही विचार कर निर्णय दे देता था या अपीलें सुनता था। यदि वह बहुत कार्यव्यस्त रहता तो अपने मन्त्रि-मण्डल के सदस्य, प्रधान न्यायाधीश को अपने स्थान पर काम करने के लिये नियुक्त करता था। इस प्रकार प्रधान न्यायाधीश को मन्त्रिमण्डल का सदस्य

---

१. कौटिल्य २८१-८२-८३.

बना कर उसकी जिम्मेदारी बहुत बढ़ा दी गई थी। अशोक के समय में ऐसे न्यायाधीश को रज्जुक कहते थे। इस अधिकारी को प्राड्विवाक कहते थे। राजा के स्थान पर वही न्यायपति होता था। अशोक ने अपने प्रतिनिधि न्यायपति को "रज्जुक" की उपाधि दे रखी थी।

किन्तु, प्राचीन न्यायशासन में न्याय के विकेन्द्रीकरण का पूरा प्रयत्न किया जाता था। ग्राम पञ्चायतें (इनको युग कहते थे) तथा नगर सभाओं को अधिकार था कि सम्पत्ति सम्बन्धी सभी मामलों पर स्वयं विचार कर लें। बिना इन अदालतों में मुक़द्दमा चलाये या विचार कराये सरकारी अदालतों की शरण नहीं ली जा सकती थी। इस प्रथा से सरकारी अदालतों का कार्य भार काफ़ी कम हो जाता था। छोटे-छोटे मामले तो युगों (पञ्चायतों) में ही ख़त्म हो जाते थे। सरकारी अदालतें हर प्रमुख नगर तथा उपनगर में होती थीं। गुप्त शासन काल में इन अदालतों को धर्मासनाधिकरण कहते थे। न्यायाधीश को धर्माध्यक्ष या न्यायकर्णिक कहते थे। उस समय अदालतों के लिये प्रार्थना-पत्र लिखने वाले तथा मुक़द्दमे में पैरवी में सहायता देने वाले भी समाज में "आ" गये थे। उनको "धर्म लेखिन" कहते थे। इस योजना से पाठकों को हमारे न्याय शासन की एक महत्ता प्रकट हो जावेगी। न्याय धर्म का विषय था। दण्ड विधान धर्मशास्त्र का अङ्ग था। न्याय करने वाले को धर्म का—अपने कर्तव्य का पूरा ध्यान रखना पड़ता था। धर्म की भावना से किया गया न्याय बड़ी सुन्दर वस्तु हो सकता है—यदि वास्तविक धर्म भाव रहा, स्पेनी-इनक्विज़िशन ऐसी प्रतिहिंसा या विलासी धर्म न रहा! प्राचीन हिन्दू न्याय शासन आज के न्याय शासन के समूचे श्रेष्ठ सिद्धान्तों से भी युक्त था। हम ग्राम पञ्चायतों तथा पञ्चायती अदालत पर बड़ा ज़ोर दे रहे हैं। उस समय वे पूर्णतः सुसङ्गठित

थीं। अदालतों का विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त भी लागू था। कुछ कमियां ज़रूर थीं। वर्तमान "जूरिसप्रूडेंस" के भाव उस समय नहीं रहे हों पर अन्याय की भावना को पनपने का मौक़ा नहीं मिलता था। धर्मशास्त्र का अनुशासन बड़ा कठोर था। उसका आतङ्क काफ़ी था। न्यायाधीश के लिये स्मृति–संहिता की योग्यता अनिवार्य थी। उसे स्मृतियों का पण्डित होना आवश्यक था। अतएव न्यायकर्णिक धर्मशास्त्र का पण्डित ही हो सकता था। यह प्रथा—यह सङ्गठन आज के नौ सौ वर्ष पूर्व तक था। सन् १००३ में, चन्देल नरेशों के शासन काल में भी यही प्रथा थी। उस समय नियम था कि केवल गम्भीर मामले ही राज्य की अदालतों के सामने आ सकते थे। साधारण मामले स्थानीय अदालतों में ही तय हो जाते थे।

मनु और याज्ञवल्क्य के न्याय सञ्चालन में अन्तर था। याज्ञवल्क्य ने चार प्रकार के न्यायालय बतलाये थे। (१) राजा द्वारा नियुक्त (२) ग्राम या नगर की न्याय समितियां—युग (३) व्यापारियों तथा कारीगरों की समिति–श्रेणी (४) कुल—अपना परिवार। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी श्रेणी के मामलात का फ़ैसला अपने यहां पर ही कर लेने की योजना बनाई थी। उनके अनुसार कुल–परिवार के झगड़े कुल में ही तय हो जांय। व्यापार सम्बन्धी मामले अपनी श्रेणी में ही तय हो जाय। जब ग्राम की अदालत से भी काम न चले तो राज्य की बनाई अदालत से काम लिया जाय। पर, याज्ञवल्क्य ने हिंसात्मक अपराधों को राजा की अदालत के ही जिम्मे कर दिया था। उनका फ़ैसला वहीं से होना चाहिये। हिंसात्मक अपराधों के लिये पारिभाषिक शब्द "साहस" था। कौटिल्य ने भी हिंसात्मक अपराधों के लिये "उत्तम साहस" आदि दण्डों का विधान किया है। मनु ने अपराध की सत्यता की परीक्षा के लिये विष-पान, अग्नि-परीक्षा, जल-

परीक्षा तथा शपथ का आदेश दिया था। घोर राजद्रोह के अपराध में ऐसी परीक्षा अनिवार्य थी।[1] याज्ञवल्क्य ने नौ प्रकार की परीक्षायें बतलाई थीं। अदालती कार्यवाहियों के लिये पारिभाषिक शब्द "व्यवहार" था। "व्यवहार" के विषय में नारद ने अपनी संहिता में बड़ा विषद विवेचन किया है।

चीनी राजशाही में विचारपति पर बड़े कड़े बन्धन थे। एक ओर उसे बहुत अधिक अधिकार भी प्राप्त था। वह अपने ज़िले का प्रधान सरकारी कर्मचारी, प्रधान पुलिस अफ़सर, टैक्स वसूल करने वाला तथा न्यायाधीश भी था। उसके ऊपर प्रान्तीय अदालत होती थी, प्रान्तीय अदालत के ऊपर राजधानी-स्थित "सुप्रीम कोर्ट" होती थी। सुप्रीम कोर्ट का बड़ा आतङ्क था। हर ज़िले की पूरी रिपोर्ट इसके पास पहुँचती थी। इस प्रधान अदालत के ऊपर सम्राट् होता था। क़ायदे के अनुसार हर प्राणदण्ड की स्वीकृति सम्राट् के यहां से प्राप्त कर लेनी होती थी। सब से भय की वस्तु "शाही निरीक्षक" होते थे जो बराबर दौरा करते रहते थे और अधिकारी वर्ग की ज़रा सी भूल का दण्ड दे सकते थे।[2] यदि ज़रा भी सन्देह हो जाता था कि सरकारी कर्मचारी निजी वैर तथा विरोध निकाल रहा है तथा पूर्ण निष्पक्ष रूप से काम नहीं कर रहा है तो उसे कोड़े लगाये जाते थे तथा देश निकाला भी हो सकता था। झूठी गवाही देने वाले या झूठा अभियोग लगाने वाले को सौ कोड़े मारे जाते थे। यदि झूठे अभियोग से निर्दोष का प्राणदण्ड हो गया है तो उसको उसी प्रकार प्राणदण्ड मिलता था और उसकी आधी सम्पत्ति

---

1. State and Government in Ancient India—Dr. Altekar. Page 152-53.
2. Penal Code of China—Staunton (1810)



सामोआ द्वीप में मुँगरे से मार कर प्राण लिया जा रहा है।

जब्त कर ली जाती थी। चीन की पुरानी कहावत थी कि—

"फ़ौलाद की तलवार की धार बड़ी तेज़ होती है। पर निर्दोष का सर उससे नहीं कट सकता।"

न्याय-शासन का महत्व

क़ानून पर इतना बड़ा विश्वास होना बड़ी भारी बात है। आज के न्यायाधीश भी महान् पुरुष हैं। वे समाज के साथ तटस्थ होकर न्याय करना चाहते हैं। उनके कार्यों पर भी कड़ी देख रेख रहती है पर उनकी भूलों का धार्मिक या सामाजिक किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं रह गया है। वे अपनी समझ में पूरी सावधानी से काम करते हैं पर यदि उनसे असावधानी हो जाय तो उसका क्या फल होगा। न्यायशास्त्र आज बहुत ही उन्नत अवस्था को पहुँच गया है पर मनोवैज्ञानिक कमज़ोरियों के कारण समाज का वास्तविक कल्याण नहीं हो पा रहा है। पुराने ज़माने में पाप-पुण्य की भावना के कारण अपराध कम होते थे। समाज का सङ्गठन भी ऐसा था कि अपराध कम होते थे। पर, आज क़ानून की कठोरता जाती रही है। सभ्यता के चतुर्दिक् विकास ने कामुकता तथा निन्द्य वासनाओं की शान्ति के लिए काफ़ी मौक़े दे रखे हैं। इसलिए वासनायें भी बढ़ गयी हैं। अपराध भी ज़्यादा होते हैं। तब, प्रश्न यह उठता कि दण्ड को और कठोर कर देने से अपराध कम होगा या उसकी रही-सही कठोरता को दूर कर देने से। इस विषय में हमारा उत्तर स्पष्ट है।

हर युग की समस्याओं के लिये अलग अलग उपचार होते हैं। घोर से घोर कड़ाई करके देख लिया गया कि अपराध समाप्त नहीं होते। केवल अस्थायी रूप से रुक जाते हैं। फिर

यकायक विस्फोट होता है और तब उनमें अधिकता मालूम होती है। इतिहास इसका साक्षी है। जेबकटों को ब्रिटेन में जब फाँसी दी जाती थी तो तमाशबीनों की जेबें कटती रहती थीं। फ्रैंचगाइना में सबको फाँसी देने वाला जल्लाद स्वयं अपराध करके संसार से उसी प्रकार बिदा हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। इसलिये दण्ड के भय से अपराध कभी नहीं रुका। हम ऊपर कई उदाहरण देकर बतला चुके हैं कि दण्ड की कठोरता में वृद्धि से अपराधों में वृद्धि हुई है। यह स्वाभाविक भी है। प्रतिक्रिया तो होगी ही। प्रतिहिंसा होगी ही। आज मनुष्य पहले की तुलना में "नर्म" हो गया है। पर, वासनामय भी अधिक हो गया है। इसलिये उसको सन्मार्ग पर लगाने के लिये बड़ी सावधानी से काम करना होगा। पिता एक सीमा तक ही पुत्र को दण्ड दे सकता है। सीमा के बाद प्रेम करना ही होगा अन्यथा पुत्र विद्रोह कर बैठेगा। इसी प्रकार अपराधी के प्रति भी न्यायाधीश का व्यवहार होना चाहिये। जार्ज कर्चवे ने सत्य लिखा है कि "समाज का शत्रु हत्यारा नहीं है। हत्या है।"[1] इस हत्या को समझना होगा। केवल निर्दयता की भाषा में हम हत्या तथा हत्यारे को नहीं समझ सकते। यदि हमको निर्दयता ही करनी है तो उसकी कोई सीमा नहीं होनी चाहिये। जहां हमने निर्दयता में सीमा-निर्धारण शुरू किया, हम उसमें अपनी वास्तविक अश्रद्धा प्रकट कर देते हैं।

हम बदल गये हैं।

पुराने काल की तुलना में हम बदल गये हैं। हमारे विचार बदल गये हैं। क्विंटिलियन तथा सेनेका की इस बात को[2] अब

---

1. Man's Judgement of death—Lawes, Page 1?.
2. A History of Capital Punishment—John Lawrence.

कौन मानता है कि जितना ही सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया जावेगा, उतना ही प्रभावशाली होगा। जनता पर असर पड़ेगा। सम्राट् चार्ल्स पञ्चम (आस्ट्रियन) अपराधी को खुली क़ब्र में लिटा कर तब ऊपर से कोंच-कोंच कर प्राण लेते थे। सन् १८७६ तक बाल्कन प्रायद्वीप में यह प्रथा थी। आज कौन इसे सहन कर सकता है! अब सार्वजनिक प्राणदण्ड देना गर्हित समझा जाता है। छिपा कर, जनता की आंखों से बचा कर फांसी दी जाती है। इसीलिये न कि वास्तव में राज्य इस प्रथा से शर्मिन्दा है। उसे नैतिक साहस नहीं है कि खुले आम यह काम कर सके। प्राणदण्ड के साथ ही हमने "आजन्म कालापानी" की सज़ा भी जोड़ दी है। यह या वह—दो में से एक हो। यानी हम भी शुबहे में हैं कि क्या हो। इसलिये एक गुञ्जायश निकाल ली गई है।

बड़े कठिन विषय न्यायाधीश के सामने विचारार्थ आते हैं। उसे विचार करना है। उसे निर्णय देना है। उसे देखना है कि समाज का कल्याण अ-सामाजिक कहे जाने वाले व्यक्ति से किस प्रकार का व्यवहार करने में है। यदि उसे अच्छा उदाहरण देकर सही रास्ते पर लाना है तो ध्यान रखना होगा कि यह उदाहरण स्वयं देना होगा। जो सरकारी तौर पर प्राण हर सकता है वह दूसरों को प्राण लेने से कैसे मना कर सकता है। उसे ऐसा कहने का क्या नैतिक अधिकार है। न्यायाधीश पिता है। पिता को अपने पुत्र को दण्ड देना है। प्राण नहीं लेना है। गाली बकने वाला पिता अपने लड़के की गाली नहीं रोक सकता। प्राण लेने वाली सरकार हत्या नहीं रोक सकती।

"प्राचीन भारतीय विचारकों की धारणा थी कि सदैव दण्ड ही देने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। दण्ड का उपयोग कभी-कभी होना चाहिये। आदर्श राज्य वह है जिसमें जनता ने

न्यायशील जीवन की राजकीय योजना को स्वीकार कर लिया है अतएव वहां दण्ड देना प्राय: अनावश्यक होता है।"[1]

हम ऐसा ही आदर्श समाज चाहते हैं। हमें ऐसा न्याय चाहिये जिसमें कार्य की ओर नहीं, कार्य करने की नीयत पर सावधानी से विचार हो। मनु के अनुसार राजा तभी दण्ड देगा जब वह अपराधी की नीयत, अपराध का स्वरूप तथा दण्ड सहने की शक्ति पर सावधानी से विचार कर लेगा।[2] मनु कहते हैं कि "अनुचित दण्ड से प्रजा में प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है तथा मृत्यु के बाद यश समाप्त हो जाता है। अत: ऐसा दण्ड कदापि न दे। जो राजा दण्डनीय को दण्ड नहीं देता तथा अदण्डनीय को दण्ड देता है, वह नष्ट हो जाता है।"[3]

क्या दण्ड देना आवश्यक है!

ऊपर हमने न्याय-पुण्य तथा धर्म की भावना की आवश्यकता बतलाई है। आजकल के ज़माने में धर्म की दुहाई दक़ियानूसी बात समझी जाती है। धर्म का आधार ईश्वर है और लोग झगड़ा करने लगते हैं कि ईश्वर है भी या नहीं। हमारे शास्त्रकारों ने ईश्वर को "बोध गम्य" कह कर शायद पहेली को और कठिन बना दिया है। जो चीज़ "बुद्धि गम्य" नहीं है, बुद्धि में नहीं आती, उसके अनुभव पर कहां तक भरोसा किया जावे। पर ईश्वर को न मानने वाले सोमरसेट मॉघम ऐसे प्रसिद्ध उपन्यास-कार भी कहते हैं कि "ईश्वर में विश्वास साधारण बुद्धि, तर्क या विवाद की बात नहीं है।" आगे चल कर वे लिखते हैं "मुझे हर्ष है कि मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता क्योंकि जब मैं संसार में

---

1. State and Government in Ancient India—Altekar. Page 24.

२. मनु० अ० ८-१२६. ३. मनु० अ० ८-१२७-१२८.

व्याप्त कष्ट तथा कटुता को देखता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि इससे बढ़कर मूर्खतापूर्ण विश्वास और कुछ नहीं हो सकता।"[1] किन्तु, संसार की कटुता और विषमता के बीच में रह कर भी जो प्रेम का सञ्चार कर रहे हैं तथा संसार को सुखी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे ही ईश्वर के प्रतीक हैं। प्रतिनिधि हैं। आज के कष्ट का कारण उसी ईश्वर को भुला देना है। यदि वह याद रहे तो संसार में भले और बुरे की पहचान हो सकेगी। भला या बुरा काम समझ में आवेगा। आज की सबसे बड़ी नासमझी है भले-बुरे की पहचान में ग़लती। हम यह धारणा बनाये बैठे हैं कि जो बुरा है, वही अपराध है। जो अपराध है, वही पाप है। पर क़ानूनी भाषा में जिसे अपराध कहते हैं, वह सदा पाप नहीं हो सकता। अतएव हिन्दू सिद्धान्त के अनुसार यदि पाप ही दण्डनीय है तो सब अपराध दण्डनीय नहीं हो सकते। अपराध और पाप एक नहीं हो सकते। यह सही है कि बहुत से अपराध अनैतिक होते हैं, अतएव पाप हैं। पर बहुत से भयङ्कर पाप अपराध नहीं हैं। जब हमारे विचार में एक ही कार्य के करने के लिये दो रास्ते दिखाई पड़ते हैं और हम ऊँचे का रास्ता न पकड़ कर नीचे का रास्ता पकड़ते हैं तो हम अनैतिक कार्य के दोषी होते हैं। जीविका चलाने के लिये हम नौकरी कर सकते थे पर हमने चोरी का रास्ता पकड़ा। अतएव हम अपराधी और पापी दोनों हुए। पर, नीच लोभ तथा हृदयहीन स्वार्थपरता भी तो अपराध है पर कोई अदालत केवल इनके लिये दण्ड नहीं देती। यदि हम दण्ड के नैतिक आधार पर विचार करें तो इनके लिये भी दण्ड मिलना

1. A Writer's Note-book–By Somerset Maugham. Edn. 1949—Pages 13 and 61.

चाहिये।[1] विषय-वासना की तृप्ति के लिये जानते-बूझते किसी को अपना सूज़ाक़ या गर्मी का रोग दे देना क्या भयङ्कर अपराध नहीं है? पर इसके लिये कौन दण्ड देता है। हम मानते हैं कि बहुत से पाप अपराध नहीं हैं पर यह भी सत्य है कि प्राय: अधिकांश अपराध पाप हैं। अतएव उनको नैतिक पतन कहा जा सकता है। पर देश-काल के अनुसार कहीं बहु-विवाह पाप है, कहीं बहु-पति पाप है। कहीं पर यह अपराध है, कहीं प्रशंसनीय है। इसलिये कतिपय मौलिक नैतिकताओं को छोड़कर जैसे झूठ बोलना, चोरी करना, बलात्कार आदि पाप है, अपराध हैं पर सभी प्रकार के अपराध पाप नहीं हैं। तत्कालीन सामाजिक प्रथा मात्र हैं। इसलिये समाज की भूल के कारण उनको दण्डनीय कैसे कहा जा सकता है!

केवल भौतिक माप दण्ड से कर्त्तव्याकर्त्तव्य की परख नहीं हो सकती। "संसार में अन्य चीजों के समान कर्त्तव्यशीलता की मर्यादा भी तात्कालिक है। रोज बदलती रहती है। "अच्छा" केवल वही आचरण है जो उस मौक़े की परिस्थितियों के अनुकूल हो जाय। और आगे का विकास ऐसा हो सकता है कि वर्तमान कर्तव्यशीलता की भावना को हम उलट दें और आज हम जिसे गुण कहते हैं उसे गुण न कहें। जीवन-संघर्ष में सफलता या असफलता ही वास्तविक मर्यादा है। अच्छा वही है जो बना रह जाय।"[2] ईश्वर को न मानने वाले सोमरसेट मॉघम के ये शब्द हैं। आगे चलकर वे कहते हैं कि मानव की प्रेरणा में "अच्छाई" का प्रारम्भ हुआ और एक जाति की जो विशेषतायें हैं उन्हीं को

---

1. The Law-breaker—By E. Roy Calvert and Theodora Calvert Edn. 1945. Page 6.
2. A Writer's Note-book – Maugham. Page 62.

गुण का, सद्व्यवहार का सम्मानजनक पद मिला। मनुष्य का जीवन अच्छाई और बुराई के बीच में और कुछ नहीं केवल सुबह से शाम तक अपनी सन्तान के लिये भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करना है। बड़ी होकर वही सन्तान भी इसी काम में लग जाती है। सभ्यता के विकास के साथ ही भोजन तथा भूमि की समस्या आदमी के साथ लग गई। इस समस्या को निपटाने के लिये ही प्लेटो की राय थी कि सब लोग (समूचा समाज) एक साथ मिलकर खेती करे तथा उसकी उपज बराबर बांट कर खा ले। वास्तव में प्लेटो प्रथम समाजवादी थे। पर अरिस्तू ने निजी उद्योग तथा निजी सम्पत्ति पर जोर दिया था।[1] आज तक भोजन और भूमि का मसला तय नहीं हो पाया है। किसी भी देश में सबके पास बराबर भूमि या भोजन उपलब्ध नहीं है। सभ्यता बूढ़ी हो चली फिर भी हम जीवन संघर्ष समाप्त नहीं कर सके। हम इन्सान को ज़िन्दा रहने का वह सुख नहीं दे सके जिसकी उसे भूख है। प्यास है। हरेक प्राणी सुख चाहता है। उसकी आत्मा के अमरत्व का यही प्रमाण है। इसी सुख के लिये वह सुख लूटता है। इसलिये सुख के भिखारी तथा पुजारी को दुःख देना लाभदायक नहीं हो सकता। सुखके लिये प्रयत्न जारी रहेगा, तरीक़ा चाहे कितना ही ग़लत क्यों न हो। यदि न्यायालय अपराधी को सुखी नहीं कर सकता तो उसे क्या अधिकार है कि दुःखी करे। यदि क्षणिक दुःख के द्वारा न्यायालय स्थायी सुख का प्रबन्ध कर रहा है तो दण्ड प्रशंसनीय है। पर, जिस दण्ड से स्थायी दुःख का आरम्भ होता हो, वह दण्ड किस काम का। यदि समाज की रक्षा करने के विचार से दण्ड दिया जा रहा है तो उस दण्ड से क्या लाभ जिसमें, प्रोफेसर सिजविक के

---

1. Basic Teachings of the Great Economists—By John W. McConnel. Edn 1947—Page 38-39.

अनुसार केवल इस विचार से दण्ड दिया जा रहा है कि "उसने भूल की है, इसलिये उसे बदले में कष्ट सहना ही चाहिये। उसके कष्ट सहने से समाज को लाभ हो या न हो।"[1]

किसकी रक्षा !

समाज में बदले की भावना से दिये गये दण्ड से क्या लाभ होगा ! अपराधी की आत्मा को भी टटोलना चाहिये। "मानव के आचरण के स्रोत के सम्बन्ध में हमारी जानकारी जितनी बढ़ती जाती है उतना ही प्रतिशोध के पुराने सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन हो जाता है।"[2] ऐसा प्रोफेसर मैकडूगल कहते हैं। इस प्रेरणा, इस स्रोत की जानकारी के लिये हम भी अनुरोध करते हैं। सोमरसेट मॉघम कहते हैं कि "आत्मरक्षा के लिये समाज ने जितने नियम बनाये हैं उन सबसे अधिक प्रभावकारक 'चेतना' की सत्ता है। इस प्रकार हरेक आदमी के सीने के भीतर एक पुलिसमैन बैठा दिया जाता है जो देखता रहता है कि उसके नियमों का पालन हो रहा है या नहीं। यह मार्के की बात है कि जिस क्षेत्र में समाज अपना कोई दखल नहीं समझता, यानी आदमी के एकदम निजी मामलों में भी, यह चेतना समाज से ऐसा काम कराती है जो उसके क्षेत्र के बाहर के लिये भी अच्छा है।"[3]

किसी भी देश के दण्ड विधान में इस चेतना को शरण नहीं मिली है। उसके विषय में कोई पूछताँछ नहीं होती है। इसीलिए समाज का कल्याण नहीं हो रहा है। आगे चलकर दण्ड विधान का क्या रूप होगा, यह हम नहीं कह सकते। इसके लिए आवश्यक है कि पहले हमारा हृदय-परिवर्तन हो। इसके लिए

1. Methods of Ethics—Sidgwick Page 280,
2. Social Psychology—Mcdougall–Page 14.
3 A Writer's Note-book—Maugham. Page 67.

आवश्यक है कि हम अधिक समझदारी से काम लें।[1] अभी तक के प्रयोगों से कोई लाभ नहीं हुआ है। जो लोग यह कहते हैं कि पीड़ित के "सन्तोष" के लिए पीड़क को दण्ड देना चाहिये वे यह भूल जाते हैं कि पीड़ित को स्वयं सन्तोष प्राप्त करने का अधिकार राज्य ने छीन लिया है। अब यह सन्तोष राज्य प्राप्त करता है जिससे पीड़ित को वास्तविक सन्तोष नहीं हो पाता। इसलिए पीड़ित तथा पीड़क दोनों को ही निराशा होती है। इस-लिए समाज को दण्ड विधान से क्या लाभ हुआ। उससे असली आशा पूरी न हो सकी कि आदमी भयवश फिर वह काम नहीं करेगा! वर्तमान दण्ड विधान प्रतिशोध या प्रतिनिषेध (भयवश फिर वह काम न करने की नीति) पर निर्भर करता है। वह असफल रहा। इसलिये असफल रहा कि डरा कर आदमी को अच्छा नहीं बनाया जा सकता। "किसी आन्तरिक असामाजिक कामना की बाह्य अभिव्यक्ति को अपराध कहते हैं। भय केवल इतना ही कर सकता है कि कामना की बाह्य अभिव्यक्ति को रोके रहें पर किसी अन्य दिशा से वह कामना फूट निकलेगी। यदि भय इसके आगे बढ़ गया, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं कि उसने कामना को ही मार दिया तो हम देख चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी उतनी ही बुरी चीज हुई। असामाजिक कामनाओं को दबा नहीं देना चाहिये, उनको मर्यादित कर देना चाहिये या उनमें परिवर्तन करा देना चाहिये। यह सन्देहजनक है कि भय कभी ऐसा कर सकता है।"[2]

भय निर्मूल भी हो सकता है। काल्पनिक भी होता है। अपनी रक्षा के भय से समाज दूसरे को भयभीत करना चाहता है पर इस भय की प्रतिक्रिया भी होती है। 'ऐसा भय भयङ्कर मूर्खता

---

1. Society and its Criminals—Reiwald, Page 289.
2. The Law-breaker—Calvert, Page 12

भी पैदा करता है। सन् १३८६ में कैले नगर (फ्रांस) में एक तेज आरी से एक बच्चे का हाथ कट गया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। सार्वजनिक रूपसे उस बेजान औज़ार का सर-पैर कुचल दिया गया तथा उसे फांसी दी गई। सन् १६८५ में "अविश्वासी ईसाइयों" की सहायता करने के अपराध में गिर्जाघर के एक बड़े घण्टा को, लॉ रोशे नगर में कोड़े लगाये गये थे।[1] आज भी हम जब किसी को प्राणदण्ड की सजा पाते सुन कर यदि यह कहते हैं कि "जैसी करनी वैसी भरनी"—तो हम घृणा तथा मूर्खतावश निर्जीव चीजों को दण्ड देने वाले उपर्लिखित नगरवासियों से कम मूर्ख नहीं हैं—या हम उसी बच्चे के समान हैं जो दीवाल से सर टकराने के कारण दीवाल को ही मारता है। घृणा तथा प्रतिहिंसा की भावना हमको इसी प्रकार जड़ तथा पशु के समान अज्ञानी बना देती है।

जन्मजात अपराधी

हमारे मित्र कह सकते हैं कि यह सब तर्क तो ठीक है पर, जन्मजात अपराधी के लिये आप क्या करेंगे जो मां के पेट से ही अपराध सीख कर पैदा हुआ है। पूर्व जन्म के कर्म का फल तथा संस्कार में हम भी विश्वास करते हैं इसीलिये बचपन से ही धार्मिक संस्कार पर हम जोर देना चाहते हैं। पर, संस्कार बनाने से बनता या बिगड़ता है। मां के पेट से स्नायविक तथा ऐन्द्रिक ख़राबियों से ही अपराधी बन जाता है, यह हम नहीं मानते। आधुनिक अपराध-शास्त्री इसे नहीं मानते। जैसे वातावरण में बच्चे को पाला-पोसा जावेगा, वैसा ही वह निकलेगा। इसीलिये वातावरण प्रधान चीज है। बालकाल में ही यदि बच्चे में

---

1. The Criminal Prosecution and Capital Punishment of animals–E. P. Evans. (1906). Page 140

भावुकता, अस्थिरता तथा मनोवैज्ञानिक गतिरोध प्रतीत हो तो उसके लिये विशेष शिक्षणीय प्रबन्ध होना चाहिये ताकि वह अपनी निजी (व्यक्तिगत), सामाजिक तथा शिक्षणीय कमियों को पूरा कर सके। इङ्गलैण्ड की शिक्षा प्रणाली में ऐसे बच्चों के उपचार का विशेष प्रबन्ध है। बच्चों में "भावुक अस्थिरता" तथा मनोवैज्ञानिक गतिरोध का निरूपण उनके विचित्र आचरण, व्यवहार तथा स्कूल की कार्यावलि के सम्बन्ध में अ-साधारण अरुचि आदि को देखकर मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा होता है।[1]

विलियम हीली कहते हैं कि "हम कोई कारण नहीं देखते कि यह स्वीकार करें कि ऐसा कोई वर्ग है जो जन्मजात अपराधी है। निस्सन्देह मानसिक दोष या दुर्बलता तथा मिर्गी की बीमारी के शिकार, ख़ास तौर पर वे यदि बुरे वातावरण में पले हैं—तो ऐसे बच्चे गौणतः अपराधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं। जन्मजात अपराधी के भाव के विरुद्ध सबसे ख़ास तर्क यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति को उचित प्रारम्भिक वर्ग में ही नहीं रखा जा सकता। यह साबित करना बहुत कठिन होगा कि इन अपराधी व्यक्तियों के कार्य उनकी मानसिक दुर्बलता तथा वातावरण सम्बन्धी ख़राबियों के कारण नहीं हैं। हमें यह मान लेने के अनेक कारण हैं कि वातावरण ही व्यक्ति का जीवन बनाता है।[2]

संसार की प्रत्येक समस्या पर विचार करते समय हमको स्वयं अपने ऊपर विचार कर लेना चाहिये। तभी हम वांछनीय उदारता के साथ संसार की समस्याओं को, समाज की पहेलियों

---

1. Educational System in England—By Dr. B S. Haikerwal. Edn. 1951—Pages 73–74.
2. The Individual Delinquent—William Healy Edn. 1927, Page 781

को समझ सकेंगे। मनुष्य दुर्बलताओं का घर है। जिस समय से उसमें अहङ्कार तथा अहंभाव का प्रादुर्भाव हुआ उसी समय से दुर्बलता ने आ घेरा। राग-द्वेष स्वयं दुर्बलतायें हैं। सांसारिक उच्चतम भावनाओं की तह में नीच भावना छिपी रहती है। "प्रेम" को संसार की सर्वोच्च भावना तथा साधना कहा जाता है। पर, यदि हम किसी से अत्यधिक प्रेम करते हैं और हमको उसका प्रतिदान नहीं मिलता तो इस प्रेम को घृणा के रूप में परिवर्तित होने में कितनी देर लगती है। असफल प्रेम में कितनी ही हत्यायें की जाती हैं। दोष उस असफल प्रेम का है या असफल प्रेमी का! क्या उस समाज का दोष नहीं है जिसने विफल प्रेमी के मन को नियन्त्रित करने का उपाय नहीं सोचा या सोच नहीं निकाला। इसलिये हमको प्रेम सम्बन्धी हत्याओं पर मनोवैज्ञानिक रूप से विचार करना होगा। काम-विज्ञान के एक प्रकाण्ड पण्डित का कहना है कि "प्रेम की तह में घृणा सदैव अपने अवसर की प्रतीक्षा में बैठी रहती है और मानव समाज के दुःख का यही सब से गम्भीर कारण है।"[1]

प्रेम की पराकाष्ठा

इसीलिये प्रेम की पराकाष्ठा के अवसर पर भी मानव अपनी आन्तरिक घृणा के द्वारा आनन्द का अनुभव करता है। प्रेम की पराकाष्ठा है प्रेमी को पूर्णतः अपना लेना, उसको एकदम क़ाबू में कर लेना। इस कार्य में बड़ा सुख मिलता है। इस कार्य का सबसे प्रकट रूप है स्त्री-प्रसङ्ग। संसार में श्रेष्ठ सुख है स्त्री-प्रसङ्ग। कहते हैं कि आदि शङ्कराचार्य इसी परिणाम पर पहुँचे थे कि "मोक्ष तथा स्त्री सुख में केवल यही अन्तर है कि पहला स्थायी

---

1. Ideal Marriage—Its Physiology and Technique By Th. H. Van De Velde, Edn. 1944, Page 146.

है, दूसरा क्षणिक है।" स्थायी सुख को कौन जानेगा पर क्षणिक के लिये दुनिया पागल है। प्रसङ्ग में प्रेमी को जितनी ही पीड़ा होगी, सिहरन होगी, उतना ही आनन्द मिलेगा। हम अपना बड़ा से बड़ा सुख पीड़ा के द्वारा प्राप्त करते हैं। विषय-प्रसङ्ग में मत्त पति-पत्नी एक दूसरे को दाँत काट लेते हैं। काम-विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित हैवलॉक एलिस ने "प्रेम और पीड़ा" पर विश्व-विख्यात विवेचन किया है। उन्होंने एक बहुत ही प्रसिद्ध कविता का जिक्र किया है जिसमें कवि का वचन है कि "यदि केवल पीड़ा से ही मैं आत्म-विभोर हो सकता हूँ तो हे प्रकृति! तुझे शतबार धन्यवाद है कि तूने मुझे पीड़ा दी है।"[1]

अपराध के कार्य को हमारे प्राचीन ग्रन्थों में साहस का काम कहा गया है। साहस के काम के लिये मर्दानगी चाहिये। पीड़ा देना या पीड़ा सहना दोनों वास्तव में मर्दानगी की बातें हैं। इसीलिये वेल्डे का कथन है कि "हरेक पुरुष तथा स्त्री छिपी हुई आरम्भिक प्रेरणा के वशीभूत होकर प्रसङ्ग के समय में "मर्दानगी", "पुरुषत्व" की तात्त्विक शक्ति की अनुभूति चाहते हैं। यह अनुभूति स्त्री को उग्र रूप से, पूरी तरह अपने में समेट लेने में प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों को एक सीमा तक मर्दाने आक्रमण का आनन्द मिलता है।"[2] ऐसे प्रेम, ऐसे प्रसङ्ग, ऐसी पीड़ा को निर्दयता नहीं कहा जाता। अपराध नहीं कहा जा

---

1. If Only Pain brings ecstasy—
   Thanks, thanks to Nature, yet again,
   For having given to me such pain—
   —Matilda 'Wesendouch.
2. Ideal Marriage—Velde—Page 146.
3. Studies in Psychology—Dr. Havelock Ellis—Vol III.

सकता। डा० हैवलॉक एलिस कहते हैं कि—"आरम्भ काल में प्रेम प्राप्त करने की जो विधि थी, उसी का रूप आज भी स्त्री पर अपने अधिकार को प्रकट करने का आनन्द प्राप्त करने के लिये उसे पीड़ा देना है। पर ऐसी पीड़ा को निर्दयता नहीं कहा जा सकता। पुरुष यह महसूस करता है कि जो पीड़ा वह दे रहा है या देना चाहता है, वह उसके प्रेम का ही अङ्ग है और जिस स्त्री को पीड़ा दी जा रही है, वह उसे नापसन्द नहीं करती।" इसलिये पीड़ा को जघन्य कहने वाले समाज से हम पूछते हैं कि आप ऐसा क्यों कहते हैं। प्रेम में पीड़ा है। पीड़ा की प्रसादि प्रतिहिंसा है। प्रतिहिंसा से हत्या होती है। इसलिये असली हत्यारा प्रेम है।

आत्महत्या

आदमी अपने प्रेमी को पीड़ा देकर सुख प्राप्त करना चाहता है। अपने से अत्यधिक प्रेम होने के कारण वह अपने को भी बहुत पीड़ा देता है। वह अपनी हत्या तक कर डालता है। दण्ड विधान में आत्म-हत्या करने का प्रयत्न भी दण्डनीय है। पर आत्म-हत्या उन अस्वाभाविक परिस्थितियों का परिणाम है जिनकी जिम्मेदारी समाज पर है। प्रेम में, परिवार में, जीवन में असफलता के कारण कोई तभी जान देगा जब उसके लिये सहानुभूति का सहारा न हो। जब आदमी अपने कष्ट में अपने को एकाकी पाता है तो वह अपना रास्ता ही बन्द कर देना चाहता है। कहते हैं कि आत्म-हत्या एक उन्माद है। ढाई घण्टे तक इसका नशा रहता है। यदि इस ढाई घन्टे में उस व्यक्ति के विचारों में रुकावट पैदा हो गई तो वह अपना इरादा जरूर छोड़ देगा। कहते हैं कि उन्माद का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। अतएव ज्यादातर आत्म-हत्यायें पूर्णिमा के दिन या आस-पास

होती हैं। आत्म-हत्या के सम्बन्ध में विलियम हीले ने बहुत अच्छा लिखा है[1] कि:—

"यह कार्य अपराध की सरहद पर है। अपराध-शास्त्री के लिये यह सदैव बड़ा रोचक विषय रहा है क्यों कि इससे मानसिक रोग, व्यक्तिगत प्रभाव, अपराधी प्रवृत्ति आदि का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। आत्महत्या करने में अनेक कारण हो सकते हैं और अनेक प्रकार के लोग आत्महत्या कर सकते हैं। फिर भी हत्या से अधिक आत्महत्या में वैज्ञानिक वर्गीकरण हो सकता है। सब मानसिक ख़राबियों में सदा उदास रहने की बीमारी आत्महत्या का बड़ा कारण बन जाती है। "पन्द्रह वर्ष की उम्र के पहले यह प्रवृत्ति नहीं होती पर वयस्क होने के बाद ही यह औरतों में ख़ास तौर पर पैदा होती है, विशेषत: सन्तान हीन या विधवा होने पर। जर्मन देशों में स्कूल जाने वाले बच्चों में बहुत पाई जाती है। काफ़ी वैज्ञानिक अनुसन्धान के बाद यह मालूम हुआ कि आत्महत्या करने वाले में पागलपन के लक्षण बहुत कम मिलते हैं।"

किन्तु, आत्म-हत्या करने वाले को आसानी से दोषी नहीं कहा जा सकता। सोमरसेट मॉघम ने एक वास्तविक घटना का बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन किया है[2] :—

"एक स्त्री बैठी हुई अपने पति की ओर देख रही है। वह बिस्तरे पर शराब के नशे में चूर पड़ा है। और आज उसके विवाह की बीसवीं वर्षगांठ है। जब उसने उस व्यक्ति से शादी की थी, वह सोचती थी कि उसका जीवन बड़ा सुखमय होगा।

---

1. The Individual Delinquent—William Healy.
2. A Writer's Note-Book—Maugham. Page 35.

किन्तु इस आलसी, शराबी पशु से विवाह होने के कारण उसका जीवन बड़ा कठिन और दुःखद हो गया है। वह दूसरे कमरे में चली गई और वहां उसने विष खा लिया। सेंट टामस अस्पताल पहुँचाई गयी और वहां स्वस्थ हो गयी। तब पुलिस ने उस पर आत्महत्या करने का प्रयत्न करने का अभियोग लगाया। उसने अपनी सफ़ाई में कुछ नहीं कहा। लेकिन उसकी लड़की ने मैजिस्ट्रेट से अपनी माता की कष्ट कहानी सुना दी। उसे पति से पृथक् होने की आज्ञा मिल गई तथा भरण-पोषण के लिये पन्द्रह शिलिङ्ग (लगभग ११ रुपये) प्रति सप्ताह पति से मिलने की आज्ञा हुई। पति ने पृथक् होने वाले काग़ज़ पर हस्ताक्षर कर दिया और पन्द्रह शिलिङ्ग उसके सामने रखते हुए कहा—"यह तुम्हारा प्रथम सप्ताह का रुपया है।" स्त्री ने रुपये को उठा कर उसके मुँह पर फेंकते हुए कहा—"अपना रुपया ले जाओ। मुझे मेरे बीस साल वापस कर दो।"

न्यायाधीश से

ऐसी करुण कथायें कितनी मार्मिक हैं! हम चाहते हैं कि आज का न्यायाधीश ऊपर लिखी पंक्तियों पर विचार करे। वह अपराध को न समझ कर, अपराधी को समझने का प्रयत्न करे। आज के न्यायालयों का सबसे बड़ा दोष यह है कि जितनी ही बड़ी, शक्तिशाली तथा महान् विचारपतियों की अदालत होती है उतनी ही वह अभियुक्त से दूर होती जाती है। उसके सामने अभियुक्त नहीं आता, मुक़द्दमे की मिसिल आती है। हाईकोर्ट जिस अपराधी को प्राणदण्ड देता है, उसकी शक्ल भी शायद ही देखता हो। गवर्नर या सम्राट् जिसकी "दया" की अपील पर विचार करते हैं उससे बिलकुल परिचित नहीं होते। क्या इससे न्याय की आंखों पर पट्टी नहीं बँध जाती! क्या अपराधी के अभाव में

न्याय अन्धा नहीं हो जाता ! ऐसे अ-व्यक्तिगत न्याय से व्यक्ति का लाभ या कल्याण कैसे होगा ! ऐसी ही और भी अनेक बातें हैं जिनसे अदालत अपने आपको धोखा देती है। यन्त्रणा तथा यातना के भय से अनेक झूठे "इक़बाल" पर, "अपराध की स्वीकृति" पर दण्ड दे दिया जाता है। अदालत में भी, अपने बचाव की कोई सूरत न देखकर कथित अपराधी "सरकारी गवाह" बन जाता है। यदि अपराध पर दण्ड देना है तो "सरकारी गवाह" बनने पर भी दण्ड देना चाहिये। अदालत में "इक़बाल" कर लेने वाला अपराधी अपने कुकर्म की कहानी समाज को सुना कर उससे छुट्टी पा जाता है। उसने अपने 'पाप' को अपने ही तक नहीं रखा। उसे समाज को दे दिया। साथ ही अपना कार्य सुनाते समय उसे उस काम को फिर से करने का मजा मिल जाता है। बलात्कार की कहानी सुनाते समय कितने ही अभियुक्तों का अदालत में ही वीर्यपात हो जाता है। क्या दण्ड से बचने के लिये कुकर्म की पुनरावृत्ति जरूरी है !

जनता यह नहीं चाहती कि जज केवल क़ानून का बड़ा भारी पण्डित हो, उसे क़ानूनी नज़ीरें कण्ठस्थ हों। वह मनुष्य भी हो। उसमें तीन गुण अवश्य होना चाहिये। मनोविज्ञान का व्यवहारिक रूप जानता हो, मानव-स्वभाव तथा कार्यों से परिचित हो तथा उसमें मानवता हो। तभी आदर्श न्यायाधीश हो सकता है। जब उसमें ये तीनों गुण होंगे तभी वह अदालत में खड़ी भीड़ के राग-द्वेष के ऊपर उठकर विचार कर सकेगा। यदि उसमें इन गुणों का अभाव हुआ तो वह भयानक भूल कर सकता है क्यों कि जज, सरकारी वकील तथा सफ़ाई का वकील सभी मनुष्य हैं, मानवोचित भावनायें उनकी भी हैं, मानवोचित दुर्बलता भी है और अदालत में उपस्थित भीड़ के वे स्वयं एक अङ्ग हैं, एक

सदस्य हैं और अदालत में अनुपस्थित "जनता" की अप्रत्यक्ष पर परोक्ष रूप से छाप उनको प्रभावित कर रही है। अतः उनको बहुत ही ऊँचे उठ कर काम करना है। यदि समाज की सेवा में वह जज काम कर रहा है तो हरेक विचारपति को सर एबलिन के यह वाक्य याद रखना चाहिये कि "हम समाज की उन्नति की कैसे बातें कर सकते हैं जब कि उसके पृष्ठ में उन मौन, कभी न रुकने वाली, स्त्री-पुरुष तथा बच्चों की भीड़ चली आ रही है जिनको केवल जेलखानों की दीवालों के भीतर चैन मिलती है और जो उसके बाहर केवल इसलिये जाते हैं कि फिर लौट आवें।"[1]

न्यायालय में सुधार

हमारा अनुरोध है कि अपराध तथा अपराधी की समस्या हल करने के लिये यह आवश्यक है कि हमारे दण्ड विधान में, हमारे न्यायालय में, नियमों में तथा न्यायाधीशों में सुधार हो। इङ्गलैण्ड, अमेरिका सभी देशों में इस सम्बन्ध में काफ़ी विचार हो रहा है। वादविवाद चल रहा है। वहाँ के अपराध शास्त्री भी यही माँग कर रहे हैं। भारतवर्ष के लिये हमारी यह माँग ख़ास तौर पर है। ब्रिटिश शासन काल में हमको एक सुव्यवस्थित न्याय व्यवस्था प्राप्त हुई थी। मुग़ल साम्राज्य के अंतिम दिनों में, केन्द्रीय शासन की कमज़ोरी के कारण न्याय व्यवस्था बहुत ही असंगठित हो गई थी। अङ्गरेज़ी हुकूमत ने सब के लिये लागू होने वाली न्याय प्रणाली तथा सुसंगठित अदालतें प्रदान कीं। पर अदालती कार्य प्रणाली तथा गवाहियों के सम्बन्ध में उन्होंने

---

1. The English Prison System —1931—भूमिका पृष्ठ 19 – By Sir Evelyn Ruggles Brisc, late Chairman, Prison Commission.

जो नियम बनाये थे, वे किन्हीं अंशों में हमारे देश के स्वभाव के प्रतिकूल थे। विदेशी थे। उनसे आसानी से न्यायालयों के काम में देरी की जा सकती थी तथा न्याय प्राप्त करने का उद्देश्य समाप्त हो सकता था। स्वराज्य होने के बाद भी हमने इस ओर ध्यान नहीं दिया है, या दिया भी है तो उस तत्परता के साथ नहीं जो आवश्यक है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने न्याय शासन में सुधार के लिये एक कमेटी बिठाई थी। सन् १६५०–५१ में इसने कार्य किया था। सन् १६५२ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट ने न्याय शासन में सुधार की आवश्यकता स्वीकार की है। रिपोर्ट कहती है :—

"वर्तमान न्याय प्रणाली की प्रायः बड़ी कटु आलोचना होती है और कभी-कभी यह कहा जाता है कि हमारे देश की स्थिति के बिलकुल अनुपयुक्त है। अदालतों में अनजान में अनेक अनुचित कार्य हो जाते हैं। इसका कारण उसकी कार्य प्रणाली की कठोरता है। यह सही है कि हमारी न्याय-प्रणाली पेचीदी है, और जब उससे न्याय नहीं प्राप्त होता तो जनता में अदालतों के प्रति असम्मान के भाव उत्पन्न होते हैं। उसमें इन दोनों कारणों से सुधार के लिये बार–बार मांग की गई है।···यह उचित नहीं है कि भारत का एक प्रदेश सुधार करे और अन्य दूसरे राज्यों में वही पुराने सिद्धान्त लागू होते रहें।"[1]

न्याय-शासन का बहुत बड़ा दोष है न्याय मिलने में विलम्ब। शीघ्र न्याय करने के लिये आदर्श ब्रिटिश न्याय शासन है। संसार में, इस विचार से उसका स्थान सर्वोपरि है। सबसे

1. Report of the Uttar Pradesh Judicial Reforms Committee 1950–51—Vol.1 Page 9 (Edn. 1952)

ज़्यादा देर—बड़े राज्यों में—संयुक्त राज्य अमेरिका में होती है। यदि इस दिशा में संयुक्त राज्य को भी किसी ने नीचा दिखलाया है तो भारत ने। हमारे यहां तीन-चार वर्ष तक विचाराधीन क़ैदी बना रहना साधारण बात है। यदि अन्त में अदालत से निर्दोष कह कर बरी कर भी दिया गया तो अनायास काफ़ी लम्बी सज़ा भुगत लेनी पड़ती है। हम लोग निरपराध को भी अपराधी बना देते हैं।

चौथा अध्याय

प्राणदण्ड प्रणाली का क्रमशः अन्त

आज का क़ानून बहुत उदार हो गया है। आज की व्यवस्था में यह चेष्टा की जाती है कि अपराध की तह में बैठ कर उसके कारण का पता लगावे। अंग्रेज़ी क़ानून के अनुसार "तब तक अपराध नहीं हुआ जब तक कि अपराध का कार्य करने वाले का मस्तिष्क निर्दोष है।" "मेन्स री" यानी "दोषी मस्तिष्क" का होना ज़रूरी है। भारतीय दण्ड विधान के अनुसार भी कोई भी कार्य तब तक अपराध नहीं है जब तक कि उसके करने की नीयत न हो।[1] पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मनु ने भी यही कहा था। आज के दण्ड विधान का उसूल है कि कार्य स्वयं व्यक्ति को अपराधी नहीं बनाता जब तक कि उसका वह काम करने का इरादा न साबित हो। भारतीय दण्ड विधान की धारा ८० के अनुसार "यदि बिना अपराधी भावना से दुर्घटना या दुर्भाग्यवश कोई कार्य हो जाय" तो वह अपराध नहीं है। इस प्रकार वर्तमान दण्ड प्रणाली ने "कार्य" को गौण स्थान दिया है। कार्य करने की इच्छा मुख्य वस्तु है। अतएव अपराध स्वतः कोई चीज़ नहीं रहा। अपराधी भावना प्रधान रही। इस भावना के आँकने में यदि न्यायाधीश भूल करे तो व्यक्ति की बड़ी हानि होगी। मनु ने या कौटिल्य ने जानबूझ कर भूल करने वाले न्यायाधीश के लिये कठोर दण्ड का विधान किया था। वर्तमान दण्ड विधान में भी

1. "Actus non facit reum nisi mens sit rea."

इसकी व्यवस्था है। भारतीय दण्ड विधान की धारा २१६ के अनुसार यदि कोई सरकारी कर्मचारी किसी मुक़द्दमे के दौरान में भ्रष्टाचार या बदनीयती के कारण क़ानून के विरुद्ध कोई रिपोर्ट, फ़ैसला या विचार पेश करे दे तो उसे कठोर या अपरिश्रम कारावास तथा अर्थदण्ड या दोनों दिया जा सकता है। कारावास सात वर्ष तक का हो सकता है। यदि मुक़द्दमा करने का या किसी को गिरफ्तार कर बन्द रखने का अधिकार रखने वाला अधिकारी भ्रष्टाचार या बदनीयती के कारण किसी व्यक्ति पर मुक़द्दमा चला देता है या गिरफ्तार कर बन्द कर देता है और ऐसा करते हुए उसे मालूम है कि वह न्याय के विरुद्ध काम कर रहा है तो धारा २२० के अनुसार ऊपर लिखी सज़ा उसे दी जा सकती है। सरकारी कर्मचारियों के लिये भारतीय दण्ड विधान की धारा २१७ से धारा २२३ तक बड़ी महत्वपूर्ण हैं। आगे चलकर हम प्राणदण्ड के सम्बन्ध में अपनी इस जानकारी से काम लेंगे।

प्राणदण्ड की प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। भारतीय दण्ड विधान के अनुसार सम्राट् (आजकल राज्य) के विरुद्ध युद्ध (बग़ावत) तथा हत्या,दो ही अपराध प्राणदण्ड के योग्य हैं। पहले में हमारे दण्ड विधान की दफ़ा १२१ तथा दूसरे में दफ़ा ३०२ लागू होती है। इङ्गलैण्ड में सन् १८३८ के बाद केवल हत्या के लिये प्राणदण्ड मिलता है। सन् १७१६ में रोगर केसमेण्ट को राजद्रोह के लिये फांसी दी गयी थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में शुरू-शुरू में २००अपराध प्राणदण्ड के योग्य थे। बाद में चल कर बारह रह गये।अब केवल राजद्रोह, बलात्कार तथा हत्या के लिये प्राणदण्ड मिलता है। राजद्रोह के अपराध में संयुक्त राज्य अमेरिका में पहला प्राणदण्ड १८ जून, १६५३ की रात्रि में रोजन-बर्ग पति-पत्नी को मिला था। उनका अपराध था अमेरिकन

अणु बम का रहस्य खोलना। सन् १७८८ में संयुक्त राज्य के अन्तर्गत ओहियो प्रदेश ने तथा १७६४ में पेनसिलवानिया ने केवल जान बूझकर हत्या करने वाले के लिये यह अपराध क़ायम रखा। १८३८ में रोड द्वीप ने हत्या तथा आग लगाने के लिये यह दण्ड स्वीकार किया। १८६२ में संयुक्त राज्य में एक केन्द्रीय क़ानून पास हुआ जिसके अनुसार केवल हत्या, राजद्रोह तथा बलात्कार प्राणदण्ड के योग्य रहा। किन्तु संयुक्त राज्य के ४८ प्रदेशों में से ८ ने प्राणदण्ड एकदम समाप्त कर दिया है। ४० प्रदेशों में केवल जान बूझकर की गई हत्या के लिये प्राणदण्ड है। इनमें से ३३ में प्राणदण्ड या क़ैद की सजा भी दी जा सकती है।

संयुक्त :राज्य अमेरिका के आठ प्रदेशों में प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त नहीं हुई। कम्यूनिस्ट अधिकार में जाने के बाद सन् १६४६ से रूमानिया में प्राणदण्ड पुनः चालू हो गया है अन्यथा सन् १८५६ में ही समाप्त हो गया था। नारवे में सन् १६०६ में, कोलम्बिया में १६१० में, लैटविया में १६१:७ में (कम्यूनिस्ट अधिकार में जाने के बाद सन् १६४६ से पुनः चालू), नीदरलैंड्स में १८७० से, पनामा में १६२२ से, स्वेडन में १६२१ से इसका अन्त हो गया। इनके अलावा स्विटजरलैंडस् में १८७४ में सैनमैरिनो, सैन डोमिंगो, ब्रेजिल, कोस्टारिका, इक्वेडार, हौण्डुराज, नारवे, पेरु, उरुगुये, वेनेजुयेला आदि में भी यह प्रथा समाप्त है। इन देशों में अपराध के आंकड़े से पता चलता है कि प्राणदण्ड की प्रथा की समाप्ति के बाद हत्या के अपराध काफ़ी कम हो गये हैं। नीचे लिखे कुछ देशों में निम्नलिखित अपराधों के लिये प्राणदण्ड की प्रथा वर्तमान है :—

जापान—हत्या तथा उग्र राजद्रोह।

इटली—राजद्रोह (३० जून, १८८६ तथा २५ नवे० १६२६ के क़ानून के अनुसार)

फ्रांस—पुलिस कार्मचारी या मजिस्ट्रेट की हत्या का प्रयत्न, पितृ या शिशु हत्या या विष देना, निर्दयता से किया गया अपराध, किसी अन्य अपराध के साथ हत्या, ग़ैर क़ानूनी ढङ्ग से किसी को क़ैद कर रखना तथा यातना देना, कई प्रकार के आग लगाने के मामलों में तथा सन् १८४६ के क़ानून के अनुसार रेलवे ट्रेन को पटरी से उतार देने का जान बूझकर प्रयत्न करना जिससे जीवन की हानि हो।

जर्मनी—राजद्रोह (फ़ासिस्त-नाज़ी शासन में), हत्या, सैनिक नियमों या उल्लंघन तथा दासों का व्यापार करने में।

यूनान—उच्च राजद्रोह, हत्या, विषदान तथा आग लगाने के कई मामले।

मेक्सिको—विदेशी युद्ध काल में राजद्रोह (उग्र), क्रूर हत्या, आग, डकैती, कन्या भगाना, घोर सैनिक अपराध।

ईरान—राजद्रोह, क्रान्ति, हत्या तथा उग्र डकैती-सन् १६२५ का क़ानून है।

स्पेन—राजद्रोह, शासक की हत्या, समुद्री डँकैती, उग्र हत्या, पितृ हत्या। सन् १६०६ का क़ानून ही चालू है।

यूगोस्लाविया—हत्या तथा राजद्रोह।

स्विटज़रलैंड—संघीय विधान के अनुसार सन् १८७४ में ही समाप्त हो गया पर कुछ म्युनिसिपैलटियों को अपने यहां चालू करने की अनुमति मिल गई थी। कुछ ने अनेक अपराधों के लिये यह दंड चालू कर दिया था। अब किसी को प्राणदण्ड नहीं होता।

डेन्मार्क—उच्च (गहरा) राजद्रोह, जानबूझ कर की गई हत्या। पर गत ४८ वर्षों से वहां किसी को प्राणदण्ड नहीं दिया गया है। मौत की सज़ा व्यवहारतः कालापानी में बदल जाती है।

मिश्र—उच्च राजद्रोह, सार्वजनिक इमारतों में आग लगाना तथा उग्र हत्या।

कुछ थोड़े से मुख्य देशों के विषय में हमने बतला दिया है। हरेक देश की आज की एकदम सही परिस्थिति की हम ज़िम्मेदारी भी नहीं ले सकते, क्योंकि इस विषय में मित्र राष्ट्र परिषद् (यू० एन० ओ०) से भी पूरा साहित्य प्राप्त नहीं हो सका! ऊपर लिखी स्थिति की जानकारी "इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका" से प्राप्त हुई है। अब हम अपने विषय का विवेचन करेंगे।

परिवर्तन का प्रारम्भ

प्राणदण्ड की प्रथा में निरन्तर कमी तथा परिवर्तन का प्रारम्भ बड़े अध्ययन की वस्तु है। इस प्रणाली की क्रूरताओं के विरुद्ध दृढ़ता पूर्वक आवाज़ उठाने वाले प्रथम व्यक्ति थे श्री बेकारिया। बेकारिया ने १८वीं सदी में, पहली बार खुलकर इस प्रथा मात्र का विरोध किया था। वे वकील नहीं थे। क़ानून के पेशे से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। खुशहाल, सम्भ्रान्त तथा सम्मानित परिवार के व्यक्ति थे—"मार्क्विज़" थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में दण्ड के सम्बन्ध में निर्दयता तथा क्रूरता का, यन्त्रणा का व्यवहार करने के विरुद्ध संसार मात्र से अपील की। उन्होंने ऐसे दण्ड विधान की मांग की जिसमें हरेक अपराध के लिये निश्चित दण्ड हो। जैसे चाहा, जो चाहा, जिस प्रकार से चाहा, दण्ड दे देना बड़ी अनुचित बात है। बेकारिया की बातों

पर तहलका मचना लाज़िमी था। क्रूर समाज उनकी बातों से दङ्ग रह गया। काण्ट ऐसे "नैतिकता" के हिमायती ने भी उनका मज़ाक़ उड़ाया। कांटने लिखा था कि "अपनी" भावुकता-मय सहानुभूति में श्री बेक्कारिया ने सभी प्राणदण्डों को अन्याय-पूर्ण बतलाया है।...यह सब कोरा सिद्धान्तवाद तथा क़ानून की तोड़-मरोड़ है।"[1]

उस ज़माने में उस महान् बेक्कारिया ने जो नारा लगाया था उसका महत्व हम आज भले ही न समझें पर उनके शब्दों ने संसार को ऐसा चौकन्ना कर दिया था कि पचास वर्ष के भीतर ही बड़े बड़े क्रूर राज्यों की उग्र कठोरता समाप्त होने लगी। एक बार साहस करके बेक्कारिया ने मानव के भीतर बैठी उच्च आत्मा को, "उच्च स्व" को जगा दिया था और उसके दिमाग़ में यह उलझन पैदा कर दी थी कि वह जो कर रहा है, उचित है या अनुचित! उस समय लोग यह सोच भी नहीं सकते थे कि बिना प्राणदण्ड के समाज ज़िन्दा रह सकता है, जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के पुराने लाड लोग यह सोच भी नहीं पाते थे कि दरिद्रों को रविवार की छुट्टी मिलनी चाहिये। गोल्डस्मिथ ऐसे महान् कवि ने भी सन् १८६६ में भिन्न अपराधों के लिये भिन्न दण्ड की हिमायत करते हुए कहा था कि "हत्या के अपराध में प्राणदण्ड आवश्यक है।" जर्मनी में अपनी लेखनी के ज़ोर से बच्चों पर होने वाली क्रूरताओं को रुकवा देने वाले महाकवि गेटे ने प्राणदण्ड के सम्बन्ध में कहा था—"मैं भी इसका समर्थन करता हूँ।" पर बेक्कारिया महाकवि गेटे से यह कह सकते थे कि मन्त्री का पद पाने के बाद गेटे ने प्राणदण्ड का समर्थन किया

1. Metaphysics of Ethics—The Right of punishing and pardoning—By Kant.

था। उसके पहले नहीं। बेकारिया जानते थे कि उनकी बात सुनने वाले बहुत कम लोग होंगे इसलिये उन्होंने कहा था कि "मैं विश्व में फैले हुए बुद्धिमान लोगों के उस छोटे से समुदाय से (कहना चाहता हूँ) जो मेरी बातों को सुनेगा और अपने हृदय के अन्तरतम से उत्तर देगा।" बेकारिया यदि आज, दो सौ वर्ष बाद भी, जीवित रहते तो उनको यही प्रतीत होता कि बुद्धिमानों की संख्या उतनी ही कम है जितनी उनके समय में थी और उन थोड़े से लोगों ने ही संसार में प्रचलित क्रूरता को अपना खून पानी एक करके दूर किया था, दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं वरना ज्यादातर लोग अब भी गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों की तरह, दीवाल में चुनवाकर प्राण लेने की प्रथा को भी क़ायम रखते।

अपराध शास्त्र का विकास

बेकारिया की दृढ़ सम्मति थी कि किसी अपराध के लिये शारीरिक दण्ड न देकर कारावास का दण्ड देना चाहिए। कारावास के दण्ड से समाज की प्रतिहिंसा की प्यास नहीं बुझती। जेल में पड़े हुए व्यक्ति से हमारा कोई सम्पर्क नहीं रहता। हम उसको यातना उठाते हुए नहीं देखते। इसलिए हमारी तृप्ति नहीं होती। हमारा नीच "स्व" शान्त नहीं होता। यही कारण है कि बेकारिया का निरर्थक विरोध नहीं हुआ। पर, प्रायः सभी सभ्य देशों के दण्ड विधान में जहां प्राणदण्ड क़ायम है, इस सज़ा के बारे में एक झिझक, एक शर्म, एक लज्जा उत्पन्न हो गई है। किसी न किसी रूप में प्राणदण्ड को कम करना वे भी चाहते हैं। फ्रेञ्च दण्ड विधान में जूरी लोगों को आदेश दिया गया है कि वे उन कारणों को ख़ास तौर से ध्यान में रखें जिससे "अपराधी के अपराध की गुरुता कम होती हो।" पर, ऐसी

भावना के पनपने में समय लगा। इसे पनपाया वैज्ञानिक अध्ययन ने, अपराध के विज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों की जिज्ञासा ने। सन् १८७६ में इटालियन डा० लोम्ब्रोजों ने अपराध शास्त्र को क्रमबद्ध रूप में जनता के सामने रखा। हमारा मत है कि डा० लोम्ब्रोजो ने शरीर की रचना से अपराधियों के परख की जो बात कही थी उसकी शुरुआत प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के समय से हो गयी थी। पर लोम्ब्रोजो को डा० चार्ल्स गोरिंग ने सन् १९१३ में धराशायी कर दिया था। गोरिङ्ग ने सिद्ध कर दिया था कि शरीर की गढ़न से अपराधी का पता लगाना नितांत भ्रममूलक है। किन्तु लोम्ब्रोजो के पहले ही, काफ़ी पहले लावातेर (सन् १७४१–१८०१) तथा फ्रांक जोज़ेफ़ गॉल (सन् १७५८–१८२९) अपराध शास्त्र को जन्म दे चुके थे। इटालियन बेकारिया तथा अङ्गरेज़ रोमिली ने विश्व के सामने अपराध की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत कर दी। बेंथम ने सिद्ध कर दिया था कि अपराधी को निदयता के साथ कुचल देने से अपराध नहीं समाप्त होता। वियन्ना के डाक्टर फ्रैंक जोज़ेफ़ गॉल ने स्पष्ट लिखा था कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हरेक अपराधी का व्यक्तिगत (निजी) अध्ययन होना चाहिये। उनसे भी पहले सत्तरहवीं सदी के आरम्भ में सर एडवर्ड कोक कह चुके थे कि दण्डविधान का उद्देश्य अपराध को रोकना है, दण्ड देना नहीं है। बेकारिया हर शारीरिक दण्ड के कट्टर विरोधी थे।

आज अपराध शास्त्र काफ़ी विकसित हो चुका है। वह स्वीकार करता है कि अपराधी जाति नाम की, अपराधी वर्ग नाम की कोई चीज़ नहीं है, नहीं होती। मानव जाति के इतिहास में अपराधी जाति नाम की कोई चीज़ नहीं थी। एक अपराधी से दूसरे अपराधी में बड़ी विभिन्नता है। किसी व्यक्ति में आदतन अपराधी दुष्प्रवृत्ति हो सकती है, कामुक प्रवृत्तियों के

कारण भी। किन्तु परिस्थितियों के वश ही वह भ्रष्ट हो चुका है। आर्थिक कारणों तथा असामञ्जस्यों के कारण ही आज ५०० वर्ष पहले की तुलना में अपराध कहीं अधिक बढ़ गया है।

वर्तमान शताब्दि के शुरू के प्रथम दस वर्षों में अपराध तथा अपराधी का असली वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। मनोविज्ञान ने मानसिक दोषों की ओर अपना ध्यान देना शुरू किया। मनोविज्ञान ने नैतिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति के, पागल तक के मन की गति पर विचार करना शुरू किया। तभी यह पता चला कि शरीर—यानी नाक, कान, आंख की बनावट से किसी की नैतिक दुर्बलता का पता नहीं चल सकता। अपराधी चिकित्सा तथा न्याय दोनों शास्त्रों का विषय है। हम यह कदापि नहीं मान सकते कि अपराध रोकने का एक मात्र उपाय दण्ड देना है। दण्ड से यातना मिलती है। सुधार नहीं होता। बीमार को बीमार पड़ने के कारण पीटा नहीं जाता। उसकी दवा की जाती है। हमें मानव सत्ता के आध्यात्मिक तत्व को समझना होगा। अपराध शास्त्री अपने प्रयत्न में तब तक सफल नहीं होगा जब तक वह व्यक्ति का सम्बन्ध उसकी आत्मा से न कर दे। हमने मानव की आत्मा चुरा ली है। उसे वापस करना होगा।[1] उसे धर्म की खूराक़ देनी होगी। डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं कि "धर्म वह तत्व है जो धारण करता है, जो ऐहिक और आयुष्मिक उन्नति का साधन है। धर्म का वहुत बड़ा अङ्ग, धृति है। धृति का अर्थ है धैर्य, दृढ़ता, आत्म-निर्भरता, स्वावलम्बन।...(आज) वह भक्त नहीं, भीरु बन गया

1. Anthropological Aspect of Criminology–Second International Congress of Criminology – Paris, By Paripurnanand Varma, Page 12.

है।"[२] इसलिये धर्म की ख़ूराक देकर मानव के मन की भीरुता को दूर करना होगा। धार्मिक भावना का ठीक से सञ्चार होने से उसमें स्वावलम्बन, दृढ़ता तथा आत्म-निर्भरता आ सकती है। मानव की, समाज की, राज्यों की एकता तथा समानता सभी भाव तब तक पाखण्ड मात्र रहेगा जब तक हम ईश्वर तथा आत्मा की एकता, अद्वैत को न समझ ले तथा यह न मान लें कि सबमें, अपराधी या हममें बैठी हुई आत्मा एक है। मानव-सत्ता का एकमात्र उद्देश्य है बाहरी वैभिन्य को दूर कर एक में मिल जाना। समूह में इसी विलीनीकरण को ठीक से न समझ सकने के कारण आज का अपराध-शास्त्री अभी तक विषय की तह में न पहुँच सका है यद्यपि वह विशद प्रयत्न कर रहा है।

कारागार में आराम

दण्ड दिया जाता है लाभ के लिये। क्या उससे लाभ हो रहा है! इस विषय में आज दो मत प्रचलित हैं। अधिकांश पुलिस कर्मचारियों का मत है कि जब तक दण्ड का भय न रहेगा, जेल जाने का डर न रहेगा, तब तक दण्ड देने का नाटक करने से क्या लाभ। जेलों में इतने अधिक सुधार हो गये हैं, जेल का जीवन इतना "सुखमय" हो गया है कि बाहर से जेल के भीतर अधिक आराम मिलता है। अतः किसी को जेल जाने से डर क्यों लगेगा। कुछ लोग यहां तक कहते हैं कि जेल जाने में "आकर्षण" हो गया है। दूसरा मत कहता है कि जेलों में काफ़ी यातना देने के बाद भी देख लिया गया कि कुछ लाभ नहीं होता। तब, मानवोचित व्यवहार करने में क्या हानि है। पहले मत के समर्थन में जेल के दो उच्च पदाधिकारियों का मत दे देना उचित

२. ब्राह्मण सावधान—(ज्ञान मण्डल) डा० सम्पूर्णानन्द, पृ० १६

होगा। ब्रिटेन के वेंड्मवर्थ जेल के गवर्नर (सुपरेंटेंडेंट) सी०रिच ने सन् १६३२ में लिखा था कि "मुझे ऐसा लगता है कि जेलों का संयम (डिसिप्लिन) समाप्त होता जा रहा है। मैं इस 'बन्धु प्रेम' वाली बात में विश्वास नहीं करता। जो आदमी जङ्गली जानवरों की तरह से व्यवहार करे उसके साथ जङ्गली जानवरों का वर्ताव करना चाहिये। इसे छिपाने से कोई लाभ नहीं है।"[1] ब्रिटेन के ही एक दूसरे जेल सुपरेंटेंडेंट एच० हेलीज़ ने लिखा था—"अब जेल भय की वस्तु नहीं रह गया है .... स्वाधीनता में एक प्रकार की बोदी रुकावट ही सजा रह गयी है। ऐसे प्रतिबन्ध में भी सहूलियत पहुँचाने के लिये काफ़ी तथा भिन्न प्रकार का भोजन, मैजिक लैंटर्न, व्याख्यान, वाद-विवाद सभा, नाच, कसरत, किताबें, पत्र व्यवहार, अर्ज़ियां, जेल निरीक्षकों का आना जाना, और केवल इतना काम कि रात को मजे की नींद आ सके........जेल सुधार के हिमायती तथा आम जनता को यह साफ़ प्रतीत होता होगा कि जेल आज अपने उस प्रारम्भिक उद्देश्य को नहीं पूरा कर रहा है जो उद्देश्य है—लोगों को जेल जाने से रोकना भय पैदा करना। .. हिंसात्मक अपराधी की दवा कैसे होगी? हिंसात्मक व्यक्ति के लिये एक ही दवा है—हिंसा।"[2]

दूसरा मत अधिक दृढ़ता के साथ अपनी बात कहता है। उसका कथन है कि हमने यह भली प्रकार समझ लिया कि मनुष्य को स्थायी रूप से डराकर भला आदमी नहीं बनाया जा सकता। "पुराने जमाने में आदमियों को जेल भेजकर उनका

---

1. C E. F Rich, late Governor, Wendsworth Prison—in Sunday Graphic, 2nd Feb. 1932.

2. H. M A. Hales late Governor, Parkhurst Prison, The Times, 6th Aug. 1932.

जीवन काफ़ी दूभर बना देने का मतलब यही था कि वे जेल से छूटने के बाद डटकर फिर दुबारा वही अपराध न करें। पर, लोग इस तरह से डराकर सद्व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। संसार में सभी देशों ने यह प्रयोग करके देख लिया और असफल रहे।"[1] सत्ताइस वर्ष पूर्व ब्रिटेन के प्रिज़न कमिश्नर ने एक रिपोर्ट में लिखा था कि "कारागार समाज की रक्षा के लिए है और वे केवल एक या दो रूप में ही ठीक से रक्षा कर सकते हैं (अ) असामाजिक व्यक्ति को समाज से एकदम हटाकर या काफ़ी लम्बी अवधि के लिए हटाकर (ब) उसमें कुछ परिवर्तन उत्पन्न करके। पहले तरीक़े का सर्वसाधारण उपयोग जनसमूह को स्वीकार नहीं होगा। इसीलिए जेल शासन को दूसरे उपाय का अधिकतम उपयोग करना चाहिये। यानी, अपराधी व्यक्ति को उसके दण्ड की मीयाद के भीतर ही नागरिकता की साधारण मर्यादा उपलब्ध करा देनी चाहिए। यदि उस व्यक्ति के जेल जीवन में अपने साथी नागरिकों के प्रति स्वस्थ व्यवहार नहीं उत्पन्न किया गया तो छूटने के कुछ ही दिनों बाद वह फिर एक ख़तरा या परेशानी बन जायगा। किन्तु इससे बुरी दशा तब होगी जब वह जेल से समाज के प्रति प्रतिशोध या हिंसा की भावना लेकर बाहर आये..."[2]

समाज का कल्याण इसी में है कि जेल में व्यक्ति का सुधार हो। जेल से आदमी सुधर कर निकले। क़ानून तोड़ने वाला

---

1. Gilber Hair (Dr.) Deputy Governor, Liverpool Prison, quoted in Liverpool Post 10th Oct 1931.

2 Prison's Commissioner's Report, late Sir Maurice Waller, 1925—26.



स्पेन के धार्मिक दण्डों की विभीषिका

समाज के लिये बोझ है। हम उसके अपराध के परिणाम को काफ़ी भयङ्कर रूप देकर उसे इतना डरा देना चाहते हैं कि वह अच्छा नागरिक बन जावे। इस उपाय का प्रयोग हो चुका और असफल रहा। दूसरा उपाय है उसे सुधार कर, समाज का बोझ न बना कर, समाज का उपयोगी अङ्ग बना लेना। अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि यह दूसरा उपाय अधिक कारगर हुआ है। समाज की तब अधिक रक्षा होती है जब क़ानून तोड़ने वाले को डरा-धमका कर नहीं, उसे सच्चा नागरिक बनने की शिक्षा देकर वास्तव में उपयोगी नागरिक बना दिया जाता है। ऐसा करने के लिये जेलों में सुधार आवश्यक है। सम्भव है कि सुधार के कारण कुछ समय के लिये अपराधी बढ़ जावें। पर ऐसी स्थिति के लिये जेलों को दोष देने के पहले समाज और उसकी रचना तथा सभ्यता की कृत्रिमता को दोष देना होगा। हमारे दण्ड विधान तथा जेलों की रचना में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह हरेक को एक ही लकड़ी से हाँकता है।

यह कितना बड़ा भ्रम है कि जेलों में सुविधा मिलने से क़ैदी के दिमाग़ पर बुरा असर पड़ता है। डार्टमूर जेल में १९३२ में जो उपद्रव हुआ था उस पर एक रिपोर्ट तैयार की गई थी, उसमें लिखा था कि, "मैं यह नहीं मानता कि इस देश के जेल विभाग का जो उद्देश्य रहा है कि क़ैदियों के साथ अधिक मानवोचित व्यवहार हो तथा जेल के जीवन में सुधार हो, उससे जेल में अव्यवस्था बढ़ती है।" यह सोचना भी भूल है कि जेलों में सुख देखकर क़ैदी बार बार वही अपराध करके जेल में वापस आ जाता है। दुबारा या आदतन क़ैदी के विषय में यदि सभी देशों के आंकड़े मिलाये जांय तो प्रतीत होगा कि इनमें से अधि-

कांश एक ही प्रकार के अपराध के विशेषज्ञ नहीं होते। वे भिन्न-भिन्न अपराध करके जेल वापस आ जाते हैं। इस विषय में वाइवरने[1] ने फ्रांस में खोज की थी। उनका कहना है कि फ्रांस में दुबारा अपराधियों का ६० फी सदी किसी दूसरे अपराध के लिये दण्डित है। उनके पहले तथा दूसरे अपराध में भेद है। इसलिये आदतन अपराधी का एक हौआ बनाकर इसे साधारण बुद्धि-गम्य विषय नहीं बनाया जा सकता। फेरी[2] ने सन् १६०५ में सत्य लिखा था कि अपराध शास्त्र का दायरा जितना ही बढ़ता जाता है उतना ही उस विषय को साधारण बुद्धि की बात कहना ग़लत होता जाता है। लोम्ब्रोज़ो ऐसे आदमी की बात कट गई कि समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक साधारण व्यक्ति, दूसरा असाधारण और यह असाधारण व्यक्ति ही अपराध करता है। यह सब भ्रम है। इटालियन बेक्कारिया तथा फिलानगीरी[3] ने जब हर प्रकार की यातना तथा प्राणदण्ड का विरोध किया था तो वे भी समाज का ऐसा विभाजन मानने को तैयार नहीं थे। यह विज्ञान-सिद्ध बात है कि संसार में मन, बुद्धि तथा विचार की दृष्टि से एक ही प्रकार के दो आदमी नहीं मिल सकते[4], इसीलिये कोई ठोस नियम बना लेना भूल होगी। इसीलिये आदतन अपराधी, दुबारा अपराध के लिये, ब्रिटेन के प्रिज़न कमिश्नर्स ने सन् १६३६ की अपनी रिपोर्ट के ५६ से ६४ पृष्ठ में काफ़ी गूढ़ विचार करते हुये यह लिखा था, "दुबारा अपराधियों के विषय में विचार करते समय हम अन्धे शीशे के द्वारा उनको देखने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय में अधिक खोज तथा मनोवैज्ञानिक

---

1. Yvernes. 2. Ferri. 3. Filangieri. 4. The Modern Approach to Criminal Law-(Italian Theory of Crime) 1945. page 5.

अनुसंधान से भविष्य में अधिक ानकारी तथा समझदारी की आशा करनी चाहिये।"[1]

यह आशा धीरे धीरे पूरी होती जा रही है। अपराध विज्ञान इस दिशा में काफ़ी प्रगति कर गया है, अपराध करने वाले व्यक्ति पर जो आदेश लागू होते हैं, उसी का नाम दण्ड विधान है। एक ज़माना था जब सभी अपराधों के लिये एक ही प्रकार के आदेश लागू होते थे। एक ही प्रकार का दण्ड मिलता था। आज एक ही प्रकार अपराध करने वाला बालक, प्रथम अपराधी, पागल, आदतन अपराधी, दुबारा अपराधी आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से दण्डनीय होता है। कोई जेल जाता है, कोई निगरानी पर छोड़ा जाता है, इत्यादि। प्राणदण्ड के सम्बन्ध में भी यही बात है। क्या इसके विषय में भी एक प्रकार के ही आदेश होंगे! चाहे जिस किसी अवस्था में, परिस्थिति में हत्या की जाय, क्या प्राणदण्ड ही देना होगा? क्या ऐसे दण्ड को सार्वजनिक रूप से देना चाहिये या चुपचाप जेल में? अब हम जेल में चुपचाप यह दण्ड देते हैं, मानो हमको खुद इसके विषय में शर्म है, लाज है। इस विषय पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहां पर इतना ही लिख देना काफी होगा कि प्राणदण्ड का मापदण्ड एक ही रखने से वही भूल हो रही है जो हर प्रकार के अपराधी को एक ही जेल में रखकर की जाती है। हम सब प्रकार का अन्न एक ही हांडी में रखकर नहीं पकाते। पर हम हर प्रकार के आदमी एक ही कमरे में बन्द करके उनका सुधार करना चाहते हैं।

ब्रिटेन के प्रसिद्ध समाजवादी नेता श्री फेनर ब्रॉकवे ने बिलकुल ठीक कहा है :—

"कारावास प्रणाली की सबसे महान मूर्खता है हर प्रकार के

1. पिछली पुस्तक–English Law of Punishment–Page 62

अपराधी के साथ एक ही व्यवहार करना। चाहे वह आदमी चोर हो, शराबी हो, बाल-हत्यारा हो, राजनैतिक अपराधी हो, कर्जदार हो, जालसाज़ हो, बहुविवाही हो, हत्या का अपराधी हो, तात्विक रूपसे हरेक के साथ समान व्यवहार होता।"[1]

यदि हम भिन्न प्रकार के रोग की भिन्न प्रकार से चिकित्सा कर सकते हैं तो भिन्न प्रकार के अपराध की भिन्न चिकित्सा भी हो सकती है। ऐसा करने में शासन का भी काम हल्का होगा। समाज को भी अपनी समस्या को निपटाने में सहूलियत होगी। अपराध-शास्त्र पर हम यह पुस्तक नहीं लिख रहे हैं अन्यथा हम इस विषय पर और प्रकाश डालते। जेल की प्रणाली पर हम विचार नहीं करना चाहते वरना हम इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखते पर उदाहरण के लिये हम नीचे एक तालिका देते हैं। उससे पता चलेगा कि यदि सुधार के कार्य को बौद्धिक रूप दें तो आज जेलों की आबादी भी काफ़ी कम हो सकती है। जनता का पैसा बचेगा और नागरिकता के अधिकार से वञ्चित रख कर जो लोग अनायास जेल में रखे जाते हैं वे भी अच्छे काम में लग जावेंगे। ३० जून, १९५३ को कानपुर के ज़िला जेल में जो परिस्थिति थी, वह नीचे दी जाती है। पाठक स्वयं देखें कि उनमें से केवल ६०० व्यक्ति जेल में रखे जाने चाहिये थे। शेष के सुधार के लिये अनेक उपाय थे। जेल में उनका स्थान कभी भी नहीं था।

---

1. A. Fenner Brockway – A New Way With Crimes, Page 123.

विचाराधीन बन्दी		अभियुक्त (सज़ायाफ्ता)
१—हत्या	१४	७
२—हत्या की चेष्टा	१८	२१
३—डँकैती	३२	१३
४—चोरी	१३०	१२९
५—जालसाज़ी	२२	४७
६—हथियार सम्बन्धी क़ानून तोड़ने में	३२	३९
७—बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार	१२	४
८—लड़की भगाना आदि	१०	११
९—लफंगे, बुरी जीविका-दफ़ा १०७/११७/१५१		
	२३९	२५४
१०—आबकारी क़ानून	७८	१११
११—रेलवे क़ानून तोड़ना या जुआ	४८	५१
१२—जाली सिक्का		७
	कुल ६२९	६९४

इन ११ अपराधों के १३२० क़ैदियों में से सं० ६ से ११ तक ८८० बन्दियों को जेल में रखना नितान्त आनावश्यक है। उनमें से बहुत से निर्दोष भी होंगे।

हत्या में नीयत

इसी दृष्टि से हम चाहते हैं कि प्राणदण्ड के अपराधियों पर विचार किया जाय। सभी हत्याओं का एक ही उद्देश्य नहीं होता। सभी राजद्रोह का एक ही कारण नहीं होता। किन्तु राजद्रोह या हत्या का दण्ड एक ही है—मृत्यु। कालापानी यानी आजन्म कारावास का दण्ड तो तब दिया जाता है जब अपराध

की गुरुता या प्रत्यक्षता में कुछ कमी सिद्ध कर दी जाय। जनता में प्रतिशोध की भावना होती है। दण्ड के समय वह खून की प्यासी बन जाती है। पर दण्ड के बाद उसका दिल दुखने लगता है। अपराधी की हरेक बात उसे प्यारी लगती है। रोचक लगती है। रूस में–कम्यूनिस्ट शासन में–राजद्रोह के अपराध में अत्यधिक प्राणदण्ड दिये जाते हैं। पर वहां देश के चारों ओर लोहे का परदा लगा है। वहां का समाचार बाहर नहीं जा सकता। संयुक्तराज्य अमेरिका में प्रजातन्त्र है। अतएव वहां की बातें चारों ओर फैलती हैं। रूस में, विदेशी राज्य को भेद बताने के अपराध में कितने ही व्यक्ति जान से हाथ धो बैठे। संयुक्त राज्य में रूस को अणु बम का रहस्य बतलाने के अपराध में जूलियस रोज़ेनबर्ग तथा उनकी पत्नी एथेल को २० जून, १९५३ को फांसी (बिजली की कुर्सी) दी गई। इस पर काफ़ी शोर मचा। फांसी का, प्राणदण्ड का पूरा ब्यौरा मोटे अक्षरों में समाचार पत्रों में छपा। अमेरिकन राष्ट्रपति आइसेन होवर के चुनाव के समाचार से अधिक स्थान इस प्राणदण्ड की घटना को दिया गया। बिजली की कुर्सी से वे कैसे बांधे गये; एथेल का मुख मरने के पहले किस प्रकार महिला वार्डन ने चूमा, मरने के समय पादरी कौनसी प्रार्थना पढ़ रहा था, सभी का ब्यौरा वहां से दूर भारत के समाचार पत्रों के लिये रायटर के सम्वाददाता ने भेजा था। एथेल की निजी डायरी भी प्रकाशित हुई है और लोगों ने उसे बड़े चाव से पढ़ा। एथेल ने उसमें लिखा है कि उसके पति ने रूस को अमेरिकन अणु बम का रहस्य इसलिये बता दिया कि जब सबको यह भयंकर चीज़ मालूम हो जावेगी तो कोई इसका उपयोग नहीं करेगा। यदि रोज़ेनबर्ग ने, चाहे भूल के कारण ही, सच्ची नीयत से ऐसा किया तो क्या उसको मृत्यु-दण्ड देना चाहिये था या उसे सन्मार्ग पर लाकर उसकी प्रतिभा

से देश का कल्याण करना चाहिये था ! रोजेनबर्ग मर कर शहीद बन गया। उसके वकील श्री इम्मानुयेल ब्लॉश ने खीझ कर कहा था—"धिक्कार है अमेरिका को...रोजेनबर्ग दम्पत्ति की मृत्यु से अमेरिकन प्रजातन्त्र भी मर गया।"[1]

उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध वीरा डाकू का एक सहकारी रामभरोसे डाकू था। उसने तीन क़त्ल किये थे। २६ जून, सोमवार को तड़के उसे फांसी दी गई। फांसी देने वाले कानपुर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बतलाया कि मरने के तीन दिन पहले उसने अपना सब अपराध स्वीकार कर लिया। जब उसकी स्त्री अन्तिम बार मिलने आई और कलेजा फाड़ कर रोने लगी तो रामभरोसे ने उसे सान्त्वना देते हुये कहा—"रोती क्यों हो, मैंने जो किया था, उसी का फल भोग रहा हूँ।" जब वह फांसी पर लटकाने के लिये जाने वाला था और उसके पैर की बेड़ियां काट दी गयीं थीं तो उसने कहा—"बेड़ी कट गयीं हैं तो ज़रा मुझे स्नान कर लेने दो।" उसने स्नान किया। हनुमान जी का चना-बताशा प्रसाद खाया और फिर "जै सियाराम" करता वध-भूमि की ओर चला गया। जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट ने उसे "मारने" के पहले—तीन दिन पहले—उससे जब बातों ही बातों में पूछा कि तुमने अदालत के सामने सच सच क्यों नहीं कह दिया, जब तुम जेल में आकर इतने ईश्वर भक्त हो गये हो तो अब उससे क्या लाभ, तो उसने स्पष्ट उत्तर दिया था कि "फांसी का डर न होता तो मैं सब कुछ सच सच कह भी देता। आपने मुझे सुधरने का मौक़ा कब दिया कि राम भजन करने की ओर ध्यान जाता।"

---

1. Pioneer, Lucknow 21-6-53.

हमने दण्ड विधान को ऐसा क्लिष्ट तथा कठोर बना दिया है कि बिना झूठ बोले अदालत में गुज़ारा नहीं होता। जज भी, न्यायधीश भी जानता है कि अपराधी झूठ बोल रहा है, वकील झूठ बोल रहा है। दोनों तरफ़ से झूठी गवाहियां गढ़ी जा रही हैं। झूठ का अखण्ड राज्य है। मुद्दई मुद्दालेह दोनों ही एक दूसरे को झूठ से परास्त कर देना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि सत्य भी झूठ दिखाई पड़ता है। बिचारे न्यायाधीश को बड़ा परिश्रम करके सत्य की तह में बैठना पड़ता है और ऊब कर उसे वही करना पड़ता है जो "क़ानून कहता है।"

मृत्यु की प्रतीक्षा करने वाला व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति के अनुसार समय काटता है। फ्रांस की राज्यक्रांति में प्राणदण्ड की प्रतीक्षा करने वाले राजनैतिक बन्दी प्राणदण्ड का नाटक खेला करते थे—नक़ली "गिलोटिन" करते थे। सन् १६०५ में, अपनी लड़की की हत्या का अपराधी अलफ्रेड विलियम हैनकोक फांसी की प्रतीक्षा में समय काटने के लिये मक्खियां मारा करते थे। उन्होंने लाखों मक्खियों को मार डाला होगा। कुछ लोग मरने के बाद बदला लेने का कार्यक्रम बनाते थे। वे वादा करते थे कि परलोक का हाल इस लोक के लोगों को बतलावेंगे। अमेरिकन सिंगसिंग जेल में प्राण की प्रतीक्षा में बन्दी कैसालानो[1] को इस बात की चिन्ता थी कि उसके मरने के बाद उसका पच्चीस रुपये का ऋण कौन चुकावेगा! लोगों के प्राण लेकर डाँका डालने में उसे कोई संकोच नहीं होता था। पर निजी कर्ज़ा की उसे इतनी चिन्ता थी। उसके चरित्र का यह अङ्ग विचारणीय है।

आख़िर कुछ सोचकर ही सन् १७४० में प्रशा (जर्मनी) के

---

1. Meet the Murderer —Lawes.

महान शासक, फ्रेडरिक महान ने दण्ड के साथ हर प्रकार की यातनायें देना समाप्त कर दिया था। सन् १७६४ में बेकारिया ने बड़े अनुभव की बात लिखी थी कि "जब तक दोषी न प्रमाणित हो जाय, कोई भी व्यक्ति अपराधी नहीं माना जायगा, जब तक वह अपराधी नहीं माना गया, समाज का संरक्षण उसे प्राप्त होगा।" पर, सभ्यता का विकास न जाने कितने महापुरुषों को प्राणदण्ड की प्रथा ने खा डाला। "प्राचीन एथेंस के नवयुवकों को भ्रष्ट" करने के अपराध में सुकरात को विष का प्याला पीना पड़ा। ब्रूनों को "सत्य की रक्षा" के लिये लकड़ी के खम्भे में बांध कर जला दिया गया।

सत्य तथा सदाचार के नाम पर ऐसे अनगिनत प्राणदण्ड हो चुके हैं। ऐसा लगता है जैसे रूसा अराजकतावादी बाकुनिन की तरह हम भी चिल्ला रहे हों—"नाश करो—नष्ट करो।" ऐसा लगता है जैसे रूसी नेखाइव[1] के शब्दों में हम भी चीख रहे हों कि मानव की हत्या "समाज की भलाई के लिये है"—या जैसा कि गोल्डस्मिथ ऐसे कवि ने सन् १७६६ में कहा था—"प्राणदण्ड हत्या रोकने के लिये आवश्यक है।"

यदि अदालत भूल करे !

मूर्खता का युग अब चला गया है। हम सभी भूलों को सुधार सकते हैं पर जब किसी का प्राण ले लिया गया और बाद में न्याय की भूल मालूम पड़ी तब हम क्या करेंगे। ऐसी भूलों का पता देर में लगता है—जब वह अभागा अपनी मिट्टी भी संसार से समेट ले जाता है। किस में इतना साहस है कि कहे कि अदालत से भूल नहीं हो सकती।! सन् १६२४-२६ तक ब्रिटेन के गृह मन्त्री लार्ड ब्रैटफ़ोर्ड (स्वर्गीय) कहा करते थे कि

---

1. Nechaiev.

इसका कोई प्रमाण नहीं है कि अदालत से कभी ऐसी भूलें होती है। इसका उत्तर लन्दन के एक पत्र "सालिसिटर्स जर्नल" ने ४ जनवरी, १६३० के अपने अङ्क में दिया था। उसने लिखा था:—

"हमें ऐसे तर्क पर घोर आपत्ति है। हत्या के अपराध से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति में केवल एक ही व्यक्ति निश्चित रूप से सब जानता है—वह है अभियुक्त। वास्तविकता से केवल वही परिचित है। और लोग केवल निष्कर्ष निकाला करते हैं। यह निष्कर्ष अनिवार्य हो सकता है, यह अपराध पूरी तरह से साबित किया जा सकता है, फिर भी एक कमी रह जाती है—असली जानकारी की। और तब, इस बात की सम्भावना बचाने के लिये कि वह अभियुक्त निर्दोष न हो, उसे फांसी दे दी जाती है। उसके चले जाने के बाद उसको दोषी समझने की भूल को बतलाने के लिये क्या प्रमाण रह जावेगा?......इस समूचे विश्व में सबसे कठिन वस्तु है "नहीं" को सिद्ध करना। सबसे आलस्यमय तर्क किसी व्यक्ति के लिये है "नहीं" कर देना। गृह मन्त्री की इस "नहीं" से राहत मिलती है पर......न्याय का काम इन्सान ही करता है। भूल इन्सान से ही होती है। यह बड़ा ठोस तर्क है कि जब पूरी सावधानी बरत ली गई कि भूल की कम से कम सम्भावना रहे, तब हमको साहस पूर्वक उस न्याय को इस दुःख के साथ कार्य में परिणित करना चाहिये कि आखिर हम भूलों से परे नहीं हैं...यदि प्राणदण्ड के पक्ष में यह आवश्यक तर्क है तो इसी से प्राणदण्ड त्याज्य बन जाता है।"

लार्ड बकमास्टर ने सही कहा था कि मर जाने के बाद किसे फ़ुर्सत है कि पता लगाता फिरे कि वह अभागा दोषी था या निर्दोष! जब ऐसे अनेक अपराधों में जिनमें प्राणदण्ड नहीं होता,

भूल होती है तथा बाद में पता चलता है कि भूल हो गई तो फिर प्राणदण्ड के मुक़द्दमे में भी भूल होगी ही। न्यायालय दण्ड तथा सिनाख़्त की कार्यवाही पर बहुत निर्भर करता है पर इसमें भी तो भूल हो सकती है। ब्रिटिश न्यायाधीश श्री ऐवरी ने एक बार कहा था कि "केवल सिनाख़्त ही ऐसी चीज़ नहीं है जिसमें भूलें होती रहती हैं। रोज कोई न कोई किसी से भूल होती ही रहती है।"

इस विषय पर विचार करने के लिये ब्रिटिश हाउस आव् कामन्स की एक सेलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देते हुए डी० एन० प्रिट ने कहा था कि "मैं इसे असम्भव समझता हूँ कि कभी भूल न करने वाली वह अदालत है जिसमें एक-दूसरे से एकदम अपरिचित एक दर्जन आदमी एक कटघरे में बन्द कर दिये जाते हैं, उनके ऊपर अध्यक्ष के रूप में एक ऐसा विचारपति बैठता है जिसने शायद जीवन में कभी असामाजिक कार्यों के मुक़द्दमे न किये हों, और वे सब लोग बैठकर एक-दूसरे पक्ष की गवाहियों को काट रहे हों और उस बड़ी कठिन कहानी में, जिसमें किसी ने सच को छिपाया है—सत्य की तलाश कर रहे हों·······नाम दुहराने में तो बड़ा कष्ट होगा पर मैं दो तीन ऐसे मामले जानता हूँ जिसमें मुझे बड़ी चिन्ता थी—और वे बिचारे अब जीवित नहीं हैं।" प्रिट की गवाही का निचोड़ देते हुए सेलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट में लिखा है :—

"यदि प्राणदण्ड के पक्ष में अन्य तर्क अति बलवान न हों तो उसके विरुद्ध यह बड़ा गम्भीर तथा मज़बूत तर्क है कि न्याय की भूल से निर्दोष व्यक्ति को भी प्राणदण्ड मिल सकता है और वह फांसी पर लटकाया जा सकता है।"[1]

---

1. Parliamentary Select Committee (1932) Report, Page 224

इसीलिये डेन्मार्क के जेलों के प्रमुख सञ्चालक—डायरेक्टर जेनरल श्री एरिक कैम्पमान ने कहा था कि—"मैं प्राणदण्ड को उसी दृष्टि से देखता हूँ जिस दृष्टि से पुराने ज़माने की क्रूर दण्ड प्रणाली, कोड़ा लगाना तथा अन्य निर्दयतायें।"

इङ्गलैण्ड ऐसे देश में जहां पर दुबारा अपराध करने वाले या आदतन अपराधियों की संख्या इटली की तरह बहुत अधिक है, जहां पर कम से कम पाँच बार के सज़ायाफ्ता क़ैदी अत्यधिक संख्या में जेलों में पाये जाते हैं[1] वहां के लिये भी साहस पूर्वक डा० वार्टले का कथन है कि :—

"जब कि बिना किसी ख़तरे के लम्बी मीयाद की क़ैद को प्राणदण्ड के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है, प्राणदण्ड को समाप्त कर देना चाहिये। चिकित्सक अपने मरीज़ को मार डालना नहीं चाहता, वह चाहे कितना ही अवांछनीय मरीज़ क्यों न हो, और मेरा विचार है कि राज्य को अपने को उसी चिकित्सक के समान समझना चाहिये। प्राणदण्ड के स्थान पर लम्बी अवधि का कारावास इसलिये भी उपयुक्त प्रतीत होता है जब हम देखते हैं कि गत पचास वर्षों में एक दो ऐसे प्राणदण्ड हो चुके हैं जिनके लिये बहुत कम सबूत था। फांसी देना बहुत ही लाजवाब भयोत्पादक तथा निषेधात्मक दण्ड हो सकता है जैसा कि सर हैरी पोलांड तथा श्री जस्टिस (न्यायाधीश) मैककर्डी का मत है, पर इससे घोर अन्याय होने की भी सम्भावना है। यह तर्क कि प्राणदण्ड तथा कोड़ा लगाना बड़े सरल-सस्ते दण्ड हैं क्योंकि तुरन्त समाप्त हो जाते हैं, मेरी समझ में विचारणीय नहीं है।"[2]

---

1. Modern Approach to Criminal Law—Collaboration in Criminal Science—Page 472
2. Ibid—Page 64.

सन् १८६६ का जांच कमीशन

ऐसे सस्ते दण्ड के लिये ही जार्ज बर्नर्ड शॉ ने कहा था कि "कठिनाई पार करने का भयानक रूप से सस्ता तरीक़ा है मार डालना।"[3] सन् १८६६ में ब्रिटेन में प्राणदण्ड के सम्बन्ध में एक जांच कमीशन बैठा था। इसने अपनी रिपोर्ट में इस विषय पर विचार करने की अच्छी सामग्री प्रस्तुत कर दी है। सन् १८६६ की वैज्ञानिक जानकारी और आज की वैज्ञानिक जानकारी में बड़ा अन्तर है। मन और बुद्धि के सम्बन्ध में उस समय की और आज की जानकारी में बड़ा अन्तर है। इसकी सबसे अच्छी मिसाल है "पागलपन" के सम्बन्ध में क़ानून। हमारा दण्ड विधान ब्रिटिश दण्ड विधान के अनुसार है। अतएव उसका दोष हमारे यहां भी लागू होता है। ब्रिटेन का पागलपन सम्बन्धी क़ानून सन् १८४३ का बना है। आज तक उसमें संशोधन नहीं हो सका। इसीलिये, उसके दोष के कारण जांच करने पर मालूम हुआ है कि सन् १६२७–३१ के बीच में वहां जिन ५० व्यक्तियों को फांसी दी गयी थी उनमें से आधे अपराधी या तो निराश प्रेमी थे या कामवासना-जन्य अपराध के दोषी थे। इन पचास अभागों में सत्रह ऐसे थे जिनके मस्तिष्क में किसी न किसी प्रकार का उन्माद था। या तो उनको मिर्गी की बीमारी थी या सर में गहरी चोट लग चुकी थी। कुछ के निकट सम्बन्धी पागल होकर पागलख़ाने में भरती हो चुके थे और मर चुके थे। एक को पागलपन का प्रमाण पत्र भी मिल चुका था पर उस प्रमाण-पत्र पर कार्यवाही नहीं हुई। सन् १८४३ के दोषपूर्ण क़ानून के कारण ऊपर लिखे पचास मरने वालों में से कम से कम १८ की रक्षा न हो सकी। दोष क़ानून का था, प्राण मानव ने

---

3. Crude Criminology-Standard Edn. Page 202

खोया। यदि वे जीवित रहते तो समाज का कदापि अकल्याण न होता। ध्यान रहे कि प्राय: हत्यारा आदतन या पेशेवर अपराधी नहीं हुआ करता।[1]

पागलपन का प्रश्न सन् १८६६ के ब्रिटिश कमीशन के सामने पेश हुआ था। इस कमीशन का संसार भर के दण्ड विधान पर प्रभाव पड़ा था। इसने अपनी प्रश्नावली यूरोप के सभी देशों को, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका को भी भेजा था। इसके अध्यक्ष थे रिचमण्ड के ड्यूक तथा सदस्यों में जान ब्राइट ऐसे प्रतिभाशाली लोग थे। उन्नीसवीं सदी के पिछले पचास वर्षों में, विशेषकर सन् १८३६ में दण्ड विधान की पुनरावृत्ति के सम्बन्ध में देश में जो बेचैनी फैली हुई थी, उसका निचोड़ इस कमीशन के सामने आ गया। इसने भ्रूण हत्या, गर्भपात या बाल हत्या को साधारण हत्या के अपराध की श्रेणी से निकाल दिया। इसने "पूर्व विचार करके की गयी हत्या, यकायक उत्तेजना में की गई हत्या, बाल हत्या तथा उन्माद" इन सभी पहलुओं पर विचार कर लिया था। कमीशन के सामने जो गवाहियां हुई थीं वे अध्ययन तथा पठन की महत्वपूर्ण सामग्री है। उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिये। पढ़ लेना चाहिये। गवाहियों के आधार पर ही यह सिद्ध हो गया था कि भ्रूण हत्या, गर्भपात या बाल हत्या के लिये माता या पिता या प्रेमी को प्राणदण्ड देना जन-समूह को भी स्वीकार नहीं था। समाज ने अनैतिक गर्भ धारण या अनैतिक विषय-वासना को प्राण लेने का विषय बनाना अस्वीकार कर दिया था। संयुक्तराज्य अमेरिका के अन्तर्गत प्रदेश न्यू इङ्गलैंड के प्रधान न्यायाधीश श्री बिगेलो ने इस कमीशन को लिखा था कि अनैतिक व्यभिचार

1. The Law-breaker—Page 261

या प्रसङ्ग वहीं होता है जहां पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण विवाह की सुविधा नहीं होती। चूंकि ऐसी सुविधा संयुक्तराज्य में प्राप्त है अतएव वहां पर ऐसी हत्यायें होती ही नहीं। श्री बेगेलो के तर्क का निचोड़ है आर्थिक दुरवस्था। आर्थिक आसामञ्जस्य के कारण ही ज़्यादातर अनैतिक आचार होते हैं। अस्तु, सन् १८६६ के कमीशन ने इस विषय को समाप्त कर दिया और स्टेफ़न ने सन् १८७२ से चेष्टा करते करते सन् १८७८ में दण्ड विधान को काफ़ी ठीक रास्ते पर लगा दिया। तब तक यह अन्ध-विश्वास भी समाप्त हो गया था कि ऐसे क़ानूनों में नर्मी करने से बाल-हत्या गर्भपात आदि बढ़ेंगे। अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि ऐसी बात कदापि नहीं है।

सेलेक्ट कमेटी के सामने जो मसले पेश थे, उनमें दोनों पक्ष के लोगों ने अपने पक्ष का समर्थन करने में कुछ उठा नहीं रखा। बैरन ब्रेमवेल सुधार के कट्टर विरोधी थे। उनका ऐसा विश्वास था कि इससे समाज की गहरी हानि होगी। फिर भी उनके पक्ष का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और सन् १८७१ में कम से कम बाल हत्या के विषय में क़ानून काफ़ी बदल गया। बाल हत्या के अपराधकी दो श्रेणियां हो गयीं—सात दिन तक के बच्चे का माता के द्वारा मारा जाना या (२) बच्चे को घायल करना। पहले अपराध के लिये क़ैद की सजा कुछ अधिक होती थी।[1] इस कमीशन (सेलेक्ट कमेटी) के बाद ही सन् १८६७—६८ में वालपोल ने दण्ड विधान में प्राणदण्ड सम्बन्धी संशोधन पेश किये। वर्षों तक संशोधन होते रहे और ब्रिटिश न्याय के इतिहास में सन् १८३० से १८७० के बीच का युग दण्ड-विधान के संशोधनों का युग

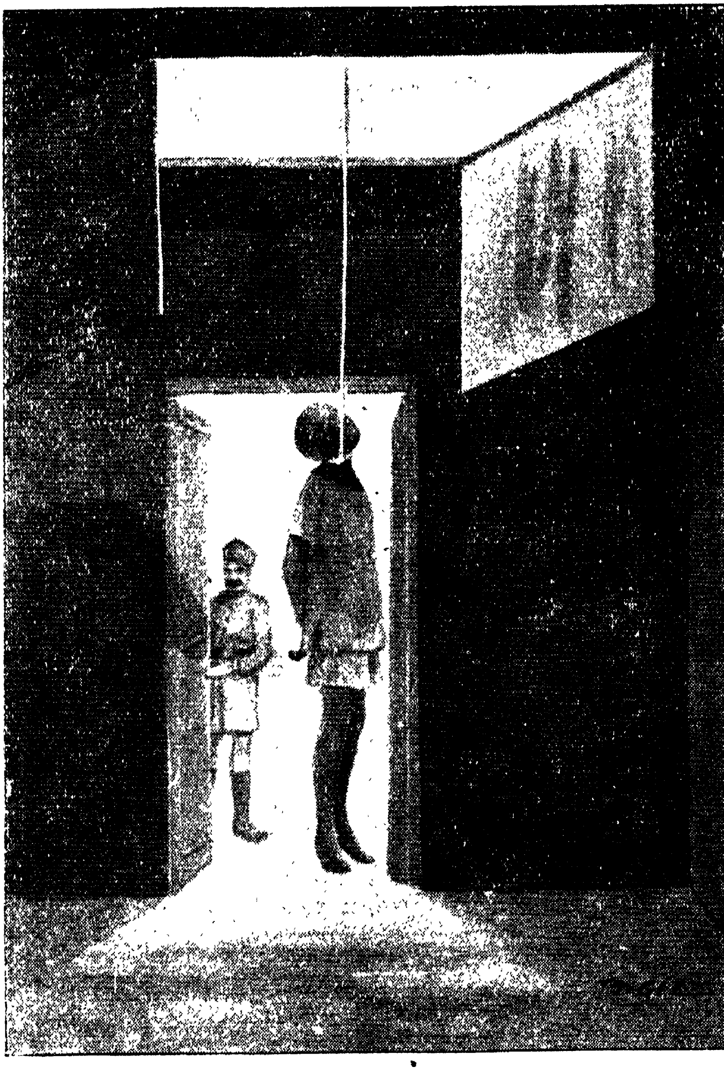
1. The Modern Approach to Criminal Law—Child Killing in England—Page 325

माना जाने लगा। इसी बीच में सन् १८६१ का वह कानून पास हुआ था जिसके अनुसार न्यायाधीशों से यह अधिकार ले लिया गया था कि वे प्राणदण्ड देने पर भी सज़ा को केवल काग़ज़ पर दर्ज कर लें, कार्य रूप में परिणत न करें। इस प्रकार अनेक अपराधों में न्यायानुसार प्राणदण्ड देने पर भी वे दण्ड आजन्म कारावास के रूप में ही रहे। न्यायाधीशों का यह अधिकार सन् १८६१ के क़ानून के अनुसार गृह मन्त्री को मिल गया[1] और आज तक दण्ड को कार्यान्वित करने देना या न देना उसके अधिकार की बात है।

अस्तु, सन् १८७० तक अधिकांश अपराधों के लिये प्राणदण्ड समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर आजन्म कालापानी कर दिया गया। पर, सन् १८५३ से १८६४ के भीतर काला पानी भी समाप्त हो गया। लम्बी क़ैद की सज़ा रह गयी। आज इङ्गलैंड में केवल चार प्रकार के अपराधों के लिये प्राणदण्ड दिया जा सकता है—हत्या, कतिपय राजद्रोह, कतिपय सामूहिक डाँका तथा सम्राट् के जहाज़ों में आग लगाना। फाँसी लटकाने के अलावा अङ्गभङ्ग तथा कोड़ा लगाना भी दण्डविधान में था। सन् १६४८ के क़ानून से कोड़ा समाप्त हो गया पर सम्राट् सर काटने की सज़ा (राजद्रोह में) दे सकता है।[2] कोड़ा तथा सर काटना या सामूहिक डाँके आदि का दण्ड कार्यान्वित नहीं हुआ पर फाँसी काफ़ी होती है। फाँसी का तरीक़ा बदल गया है। डबलिन के प्रोफेसर हॉटन की ईजाद के बाद दम घोंट कर मारना बन्द कर दिया गया है। इङ्गलैंड तथा भारत में एक ही ढङ्ग की फाँसी होती है। इसका

---

1. Offences against Persons Act, 1861
2 54, George III.



भारत में आजकल की फाँसी

(पटरा झूल गया--अभागा नीचे गिरा । जीवन लीला समाप्त)

वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। गर्भवती माता को[1] या १८ वर्ष से नीचे की उम्र वाले को फाँसी नहीं दी जा सकती।

सुधार की चर्चा

मानव समाज ने बहुत कुछ खोकर, सहकर, अनुभव से सीखा है। अब हमने समझ लिया है कि यन्त्रणा तथा यातना उसी पीड़ा का नाम है जो हम दूसरों को स्वयं देते हैं अन्यथा राज्य तथा सभ्यता ने इसे दण्ड की परिधि में लाकर उसे यन्त्रणा माना ही नहीं है। क़ानूनी परिभाषा के अनुसार पुराने ज़माने में यन्त्रणा उस निर्दयता को कहते थे जिसके द्वारा राज्य अपने निर्धारित अधिकारियों से, न्याय विभाग के आदेश के अनुसार लोगों को पीड़ा देता था।[2] आज मानव अधिक उदार और नर्म हो गया है। आज वह समझने लगा है कि निर्दयता का कोई कारण नहीं है—इसलिये कि जेल में सज़ा काटने वाला अपराधी साधारण शान्तिप्रिय नागरिक से मानसिक या शारीरिक दृष्टि से भिन्न नहीं है, कोई अन्तर नहीं है। जेल में या जेल के बाहर रहने का एक बड़ा कारण हो सकता है—जिसके पास पैसा है, जो अच्छे वकील रख सकता है, क़ानून को तोड़ मरोड़ कर अपने पक्ष का बना सकता है, वह सब कुछ अपराध करके भी निर्दोष बन जाता है और जो ग़रीब है, क़ानून के साथ खेलवाड़ करने वाला वकील नहीं रख सकता

---

1. Expectant Mothers Act., 1931
2. The History of Torture Throughout the Ages—Scott.
3. Dr. Amos Squire—Physician of Sing Sing Prison, U. S. A.

उसके गले में फन्दा लग जाता है। वह संसार से विदा हो जाता है। इसलिये यदि प्राणदण्ड देने से समाज के लिये भयङ्कर सिद्ध होने वाले व्यक्ति को सदा के लिये समाप्त कर उसका ख़तरा दूर कर दिया जाता हो ऐसी बात भी नहीं है। पैसे के बल पर असली अपराधी समाज के लिये ख़तरा बना रहता है, वह निर्द्वन्द्व घूमा करता है। इसलिये जो लोग समाज की रक्षा के विचार से इस प्रथा को रखना चाहते हैं, वे मूर्खता की बात कहते हैं। ऐसी मूर्खता कर्नल रूज़वेल्ट ने की थी। अपने आत्मचरित में उन्होंने लिखा है कि "मैं प्राणदण्ड समाप्ति के सम्बन्ध में तर्क सुनने को तैयार हूँ—पर मैं उनसे प्रभावित नहीं हुआ हूँ।" रूज़वेल्ट इसलिये प्रभावित नहीं हो सकते कि वे पैसे द्वारा क़ानून की हत्या का मर्म नहीं समझते।

ऐसी बातें अनुभव से ही सीखी जाती हैं। सन् १६४० में ही इङ्गलैण्ड ने "यन्त्रणा" को समाप्त कर दिया था पर ज़िन्दा जलाना क़ायम था। ६०–७० वर्ष बाद उसे निन्दनीय समझा गया। प्रशा (जर्मनी) के शासन फ्रेडरिक महान् ने सन् १७४० में "यन्त्रणा" समाप्त कर दिया। इटली में १७८६ में, फ्रान्स में वाल्टेयर के प्रयत्न से १७८९ में, रूस में १८०१ में, स्पेन में १८१२ में दण्ड के साथ यन्त्रणा देने की प्रथा का अन्त हुआ। रूस में १८६३ तक क़ैदियों को "दागने" की प्रथा थी। स्कॉटलैण्ड में सन् १८१७ तक स्त्रियों को कोड़े से पीटते थे। सन् १८२२ में ग्लासगो की एक स्त्री को नशे में चूर रहने के अपराध में कोड़ा लगाया गया था। सन् १८२३ में, एक ही वर्ष में इङ्गलैण्ड में ६६५६ व्यक्तियों को, जिनमें काफ़ी संख्या में स्त्री तथा बच्चे शामिल थे कोड़े लगाये गये थे। इङ्गलैण्ड में सन् १६०८ में जब यह नियम

1. Man's Judgement of Death—Lawes.

बन गया कि १४ वर्ष की उम्र तक के लड़कों को प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता तथा ७ वर्ष तक की उम्र के लड़कों को "किसी भी अपराध" का दोषी नहीं ठहराया जा सकता तो वहां के दक़ियानूसी लोगों ने समझा कि अपराधों में इतनी वृद्धि होगी कि रास्ता चलना कठिन हो जावेगा। जब अनुभव से यह सब निर्मूल भय प्रमाणित हुआ तो अपराध-शास्त्री को और कुछ बातें कहने का साहस हुआ।

अन्य देशों में

दण्ड विधान में सुधार के लिये केवल थोड़ा सा साहस चाहिये। फ़िनलैण्ड में सन् १८२८ से कोई प्राणदण्ड नहीं हुआ। क्या वहां पर हत्या और डकैती बहुत बढ़ गये हैं? सन् १९१८ में फ़िनलैण्ड ने कुछ कम्यूनिस्टों को राजद्रोह में प्राणदण्ड दिया था। सन् १९४५-४६ में भी कुछ ऐसे दण्ड दिये गये पर हत्या या डकैती के लिये ऐसा दण्ड नहीं दिया गया। सन् १८६३ से बेलजियम ने प्राणदण्ड देना बन्द कर दिया है। हालैण्ड में सन १८७० में यह प्रथा समाप्त कर दी गयी। इटली में सन् १८७२ में न्यायशास्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ था जिसने प्राणदण्ड समाप्त करने की मांग की थी। सन् १८७९ से १९१९ तक वहां एक भी फाँसी नहीं हुई। सन् १९२१ में स्वेडन में यह प्रथा समाप्त कर दी गयी। पर किसी भी देश में हत्यारों की बाढ़ नहीं आई। १८६४ में रूमानियां ने सन् १८६७ में पुर्तगाल ने, तथा १९०५ में नार्वे ने इसे समाप्त कर दिया। किन्तु, किसी को भी हानि का अनुभव नहीं हुआ।[1].

---

1. A History of Capital Punishment—John Lawrence.

प्राणदण्ड का इतिहास लिखते हुए लारेंस ने भिन्न देशों में प्रथा की समाप्ति का जो वर्ष दिया है वह श्री कालवर्ट द्वारा दिये गये वर्ष से थोड़ा भिन्न है। उनका कहना है कि उत्तरी पश्चिमी यूरोप तथा इङ्गलैण्ड के प्राय: सभी पड़ोसियों के यहां प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त हो गयी है। "हालैंड में सन १८६० से, बेल्जियम में १८६३ से, नार्वे में १८७६ से, डेन्मार्क में १८६२ से, स्वेडन में १६१० से कोई प्राणदण्ड नहीं हुआ है। इटली में १८८६ से यह प्रथा समाप्त कर दी गई थी। पर १६३० में कुछ अंशों में फिर से लागू की गई। स्विटज़रलैंड के अनेक नगरों में १८७४ से कोई प्राणदण्ड नहीं हुआ। अब तो संघीय विधान ने उसे एकदम समाप्त कर दिया है। जर्मनी में (राजनैतिक अपराध छोड़कर) विरले ही प्राणदण्ड होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के आठ प्रदेशों में प्राणदण्ड पूरी तरह समाप्त कर दिया गया है और वहां के हत्या के आंकड़े प्राणदण्ड देने वाले प्रदेशों से तुलना में कहीं कम पड़ते हैं।...जो लोग प्राणदण्ड को समाप्त करना चाहते हैं वे इसलिये ऐसा नहीं कहते कि वे उसे "भयोत्पादक-निषेधात्मक" दण्ड नहीं मानते बल्कि इसलिये कि जिन देशों ने इसे समाप्त कर दिया है तथा इसके स्थान पर जो भी दण्ड निर्दिष्ट किया है वह उतना ही प्रभावशाली सिद्ध हो चुका है। इन देशों में कहीं भी हत्या की संख्या में वृद्धि नहीं हुई।"[1]

ब्रिटेन में प्राणदण्ड के सम्बन्ध में जांच करने के लिये एक कमीशन सन् १६२७ में बैठा था। इसके सम्मुख गवाही या बयान देते हुये बेल्जियम सरकार की ओर से कहा गया था कि "इस दण्ड को समाप्त करने के बाद से हत्या के अपराध में कोई वृद्धि नहीं हुई है। हमने यह उपदेश ग्रहण किया है कि मानव जीवन

1. The Law-breaker--Calvert—Page 264

के प्रति आदर पैदा कराने के लिये यह ज़रूरी है कि क़ानून के नाम पर प्राण हरना बन्द किया जाय।" डेन्मार्क के जेलों के डायरेक्टर जेनरल श्री एरिक कैम्पमान ने कहा था कि "मैं प्राणदण्ड को प्राचीन काल के कोड़े लगाने तथा अन्य यातनाओं के समान बर्बर प्रथा समझता हूँ। ...हमारे देश में इस दण्ड के बन्द करने के बाद से हत्याओं में कमी हो गई है।" नार्वे की सरकार का ख़रीता था कि "अनुभव से पता चला कि प्राणदण्ड बन्द करने से हत्या के अपराध में कोई वृद्धि नहीं हुई है।" स्वेडिश सरकार ने स्वीकार किया कि "राज्य की रक्षा के लिये यह दण्ड आवश्यक नहीं है।" सन १६३० से राजनैतिक अपराधों के लिये प्राणदण्ड को पुन: लागू करने वाले इटालियन राज्य के क़ानूनी सलाहकार डा० डिगली का वक्तव्य है कि "निजी हत्याओं के लिये यह दण्ड अनावश्यक है।"

ब्रिटेन में सन् १८६६ की सेलेक्ट कमेटी के बाद, प्राणदण्ड पर जांच करने के लिये सबसे महत्वपूर्ण कमेटी सन १६२७ में बैठी थी। इस कमेटी ने बहुत परिश्रम किया और सन १६३० में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। हर प्रकार की गवाही लेने के बाद यह इस परिणाम पर पहुँची कि 'प्रयोगात्मक रूप से पाँच वर्ष के लिये प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त की जावे।" यह निश्चय सर्व-सम्मत नहीं था, बहुमत से था। ब्रिटिश पार्लामेण्ट ने इस रिपोर्ट को इसलिये नहीं माना कि वह "सर्व सम्मति" नहीं थी। यह एक बहाना मात्र था। यदि सर्व सम्मति की बात थी, यदि सर्व सम्मति द्वारा ही दण्ड विधान में संशोधन हो सकता था तो आज तक ब्रिटेन में ६ वर्ष के बच्चे फाँसी पर लटकते होते।[1]

1. Capital Punishment in the Twentieth Century E. Roy Calvert—4th Edition.

जो हो, इस कमेटी के निर्णय या निचोड़ का विश्व पर प्रभाव पड़ा। इसने यह स्वीकार किया है कि "हमारे सामने जो गवाहियां गुज़री हैं, उनसे साफ़ ज़ाहिर है कि जिन देशों ने प्राणदण्ड समाप्त कर दिया है, वहां पर सशस्त्र या घातक हथियार वाले डँकैतों में कोई वृद्धि नहीं हुई है। विदेशों की स्थिति का लम्बा अध्ययन करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इस देश में प्राणदण्ड समाप्त किया जावे। इससे समाज की रक्षा, उसकी सम्पत्ति या जीवन पर कोई ख़तरा आने वाला नहीं है।"

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज़िद के कारण चाहे कोई माने या न माने, प्राणदण्ड के विरोधी सभी हैं। सभी अनुभव करते हैं कि इस प्रथा से लाभ नहीं है, एक आतङ्क ज़रूर है। इसे बने रहना चाहिये। अन्यथा प्राणदण्ड इतना कम क्यों दिया जाता है। फ्रांस में चार वर्षों में यानी सन् १६१३, १६१६, १६२० तथा १६२१ में ५,७१६ हत्यायें हुईं। पर १५४ को ही प्राणदण्ड सुनाया गया और इनमें भी वास्तव में केवल ४८ को "गिलोटिन" (गला काटना) हुआ। यानी ३१ प्रतिशत दण्डित ही मारे गये। इङ्गलैंड में प्राणदण्ड प्राप्त का ५३ प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में ६० प्रतिशत को ही अन्तिम दण्ड मिलता है।[1] शेष को माफ़ी या जेल मिलता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १६१२-१५ के बीच के वर्षों में औसतन ३,७१० हत्यायें प्रति वर्ष होती थीं जिनके कारण ६० को प्राणदण्ड मिलता था पर ४३ को ही मारा जाता था। यह संयुक्त राज्य के २३ राज्यों का आंकड़ा है। सन् १६१७में संयुक्त राज्य में फ़ी एक लाख व्यक्ति पीछे सात हत्यायें होती थीं। प्रति ७० हत्या

---

1. Man's Judgement of Death—Lawes.

पीछे एक व्यक्ति को प्राणदण्ड होता है। इन आंकड़ों से यह दलील कितनी लचर मालूम होती है कि भय पैदा करने के लिये प्राणदण्ड आवश्यक है।[2]

केवल न्यूयार्क राज्य में सन् १६१२–२१ के बीच में ४,६२६ हत्यायें हुईं जिनसे १६३ को प्राणदण्ड मिला। ११७ मारे गये। इसी अवधि में इङ्गलैंड तथा वेल्स में २६६८ हत्यायें हुईं, २३१ प्राणदण्ड हुए, १२५ फाँसी लटकाये गये। और जिन देशों में प्राणदण्ड नहीं है, कुछ ही वर्ष पूर्व वहां पर परिस्थिति थी वह नीचे दी जाती है:—

१—इटली	प्रति एक लाख व्यक्ति पीछे	३.६५ हत्या
२—स्विटज़रलैंड	,,	०.२६
३—हालैंड	,,	०.८२
४—बेल्जियम	,,	०.३१
५—संयुक्त राज्य अमेरिका	,,	७.२

(१८ वर्ष पूर्व)

इस सम्बन्ध में ताजे आंकड़े हम आगे चलकर देंगे। यहां पर केवल कुछ तुलनात्मक आंकड़ा दे दिया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १६४६ में रोज २६३ व्यक्ति या तो मारे जाते थे (दुर्घटनाओं द्वारा नहीं—मार डालने की नीयत से मारे जाते थे) या हत्या होती थी, १६२ डँकैती पड़ती थी, ११०० चोरियां (सेंध वाली) होती थीं तथा ४४० मोटरें चोरी जाती थीं। यानी हर १८ सेकेण्ड पर एक अपराध होता था। ग्रेट ब्रिटेन में सन् १६४८-४६ में. बड़े नगरों में प्रति १०,००० की आबादी पीछे लिवरपूल में २४८.२, मैंचेस्टर में २३६ और ब्लैकपूल में २३०.४ अपराध होता था। सन् १६४६ में ब्रिटेन में हिंसात्मक अपराधों की संख्या

2. Capital Punishment in United States—By Raymond T. Bye.

४६५८ थी इनमें से ८०४ को कोड़ा लगाने का दण्ड मिल सकता था। पर, केवल ३३ को यह सजा दी गई। सन् १६४६ में ६०३३ हिंसात्मक अपराध हुए जिनमें से ८६० को कोड़े लग सकते थे पर ३५ को ही यह दण्ड मिला। सितम्बर १६४८ में "क्रिमिनल जस्टिस ऐक्ट" पास हुआ था। इसके अनुसार कोड़ा लगाना या शारीरिक दण्ड बन्द कर दिया गया था। इस क़ानून के पास होने के एक वर्ष के बाद अनुमान लगाया गया कि हिंसात्मक अपराधों में २५.७६ प्रतिशत की वृद्धि हुई, पर कोड़ा लगने वाले अपराधों में केवल १.६३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। कोड़ा लगने की प्रथा बन्द करने से क्या कोई हानि हुई! कदापि नहीं। अपराधों की चतुर्दिक् वृद्धि में पौने दो प्रतिशत की वृद्धि कोई महत्व नहीं रखती। सन् १६२० में ब्रिटेन में १,१३,६३६ अपराध हुए थे। सन् १६५० में ५,२५,००० अपराधी थे।[1]

ऊपर लिखे प्रमाण हमें प्रोत्साहित करते हैं कि हम भी इस प्रथा को समाप्त करें। हमारे भारतीय संघ के अन्तर्गत शिमला की पहाड़ियों में बिलासपुर प्रदेश में सन् १६४२ से १६५२ तक २४ हत्यायें हुईं। किन्तु, एक भी व्यक्ति को अदालत से न तो प्राणदण्ड मिला और न फाँसी पर लटकाया गया। सन् १६४६ को छोड़ कर, जिस साल पाँच हत्यायें हुईं थी, किसी भी वर्ष दो-तीन से अधिक हत्या नहीं हुई।[2] जब प्राणदण्ड का भय नहीं

---

१. ये आंकड़े Journal of Criminal Law, U. S. A, के १९५० के अंकों से प्राप्त किये गये हैं।

2. Report of Superintendent of Police, Bilaspur (Simla Hills) Dated 12-6-1953
सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार बिलासपुर की आबादी १,२६ ००० है।

था तो ऐसा क्यों हुआ ? प्राणदण्ड न देने से राज्य की क्या हानि हुई ?

भारतीय संघ में आसाम-स्थित मणिपुर राज्य (जन संख्या ५,७८,०००)काफ़ी महत्वपूर्ण है। जून, १६५३ के अन्तिम सप्ताह में प्राप्त आंकड़ों से पता चलता है कि सन् १६४२ से १६५२ के बीच में वहां ४६ हत्यायें हुईं। इनमें से १६ हत्यायें केवल सन् १६४४ के उन अशान्त दिनों की है जब जापान की सेना आसाम का दरवाज़ा तोड़ना चाहती थी। सन् १६४६, ४८, ४६ में एक भी हत्या नहीं हुई। सन् १६५०, ५१, ५२ में क्रमशः ७, ६, ६ हत्यायें हुईं। किन्तु, ग्यारह वर्षों में, ४६ हत्याओं पर, दौरा जज के इजलास से केवल ४ हत्या के लिये प्राणदण्ड की सज़ा मिली। अपील करने पर हाईकोर्ट ने केवल एक ही सजा बहाल रखी, और वह भी सन् १६४३ की बात है। सन् १६४३ में राज्य में एक व्यक्ति को फाँसी दी गई। तब से आज तक वहां का फाँसी घर सुनसान पड़ा हुआ है। क्या हानि हुई राज्य की ?

इसके विपरीत भारतीय संघ के तीन प्रमुख राज्यों की दशा पर विचार कीजिये। सन् १६५० में उत्तर प्रदेश में २१ व्यक्ति फाँसी पर लटकाये गये थे। सन् १६५१ में २४ तथा १६५२ में २३ को फाँसी लगी। पश्चिमी बङ्गाल तथा पञ्जाब (भारत) का सन् १६५० का आंकड़ा प्राप्त है। इन दोनों प्रदेशों में क्रमशः ३ तथा १६ व्यक्तियों को फाँसी लगी। समाचार पत्र के पाठक जानते होंगे कि इन तीनों प्रदेशों में हत्या तथा डँकैती का अपराध उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

जब प्राणदण्ड से उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता तो प्राण लेने से क्या लाभ ! किसको लाभ है ? सन् १८६५ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका के मजदूर संघ ने इसे "बर्बर तथा घृणास्पद" प्रथा

कह कर तिरस्कृत किया था। आज भी हम इस घृणास्पद चीज़ को पकड़े हुए हैं। आख़िर क्यों ? विश्वविख्यात ब्रिटेन का ख़ुफ़िया विभाग स्कॉटलैंड यार्ड के सर बेसिल टॉम्सन ने कहा है कि "बिना किसी जेल का प्रधान बने हम यह नहीं महसूस कर सकते कि हत्या करने वाला स्वभाव से बिरले ही अपराधी होता है।" संसार के जेलों के अधिकांश प्रधानों की सम्मति है कि आजन्म क़ैद की सज़ा भोगने वाले क़ैदी बहुत ही भरोसे के तथा विश्वसनीय होते हैं।[1] प्रायः आजन्म क़ैद प्राणदण्ड वाले अपराधी को मिलता है।

इन्हीं सब पहलुओं पर विचार करके संयुक्त राज्य अमेरिका के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की सम्मति है कि इस प्रथा का अन्त कर दिया जावे। कुछ सम्मतियां नीचे दी जा रही हैं :—

१. ओहिओ के गवर्नर डेविस—प्राणदण्ड के स्थान पर बीस वर्ष की मीयादी क़ैद कर दी जाय।[2]
२. ऐरिज़ोना के गवर्नर हंट—इससे (प्राणदण्ड से) किसी का कोई लाभ नहीं है।
३. कोलोराडो के गवर्नर स्वीट—इससे हत्यायें कम नहीं होती।
४. गवर्नर ग्रोज़बेक—राज्य को हत्या करने का कोई अधिकार नहीं है।
५. इडाहो के प्रधान सरकारी वकील कोनर—इस प्रथा में कोई गुण नहीं है।
६. जेल सुपरेण्टेण्डेण्ट टाइनन—इससे अपराध कम नहीं होता।
७. जेल सुपरेण्टेण्डेण्ट हर्लबेरी—मैं यह दण्ड नहीं रखना चाहता।

---

1. Man's Judgement of Death—Lawes.
2. Death by Law—Harry L. Davis.

८. अन्तर्राष्ट्रीय जेल कमीशन के श्री बी० ओगडेन चिशलोम—आदमी की जान लेने से कोई लाभ नहीं।

९. चार्ल्स बी० गालवर्थ—इसका प्रयोग हो चुका, यह असफल रहा, यह दण्ड समाप्त होगा।

इस प्रथा का जेल जीवन पर कितना बुरा असर पड़ता होगा—जब एक क़ैदी को फाँसी पर लटकाने के लिये ले जाते होंगे तो दूसरे क़ैदियों पर क्या असर होता होगा। हत्या के अपराधी को फाँसी पर लटकाने वाला स्वयं अपनी मनुष्यता खो बैठता है। न्यूयार्क के जल्लाद ने सन् १९२९ में आत्म-हत्या कर ली। विक्टोरिया के एक जल्लाद ने एक स्त्री अपराधिनी को फाँसी देने के बजाय अपना गला काट लिया। इङ्गलैंड में २०४ व्यक्तियों को फाँसी पर लटकाने वाले जल्लाद एलिस ने अपने स्त्री-पुत्र की हत्या करके अपनी आत्म-हत्या करने का प्रयत्न किया था। ऐसी घटनाओं से प्राणदण्ड से किस पर प्रभाव पड़ता हुआ माना जाय!

अनैतिक

श्री कालवर्ट ने सत्य लिखा है:—

"हमने देख लिया कि भय पैदा करने या रोक-थाम की दृष्टि से प्राणदण्ड अनावश्यक है···यह उन सिद्धान्तों के विपरीत है जिनके द्वारा क़ानून तोड़ने वालों के प्रति राज्य को व्यवहार करना चाहिये। समाज को चाहिये और सम्भव है कि प्राचीन प्रतिशोधन तथा सन्तोष के विचारों से (सिद्धान्तों से) बिना प्रभावित हुए अपनी रक्षा का प्रबन्ध करे। अधिकांश मामलों में यही कार्य सुधार से हो सकता है। सेलेक्ट कमेटी (१९३०) के सामने जिन जेल अधिकारियों ने गवांही दी उनका कहना था कि हत्या के जिन अपराधियों को क्षमा मिल जाती है वे ही अच्छे नागरिक नहीं बन जाते बल्कि जिनको मार दिया गया, वे भी

अच्छे व्यक्ति बन जाते, यदि उनको जीवित रहने दिया गया होता। यदि कुछ थोड़े से व्यक्ति स्थायी रूप से समाज के लिये आतङ्क बन सकते हैं तो दुर्बल मस्तिष्क तथा पागल लोगों के उपचार का प्रबन्ध करके समाज ने क़ानूनन हत्या के अलावा और भी उपाय अपनी रक्षा के लिये सोच रखा है।...हम सही दिमाग़ वाले हत्यारों को मार डालते हैं और विक्षिप्त (ग़ैर-सही दिमाग़ वाले) हत्यारों को जीवित रहने देते हैं। किसी राष्ट्र की सभ्यता की सीमा की परख उसकी शक्ति या सम्पत्ति से नहीं हो सकती पर उसका अनुमान इस से लगेगा कि वह मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिये कितना अवसर प्रदान करता है...हमारे दण्ड-विधान में प्राणदण्ड का रखना अपराध के उपचार के सम्बन्ध में सही विचारधारा में रुकावट पैदा करता है। हमारी दण्ड प्रणाली के विकास के लिये इसे समाप्त करना नितान्त आवश्यक है।"[1]

ब्रिटिश पार्लामेण्ट में

प्रथम महायुद्ध के बाद इङ्गलैंड में जेलों में सुधार का आन्दोलन काफ़ी प्रबल हो उठा। उसके साथ ही प्राणदण्ड का विरोध भी बढ़ने लगा। हमने अपने इस अध्याय में रॉय कालवर्ट का कई बार उदाहरण दिया है। कालवर्ट ने इस सम्बन्ध में बीसवीं सदी में सबसे अधिक काम किया है। भिन्न देशों की स्थिति का अध्ययन करने के बाद उन्होंने इस विषय को काफ़ी ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया है। इङ्गलैंड में प्राणदण्ड समाप्त कराने के लिए एक बलशाली संस्था भी स्थापित हो गई।[2] काल-

---

1. The Law-breaker—Calvert. Page 279-80
2. The National Council for the Abolition of Death Penalty.

वर्ट आदि के अथक आन्दोलन के कारण ही सन् १६२७ में वह सेलेक्ट कमेटी बैठी थी जिसकी रिपोर्ट सन् १६३० में प्रकाशित हुई थी। इसका जिक्र हम सविस्तार कर आये हैं। इस कमेटी की रिपोर्ट पर कुछ नहीं हुआ। सन् १६४८ में फिर यह मामला उठा। उस समय ब्रिटिश समाजवादी दल के वे महारथी अधिकारारूढ़ थे जिनको इस प्रथा से मतभेद था, जो कई बार अपने कारखानों में प्राणदण्ड को अनावश्यक बतला चुके थे। एटली, बेविन, मौरीसन, क्रिप्स सभी प्राणदण्ड के विरोधी थे। निरतर एदे उस समय गृहमन्त्री थे।

सर अर्नेस्ट गोवर की अध्यक्षता में इस विषय पर विचार करने लिये एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ। इस कमीशन को केवल वस्तुस्थिति पर रिपोर्ट देना था। पक्ष या विपक्ष में कुछ नहीं कहना था। हाउस आव कामन्स में तथा हाउस आव लार्डस् (साधारण सभा तथा सरदार सभा) में अप्रैल मई, सन् १६४८ में इस विषय में काफ़ी गरम बहस रही। पर परिणाम कुछ भी न निकला। केवल एक नैतिक वातावरण बदला। न्यायाधीशों तथा मैजिस्ट्रेट समुदाय पर भी प्रभाव पड़ा होगा। गृह मन्त्री ने यह आश्वासन भी दिया था कि वे यथाशक्ति अधिक से अधिक अपने "क्षमादान" के अधिकार का उपयोग करेंगे। पर, समाजवादी सरकार के सभी महारथी अपने पिछले बयानों को भूल कर ज़बान बन्द करके बैठ गये। सरकारी दल ने गैर-सरकारी प्रस्ताव पर सबको अपने मन से वोट (मत) देने का भी अधिकार नहीं दिया। कामन्स सभा में २४५ मत विपक्ष में मिले, २२२ पक्ष में। पांच वर्ष तक प्राणदण्ड को स्थगित रखने का क़ानून न बन सका। दूसरों के अनुभव से लाभ उठा कर आगे बढ़ने का अभ्यस्त इङ्गलैंड ख़ामोश बैठा रहा। इस घटना ने सिद्ध कर दिया कि दण्ड का आधार समाज की भावुकता

है। समाज में प्रचलित भावनाओं से ही दण्ड का रूप बदलता रहता है। जेरेमी बेंथम ने 'उपादेयता तथा उपयोगिता" के जिस सिद्धांत को क़ानून के साथ मिलाने की चेष्टा की है, वह कारगर नहीं होती। दण्ड का आधार है भावुकता।[1] ब्रिटिश समाज ऐसे परिवर्तन के लिये तैयार नहीं था जिससे उसकी प्रतिशोधात्मक भावना को ठेस पहुँचे।

बहस में बहुत सी बातें सामने आईं। ग्यारह सदस्यों ने साधारण सभा की बहस में भाग लिया था। गृहमन्त्री की ओर से कहा गया था कि चूंकि देश में हत्या के अपराध काफ़ी बढ़ गये हैं अतः इस प्रथा को समाप्त करने से हानि होगी। नीचे लिखे आंकड़े पेश किये गये:—[2]

	सन् १९३८	१९४८
हत्या	९७	१३८
घायल तथा आक्रमण से पीड़ित	१९९०	३००९
डँकैती	२८७	९२१
बलात्कार	९९	२५१

इस सूची के विषय में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। महायुद्ध के पहले और बाद की स्थिति में बड़ा अन्तर हो गया है। विश्व में चारों ओर अपराध बढ़े हैं। पर, हत्या के अपराध वास्तव में वहां घट गये हैं जहां प्राणदण्ड समाप्त हो गया है। सरदार सभा में इस समस्या पर बोलते हुये लार्ड टेम्पुलउड ने प्राणदण्ड के समर्थक लार्ड लेवेलिन को मुंहतोड़ उत्तर दिया था। उन्होंने नीचे लिखे आंकड़े देकर साबित किया था कि

1. Society and its Criminals—Page 221
2. दोनों सभाओं में पूरी बहस के लिए देखिये—Parliamentary Debates (Hansard) June 1948.

प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त होने के बाद हत्या के अपराध काफ़ी कम हो गये थे।

(१) स्विट्ज़र लैंड में फ़ी एक लाख व्यक्ति पीछे ·२६३ से घटा कर ·१६३

(२) स्वेडेन	,,	,,	·०७५	,,	,,	·०५८
(३) नार्वे	,,	,,	·१६०	,,	,,	·०३६
(४) डेन्मार्क	,,	,,	·०४०	,,	,,	·०२३

संयुक्त राज्य अमेरिका में शिकागो के बाद सबसे बड़ा औद्योगिक नगर डेट्रायट है। डेट्रायट तथा अन्य पांच नगरों में सन् १६३१–४० के दस वर्षों के भीतर फ़ी एक लाख व्यक्ति पीछे हत्या का औसत २·३ था। जिन प्रदेशों में प्राणदण्ड चालू है, वहां का मिलाकर संयुक्त राज्य अमेरिका में हत्या का औसत फ़ी एक लाख व्यक्ति पीछे ८·१ पड़ता है।

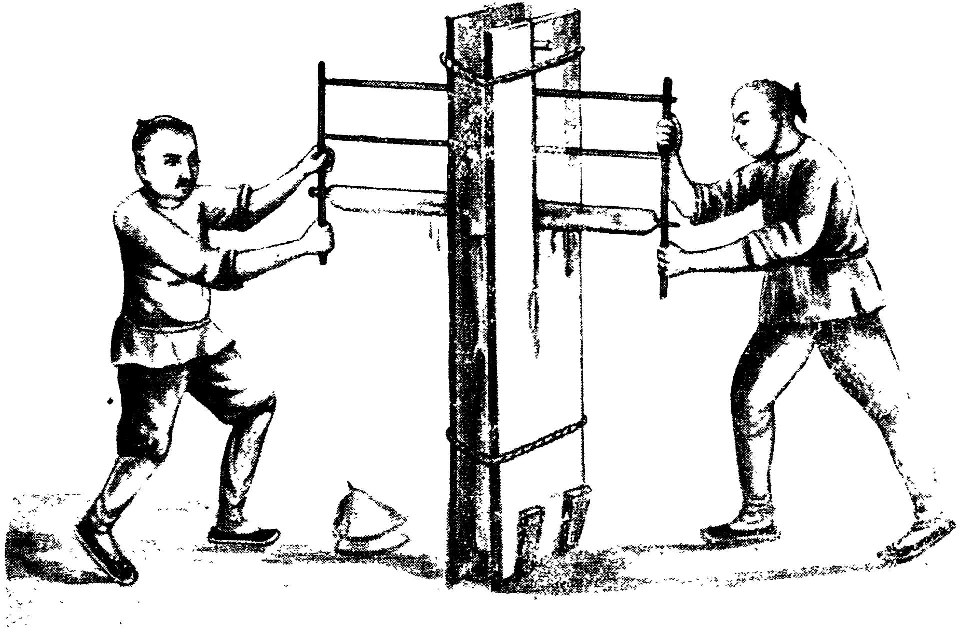
हत्या की संख्या में वृद्धि को प्राणदण्ड के पक्ष में तर्क बना लेना बड़ी ग़लत बात है। सन् १६५१ में इटालियन अदालतों के सामने १३,६४,००० मामले (अपराध) आये। सन् १६३८ की तुलना में यह संख्या चार प्रतिशत् अधिक थी। फिर भी, सन् १६३८ में प्रति लाख व्यक्ति पीछे अपराध का औसत २,६६५ था। सन् १६५१ में २६०८ हो गया। जो हो सब मिला कर, सन् १६३८ से तुलना करने पर सन् १६५१ में अपराध की संख्या में २६ फ़ी सदी वृद्धि हुई थी। यह सब महायुद्ध द्वारा उत्पन्न आर्थिक बीमारियों का परिणाम था। सन १६४५ से इटली में अपराधों की संख्या सन् १६५१ की तुलना में ३० प्रतिशत् अधिक थी। सन १६४५ में १२,००० हत्या तथा नरसंहार हुए थे। सन १६५१ में २२०० की संख्या रही। हिंसात्मक अपराधों की संख्या सन् १६३८ में ५२,६००; सन् १६४५ में ६७,००० तथा १६५१ में

१,०६,००० हो गयी थी। सन ५१ में दस लाख व्यक्ति दण्डित हुए। इनमें से ७५·८० प्रतिशत पर केवल जुर्माना हुआ, २४ प्रतिशत जेल भेजे गये। कालापानी या आजन्म कारावास या प्राणदण्ड किसी को न मिला।[1] इटली के ये आंकड़े ब्रिटिश गृहमन्त्री के १९४८ के तर्कों को बिलकुल काट देता है। इङ्गलैंड के आंकड़े भी यदि सही ढङ्ग से अध्ययन किये जावें तो बड़ी आसानी से प्राणदण्ड की अनावश्यकता सिद्ध की जा सकती है— इङ्गलैंड और वेल्स में—

सन्	१९१५-१९	१९३५—३९	१९४५	१९४६	१९४७
हत्या	५८	५६	६४	६८	७६
हत्या का प्रयत्न	२२	२४	६३	५२	६२
नर-संहार	९९	१११	१४२	९३	९७

नरसंहार का अपराध काफ़ी व्यापक है। इसमें मोटर कार को लापरवाही से चलाने के कारण मृत्यु का भी अपराध शामिल है। भारतीय दण्डविधान में इस अपराध में दफ़ा ३०४ लागू होती है। यदि हत्या की संख्या में वृद्धि के भय से प्राणदण्ड नहीं उठाया जाता है तो असावधानी के कारण हत्या के लिए प्राणदंड लागू करने का प्रयोग कर समाज की रक्षा का यह महान् कार्य क्यों नहीं किया जाता! इङ्गलैण्ड में सन् १९४६ में १५० व्यक्तियों के मारे जाने का—हत्या का—आंकड़ा वहां के प्रसिद्ध "स्पेक्टेटर" पत्र ने अपने ३० अप्रेल, १९४८ के अङ्क में छापा था। उसी के अनुसार सन् १९४६ में कुल ५,०६२ व्यक्ति सड़क की दुर्घटनाओं से मरे। अतः प्रश्न समाज की रक्षा का यदि है तो हत्यारा अधिक भयानक है या सड़क की दुर्घटनाओं की जिम्मेदार सभ्यता।

1. All India congress Economic Review. 15-5-53.



अपराधी को काठ के भीतर बन्द करके आरी से चीरा जा रहा है।

अस्तु, कामन्स सभा में प्राणदण्ड के विरोध में बोलते हुए श्री ओसबर्ट पीक ने कहा था कि अपराधों की वृद्धि का कारण महायुद्ध था। अनुदार दल के वक्ता श्री आमेरी ने कहा कि हमारा उद्देश्य दण्ड के द्वारा अपराध रोकना है। फिर भी पांच वर्ष तक सज़ा को स्थगित रखना उन्हें स्वीकार था। दस मज़दूर सदस्यों ने दण्ड को स्थगित रखने के पक्ष में भाषण दिया था। सिडनी सिलवरमान ने तो यहां तक कह दिया था कि प्राणदण्ड के पक्ष में बोलने वाले विशेषज्ञ या न्यायाधीश गहरी भूल कर रहे हैं। वास्तव में वे प्राणदण्ड के पक्ष में नहीं, निर्दयता तथा क्रूरता के पक्ष में हैं। उन्होंने आगे चलकर कहा—"इस दण्ड के द्वारा हम मानव जीवन की महत्ता तथा पवित्रता को अस्वीकार कर देते हैं। यह महज़ क़यास है कि इससे समाज की रक्षा होती है।"

सिलवरमान के समर्थकों में अनुदार दल के भी दो सदस्य थे। श्री होलिस ने अपने व्याख्यान में जार्ज वर्नर्डशा को भी इसलिये फटकारा कि शॉ की राय में ":कुछ लोग कभी सुधर ही नहीं सकते।" हालैण्ड तथा डेन्मार्क के आँकड़े देकर उन्होंने साबित किया कि वहां लोगों के पास युद्धोत्तर काफ़ी हथियार पड़ा रह गया है। फिर भी हत्या का अपराध नहीं बढ़ा। न्यूज़ीलैंड ने युद्ध काल में इस दण्ड को समाप्त करने का साहस किया था और उसे लाभ भी हुआ था। मनोवैज्ञानिक जुङ्ग का उदाहरण देते हुए होलिस ने कहा कि "प्राणदण्ड से हत्या को प्रोत्साहन सा मिलता है। कुछ विशेष प्रकार के लोगों को इस दण्ड के नाम से विशेष उत्तेजना प्राप्त होती है:...इससे अपराधी का काफ़ी विज्ञापन हो जाता है, उसके अहंभाव को तुष्टि भी मिलती है..."

होलिस ने प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकेन्स का उदाहरण दिया—
"प्राणदण्ड दुर्बल तथा बुरे लोगों को आकर्षित करता है।"

सर जॉन ऐण्डरसन दण्ड के पक्ष में बोले। उन्होंने यहां तक कह दिया कि यदि दण्ड समाप्त कर दिया गया तो मारे जाने के भय से पुलिस वाले नौकरी छोड़ देंगे। उस मुहकमे में भर्ती बन्द हो जावेगी। ऐण्डरसन ने स्वीकार किया कि इससे (इस दण्ड से) हत्या का अपराध रुकता नहीं, कम नहीं होता। पर वे अन्य देशों के अनुभव का इङ्गलैंड में उपयोग करने लिये तय्यार नहीं थे। बीस वर्ष पहले की सर अलेक्जेण्डर पीटर्सन की गवाही का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा कि पीटर्सन दस वर्ष से अधिक मीयाद की क़ैद के भी विरोधी थे। तब—"समाज के इन जङ्गली जानवरों को क्या यों ही मुक्त छोड़ देना चाहिये।"

सर जॉन की बातों का अच्छा खासा जवाब उन दिनों खुफ़िया विभाग के एक इन्स्पेक्टर ने दिया था।[1] उसने पचीस वर्ष की पुलिस सेवा के अनुभव के अधार पर लिखा था कि:—

"हमारे कुछ पुराने साथी यह सोचते हैं कि ३४ देशों ने हत्या की समस्या को क़ैद तथा सुधार के कार्यों द्वारा हल करने का भले ही प्रयत्न किया हो पर इङ्गलैंड में ऐसा नहीं होना चाहिये। कुछ ऐसे भी हैं (यह लिखते समय उनका नाम मेरे सामने है)। जो मानव जीवन के सिक्के का मूल्य गिरा कर राज्य जो हत्या करता है उसे हत्याओं के लिये उत्साहवर्द्धक समझते हैं... अपराध के युद्ध में पहला बार सहने वाला पुलिसमैन दण्ड विधान की अनेक निर्दयताओं की निरर्थकता से काफ़ी परिचित

---

1. Times, London 4-6-1948

है और...कुछ का विश्वास है कि अपराध की समस्या पर नये ढङ्ग से आक्रमण करने वाला "क्रिमिनल जस्टिस बिल"[1] मानव आचरण के स्रोत तक पहुँच भी न पायेगा यदि...असफलताओं के लिये उसे दफ़ना दिया जावे तथा क़त्ल कर दिया जावे। बहुत से पुलिसमैन प्राणदण्ड के हिमायतियों के प्रति अधिक कृतज्ञ होंगे यदि वे अपना ध्यान उन परिस्थितियों की ओर अधिक दें जिनमें कि पुलिस का आदमी रहता है...यह बहुत ही भद्दा तर्क है कि यदि प्राणदण्ड समाप्त होगा तो मारे जाने के भय से पुलिस दल में भर्त्ती बहुत कम हो जायगी।"

"स्पेक्टेटर" की समझ में ही नहीं आया कि हत्या के अपराध से इतना भय क्यों है तथा सड़क की दुर्घटनाओं के प्रति इतनी उपेक्षा क्यों है।[2] पर श्री पेटन ने, जो सर जॉन ऐण्डरसन के बाद कामन्स सभा में बोले थे, बहुतों का भ्रम दूर कर दिया होगा। उन्होंने कहा कि "जो लोग प्राणदण्ड के समर्थक हैं, उन को कुछ दिनों के लिये जेल में रख देना चाहिये। न्याय से भूल हो सकती है। सन् १९३५ में सम्राट् बनाम उडमिंगटन[3] के मामले में अदालत ने अभियुक्त को हत्या का दोषी इसलिये ठहराया कि "वह पञ्चों को यह साबित न कर सका कि हत्या अनायास दुर्घटनावश हो गयी थी।" यह मामला जब अन्तिम निर्णय के लिये हाउस आव् लार्डस (सरदार सभा) में गया तो सभा का मत था कि यह काम सरकार का है, अपराध लगाने वाले का है कि वह साबित करे कि हत्या दुर्घटनावश नहीं हुई।

---

१. इसके द्वारा शारीरिक दण्ड समाप्त किया गया था।

2. "The Lords and the 'Death Penalty'— Spectator—30-41-1954

3. Wodmington.

"दोष को सिद्ध करना दोष लगाने वाले का काम है।" इस फ़ैसले के बाद ब्रिटिश लॉ जर्नल (क़ानूनी अख़बार) ने लिखा था "यदि हम क़ानून की यह सूरत जानते होते तो आज कितने ही लोग जीवित नज़र आते। इङ्गलैंड के न्यायाधीश हमारा यह पुराना विधान भूल गये थे।" प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ पील ने नेपोलियन काल की लड़ाइयों के बाद बढ़ी हुई अपराधी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहा था कि "ग़ैर क़ानूनी कारवाइयों को रोकने के लिये क़ानून में सुधार करना चाहिये।"

पेंटन के बड़े अच्छे तर्कों का भी मज़दूर सरकार पर प्रभाव नहीं पड़ा और सिद्धान्ततः यह मानते हुए भी कि पाँच वर्ष के लिये प्राणदण्ड स्थगित किया जाय, वह स्थगित नहीं हुआ।

मृत्यु बड़ी भयानक वस्तु है। इसे बिरले ही लोग गले लगाना चाहते हैं। इस विषय में विशेष दार्शनिकता करने से कोई लाभ नहीं है। मानव जीवन दुर्लभ है। यह नर चोला बड़ी कठिनाई से मिला है। इसे समाप्त करने का उसी को अधिकार है जो जीवन दे सकता है। यदि राज्य जान ले सकता है तो उसके पास कोई नैतिक बल नहीं है कि वह आत्म-हत्या को मना कर सके, उसे अपराध कह सके। यदि आत्म-हत्या अपराध है तो प्राण-दण्ड भी अपराध है, पाप है।

हम जीना चाहते हैं। हम अपने पाप तथा अपराध के साथ भी जीना चाहते हैं। हम से जीने का अधिकार नहीं छीना जा सकता। जॉन वेन्सटर ने अपने एक नाटक में एक मरणासन्न पात्र से कहलाया है कि "ख़बरदार, जिसे अपनी जान प्यारी हो

वह मेरे सामने मौत का नाम न ले। वह शब्द बहुत ही भयङ्कर है।"

सचमुच में यह शब्द बड़ा भयङ्कर है और धीरे-धीरे दण्ड विधान से निकलता जा रहा है। संसार के १०३ राज्यों में से अभी ३४ ने इसे निकाल दिया है। शुरूआत हो गई है। फल निकलेगा ही। वह समय दूर नहीं है जब हम भी इस शब्द को अपने दण्ड विधान से निकाल देंगे। सन् १८८६ से अमेरिकन बार असोसियेशन ने संयुक्त राज्य के सभी प्रदेशों के दण्ड विधान का एक ही रूप बनाने का आन्दोलन शुरू किया था। सन् १९१८ से संयुक्त राज्य में प्रति वर्ष सम्मेलन होता है कि किस प्रकार यह लक्ष्य पूरा हो। आज विश्व के दण्ड विधान को एक ही रूप देने का कार्य राष्ट्र संघ (राष्ट्र परिषद्) कर रहा है। इस विषय पर हम आगे प्रकाश डालेंगे।

जिस दिन सभी राज्यों के दण्ड विधान एक समान हो जावेंगे, मानव का जीवन बड़ा सुखमय हो जावेगा।

1. On pain of Death let no man
Name Death to me.
It is a word infinitely terrible.
—Poisoned Brachiane.

पांचवा अध्याय

यह प्रथा समाप्त हो !

मानव के अधिकार

१४ अप्रैल, १६५२ से १३ जून, १६५२ तक संयुक्त राज्य अमेरिका की महानगरी न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र संघ (यूनाइटेड नेशन्स) के मानव अधिकार कमीशन की बैठक लगातार होती रही। इस कमीशन ने अब अन्तिम रूप में मानव के नैसर्गिक अधिकारों की रूप-रेखा तय्यार कर ली और राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों को इस विषय में आदेश मानना होगा।[1] राष्ट्रसङ्घ का सदस्य होने के नाते हमको भी ये आदेश मान्य हैं। कमीशन के निश्चयों की धारा (दो) के अनुसार "हरेक राज्य को अपनी सीमा के अन्दर रहने वालों के अधिकारों की रक्षा-सम्पत्ति, जन्म, पद, मर्यादा, राष्ट्रीय या सामाजिक आधार. स्त्री-पुरुष का भेद, जाति, रङ्ग, धर्म आदि का बिना विचार या भेद किये-करेगा।" धारा १३ के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे कार्य के लिये जो तत्कालीन राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार अपराध नहीं है, अपराधी नहीं ठहराया जावेगा तथा किसी वास्तविक अपराध के लिये जो दण्ड निर्धारित है उससे अधिक उसे दण्ड नहीं दिया-जा सकता। धारा १४ के अनुसार

---

1. Draft Convent on Civil and Political Rights-United Nations Commission on Human Rights, Eighth Session.

क़ानून के सामने हरेक व्यक्ति पर व्यक्तिगत रूप से यानी उसके अपराध पर ही नहीं, व्यक्ति पर विचार होगा। धारा १६ के अनुसार क़ानून के सामने हरेक व्यक्ति बराबर है। क़ानून की ज़िम्मेदारी है कि किसी प्रकार का भेदभाव न होने दे तथा हरेक के समान संरक्षण की ज़िम्मेदारी ले।

स्पष्ट है कि वर्तमान समाज के क़ानून की रूप-रेखा में बिना विशेष अन्तर किये, उसकी भावना तथा उसमें अन्तर्निहित उद्देश्य में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर दिया है। अब क़ानून के सामने सब बराबर हैं तथा विचार अपराध का नहीं, अपराधी का होता है। आख़िर, अपराधी अपराध करता हुआ भी मनुष्य है। मनुष्य की आवश्यकताओं को ठीक से समझना होगा। बन्दी या अपराधी भी मनुष्य है। दादा साहब गणेश वासुदेव मावलङ्कर ने साबरमती जेल में बैठकर बन्दियों के साथ अपने सम्पर्क में प्राप्त अनुभव को लिपिबद्ध किया था और अब वह पुस्तक हिन्दी में भी प्रकाशित हो गई है।[1] इस पुस्तक में प्राण-दण्ड प्राप्त दो व्यक्ति महमद मूसा तथा शिवराम का बड़ा मार्मिक वर्णन है। "मरने से एक रोज़ पहले महमद सारी रात माला फेरता रहा। सुबह गर्म पानी मँगवा कर स्नान किया। स्नान के बाद प्रार्थना की और बाद में निर्भय होकर फाँसी पर चढ़ गया।" इस प्रकार महमद चला गया। फाँसी के तख़्ते पर चढ़ते हुए स्वाभिमानी शिवराम ने कहा था:—

"साहब रात को मैंने पांडुरङ्ग (विष्णु) का एक बहुत अच्छा भजन बनाया है, आप सुनें।" यह कह कर उसने भजन गाना

१. मानवता के झरने—ले० ग० वा० मावलंकर, अनु० रवीन्द्र केलेकर, १६५३ में प्रकाशित—प्रकाशक—हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा।

शुरू किया। वह भजन के धुन में था कि उसके सर पर काली टोपी पहना दी गयी।

क्या व्यक्ति के विचार से महमद तथा शिवराम का समाज में रहना अहितकर था! दोनों हत्यायें स्त्री के प्रेम के कारण हुई थीं। अन्यथा इन दोनों का जीवन लाखों, करोड़ों नर-नारियों से ऊँचा, पवित्र तथा शुद्ध था। उपर्लिखित पुस्तक की भूमिका में श्री घनश्यामदास बिड़ला ने एक बड़ी मार्के की बात कही है :— "मनुष्य का मानस बड़ा विलक्षण है। मनुष्य-हृदय में न एक रस सत्व है, न रजस और न तमस। समुद्र की लहर की तरह एक गुण आता है, तो दूसरा जाता है। कभी-कभी साथ दोनों टक्कर मारते हैं। जो गुण जिस समय आता है उस समय अपना खेल दिखलाता है।" इससे तो यही स्पष्ट होता है कि अपराध और कुछ नहीं, गुण के टक्कर में दुर्गुण की तत्कालीन प्रधानता है। क्या दुर्गुण के क्षणिक प्राबल्य के कारण व्यक्ति को सदा के लिये समाप्त कर उसके सभी गुणों को सदा के लिये सुला देना उचित होगा। मनुष्य की मर्यादा क्या इतनी कम है! श्री गणेश वासुदेव मावलंकर ने अपनी पुस्तक में बड़ी मार्के की बात कही है। वे लिखते हैं :—

"मानस-शास्त्र की दृष्टि से कितनी ही कथाओं पर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि अनेक मर्त्तबा मनुष्य के इरादों और विचार की दिशायें लगभग अतर्क्य होती हैं। ऊपर-ऊपर से घटनाओं के कारणों की वास्तविक कल्पना नहीं हो सकती।"

किन्तु, आज न्याय केवल ऊपर-ऊपर की बातों पर ही हो जाता है। अतएव राष्ट्रसंघ के नये आदेश के अनुसार क्या हम वास्तव में व्यक्ति की समीक्षा करके तब उसे दण्ड देते हैं। श्री

मावलंकर ने उन अपराधियों का ज़िक्र किया है जिन्होंने अपराध किया था और जो अपने अपराध पर दण्ड पाकर न्याय के प्रति बिना कोई दुर्भाव प्रकट किये जेल तथा फाँसी का दण्ड पा चुके। पर इसके अतिरिक्त इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमें न्याय की बलिवेदी पर निर्दोष व्यक्ति बलिदान हो चुके हैं। भारत में, जहां पर पुलिस के पास वैज्ञानिक साधन बहुत कम हैं तथा गवाही का क़ानून काफ़ी दोषपूर्ण है, काफ़ी निर्दोष व्यक्ति फांसी लटक जाते होंगे इङ्गलेंड, अमेरिका, फ्रांस आदि उन्नत देशों में ऐसी घटनायें हो जाती हैं जब कि निर्दोष व्यक्ति प्राणदण्डित होते हैं और उनके मरने के दस-पांच या बीस वर्ष बाद पता चलता है कि वह अभागा निर्दोष था। प्राणदण्ड की सज़ा की सबसे बुरी बात है ,उसकी निश्चितता। एक बार दण्ड दे दिये जाने पर उसे वापस नहीं लिया जा सकता। जो मर गया उसे बुला नहीं सकते। इङ्गलैंड की पुलिस बहुत ही सतर्क तथा वैज्ञानिक ढङ्ग से काम करने वाली है। पर वह भी गहरी भूलें कर बैठती है। अभी हाल में ही, इङ्गलैंड में एक बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसका एक-एक पृष्ठ ध्यान से पढ़ना चाहिये। इस पुस्तक में तीन निरपराधों के प्राणदण्ड पाने तथा फाँसी पर लटकने के बाद निर्दोष प्रमाणित होने की बड़ी करुण कथायें हैं। पर, निर्दोष होने पर भी वाल्टर ग्राहम रोलैंड, डेरेक बैटेली या टिमोदी जॉन इवान्स अपनी निर्दोषता का फ़ैसला सुनने के लिये इस संसार में नहीं आ सकते हैं। रोलैंड के फाँसी पर लटकने के बाद न्यायालय ने यह महसूस किया था कि २ अगस्त, १६५२को "डेविड जॉन वेयर नामक एक व्यक्ति ने ब्रिस्टल के एक थाने में जाकर जो बयान दिया था कि मैंने एक स्त्री को मार डाला है, न जाने मुझे क्या हो गया है, मेरी तबियत होती रहती है कि जो औरत सामने आ जावे, उसके सर पर प्रहार

करूँ—" यदि यह बयान उस अदालत को पहले मालूम होता तो असली अपराधी का पता चल जाता। ,पर, निर्दोष रोलैंड को कुमारी ओलिवा बेलचिन की हत्या करने के अपराध में फांसी पर लटकना पड़ा और उसका असली हत्यारा डेविड बेयर पागलखाने में ही पड़ा है।

इस पुस्तक[1] में वर्णित सभी दर्दनाक घटनाओं को यहां देना आवश्यक नहीं है। पर, आश्चर्य यह होता है पुस्तक के प्रमाणों के बावजूद भी तत्कालीन ब्रिटिश गृह सचिव सर डेविड मैक्सवेल फ़ाइफ़ ने १४ अप्रैल १६४८ को ब्रिटिश हाउस ऑव् कामन्स में कहा था कि वे सदस्य जो यह कहना चाहते हैं कि प्राणदण्ड में न्याय भूल कर सकता है, कोरी कल्पना की बात करते हैं। ऐसा लगता है कि सरकारी कर्मचारी सब जगह समान होते हैं।उनकी मनोवृत्ति समान होती है। ब्रिटेन में अधिकारारूढ़ होने पर समाजवादी दल ने तथा उनके बाद वर्तमान चर्चिल की सरकार ने प्राणदण्ड प्रथा समाप्त करने के सभी प्रस्तावों को ठुकरा दिया है। श्री सिलवरमान एम० पी० ने जून, १६५३ में प्राणदण्ड समाप्त करने के लिये एक बिल पेश किया था। वह ठुकरा दिया गया। श्री क्रिस्टफ़र हालिस एम० पी० ने जिस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है।[2] हम भी उनके साथ शामिल हैं कि "समझ में नहीं आता कि इतने ऊँचे विचार के, पढ़े-लिखे लोग भी कैसे प्राण दण्ड को समाप्त करने का विरोध करते हैं।" लार्ड टेम्युलउड को भी इसी प्रकार आश्चर्य होता है। वे लिखते हैं :—

1, Hanged and Innocent-by R. T. Paget, M. P. and S. S. Silverman M. P.-Edn, 1953. Pub. Victor & Gollaneg Ltd. London

2. Hanged and Innocent—Page 266.

"३६ राज्यों के अनुभव ने यह दिखा दिया है कि प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त करने से उनके यहां हत्याओं की संख्या में वृद्धि नहीं हुई है। दूसरी बात यह कि जेल में लम्बी मीयाद के लिये क़ैद लोगों की तुलना में प्राणदण्ड प्राप्त क़ैदियों को सम्हालना कुछ भी कठिन नहीं होता तथा तीसरी बात, ऐसे हत्यारे जेल में सड़ते नहीं, उनमें से अधिकांश बहुत ही सुधर जाते हैं।"[1]

क्या भूल सुधर सकती है!

पर इतनी बातों से शासकवर्ग के कान नहीं खुलते। ब्रिटिश पार्लामेण्ट में लार्ड जोविट, लार्ड सायमन आदि ने साफ़ कहा था कि हम विदेशों के अनुभव को ब्रिटेन में लागू नहीं करना चाहते। पर लागू किया जावे या न किया जावे, क्या संयुक्त राष्ट्र संघ के जो आदेश हैं, उनको दृष्टि में रखकर अपने निर्णय को बदलना न होगा? क्या यह उचित नहीं है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत रूप से विचार हो।

व्यक्ति क्या चाहता है—केवल सुखमय जीवन। यदि उस सुख की प्राप्ति में वह कोई भूलें करता है तो समाज की तत्का-लीन सुख की भावनायें भी दोषी होनी चाहिये। तत्कालीन सुख वास्तव में सुख नहीं भी हो सकता। भिन्न देश तथा समाज में सुख की भावना भिन्न हो सकती है। इसलिये सुख, दुःख तथा गुण-दोष की मीमांसा बड़ी कठिन है। इसीलिये राष्ट्र संघ ने केवल इतना ही कह कर सन्तोष कर लिया कि तत्कालीन अपराध ही अपराध है। मानव अधिकार के निर्णायकों को यह भी विश्वास था कि स्वयं अपराध नाम की कोई वस्तु नहीं है। उस समय का समाज जिस काम को कहे, वही अपराध है। इसीलिये

1; The Shadow of Gallows—Lord Templewood.

समाज के भूलों की कोई गुञ्जायश नहीं है पर होनी चाहिये। इसीलिये हम कहते हैं मनुष्य कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसे आज खत्म करके कल फिर से प्राप्त कर लिया जावे। मनुष्य की सत्ता उसके जीवनकाल में समाप्त हो जाती है। पार्थिव शरीर चला जाता है। आत्मा के विषय में तो दार्शनिक लोग जानें। आज समाज के एक नियम से प्राणदण्ड देकर पार्थिव शरीर समाप्त कर दिया गया। कल वही नियम समाप्त हो सकता है, पर समाप्त मानव वापस नहीं आ सकता। यदि समाज के नियमों का उद्देश्य है मानव का सुधार करना तो प्राण ले लेने के बाद क्या सुधार होगा! किसका सुधार होगा! यदि प्राणदण्ड के आतङ्क से समाज का सुधार होता तो आज इतनी अधिक हत्यायें तथा चोरी डँकैती न होतीं!

कुछ रोचक आंकड़े (अपराध)

हमारे देश में पुलिस विभाग के आंकड़े रखने की प्रणाली अभी पूरी तरह से उन्नत नहीं हो पायी है। पुलिस की रिपोर्टों में पुराने आंकड़े होते हैं और तत्कालीन परिस्थिति का अनुमान नहीं हो सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका या आस्ट्रेलिया में ही बहुत ताजे आंकड़े प्राप्त हो जाते हैं। उनसे तत्कालीन स्थिति का पूरा मानचित्र सामने आ जाता है। प्राणदण्ड के ही आंकड़े लीजिये। वाशिंगटन से प्रकाशित "नेशनल प्रिजनर स्टैटिसटिक्स" बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाशन है। उसने सन् १९५२ की फाँसियों की पूरी तालिका अप्रैल, १९५३ में प्रकाशित कर दी थी।[1] हमारे देश में केन्द्रीय सरकार की ओर से ऐसा कोई प्रकाशन नहीं है।

1. National Prisoner Statistics—Number 8, April 1953–Federal Bureau of Prisons, Washington, D. C.

प्रादेशिक सरकारों ने भी सन् १९५०-५१ के आगे के आंकड़े नहीं छापे हैं। इसलिये हमने स्वयं काफ़ी लिखा-पढ़ी करके ताज़े आंकड़ों का संकलन किया है और पाठकों की जानकारी के लिये नीचे कुछ रोचक आंकड़े देना चाहते हैं। पर, इन आंकड़ों को पढ़ने के समय ब्रिटिश पार्लामेण्ट के दो सदस्य श्री आर० टी० पेजेट तथा श्री एस० एस० सिलवरमान के इस कथन को न भूलना चाहिये कि—"उस गवाही पर उसे छूट जाना चाहिये। पर अब इस गवाही से उसे लाभ न होगा। यह फाँसी पर लटक चुका है। प्राणदण्ड की यही विषमता है—उसका निस्सहाय रूप से अन्तिम कार्य होना!" प्राचीन विख्यात ब्रिटिश उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स ने, सौ वर्ष से अधिक हुए स्पष्ट कहा था कि—"प्राणदण्ड में एक ऐसा आकर्षण है कि दुर्बल मनोवृत्ति के लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं।" अब इन कथनों को ध्यान में रखते हुए प्राणदण्ड के आंकड़ों पर नज़र दौड़ानी चाहिये।

आज विश्व के कोने-कोने में अपराधों में वृद्धि हो गई है। द्वितीय महायुद्ध के बाद समाज का सन्तुलन ही बिगड़ गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे धनी देश में अपराध इतना बढ़ गया है कि हर ३० सेकेण्ड पर आग लगाने का एक अपराध होता है। सन् १९५३ में हत्याओं में ०.६ प्रतिशत् वृद्धि हुई। चोरी आदि में लगभग ४ प्रतिशत वृद्धि थी। रोज लगभग ४५० मोटरें चोरी जाती हैं। कम्यूनिस्ट रूस में डकैती इतनी बढ़ गयी थी कि सन् १९४७ में पल्टन की कई टुकड़ियां डाकुओं को पकड़ने के लिये रूस की राजधानी मास्को के आस-पास भेजी गयीं। १४ फरवरी, १९५३ को लखनऊ के एक अंग्रेजी दैनिक ने समाचार छापा था कि रूस के सरकारी अख़बार "प्रावदा" के अनुसार (१२ फरवरी, १९५३ के अङ्क में प्रकाशित सम्वाद के अनुसार) रूस में शातिर चोरों की संख्या बहुत बढ़ गयी है।

इतने होशियार चोर थे कि एक समूचा दमकल (फ़ायर इञ्जिन) चुरा ले गये। समाजवादी इटली की अदालतों के सामने सन् १६५१ में १३,६४,००० अपराधी आये जिनमें से ६,६७,००० गुरुतर अपराध थे। सन् १६३८ की तुलना में अपराधों की संख्या में वहां ४ प्रतिशत् की वृद्धि हुई। पर गुरुतर अपराधों की संख्या में २१ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। ये दो तीन उदाहरण केवल इस ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिये हैं कि हमारे देश में ही अपराधों की विशेष वृद्धि हुई है। जो हो, यह स्थान अपराधों की वृद्धि के कारणों की मीमांसा करने का नहीं है। हम तो इतना ही कह देना चाहते हैं कि स्वराज्य होने के बाद से भारत सरकार भी प्राणदण्ड के प्रति अपनी नीति क्रियात्मक रूप से बदल रही है। प्रदेशों ने भी प्राणदण्ड को कम से कम देने की नीति अपना ली है तथा राष्ट्रपति और राज्यपाल दया की प्रार्थना काफ़ी संख्या में स्वीकार करते हैं। फिर भी हमारी सरकार ने इस विषय में अपनी नीति स्पष्ट नहीं की है।

२६ मार्च १६४६ को तत्कालीन केन्द्रीय गृह मन्त्री ने संसद (पार्लामेण्ट) में कहा था कि "सरकार वर्तमान समय को प्राण-दण्ड समाप्त करने के लिये असङ्गत समझती है। कई अवसरों पर इस सम्बन्ध में विचार करने के बाद उसे त्याग दिया गया।" फिर भी, प्राणदण्ड के सम्बन्ध में सरकार ने जो आंकड़े उस समय दिये थे वे साबित करते थे कि नीति में परिवर्तन हो रहा है। सन् १६४४ में हमारे हाइकोर्टों ने (अविभाजित भारत में) ७६२ व्यक्तियों को प्राणदण्ड सुनाया था। सन् १६४५ में ७३६ को, १६४६ में ५३६ को, १६४७ में (विभाजित भारत में) २७१ को तथा सन् १६४८ में २६० की संख्या थी। इसके बाद के आंकड़े काफ़ी चेष्टा करने पर भी मैं केन्द्रीय

सरकार से न प्राप्त कर सका। अतः मुझे स्वयं सभी प्रदेशों से आंकड़े प्राप्त करने पड़े—पर यह ध्यान रहे कि सभी आंकड़े साधिकार हैं यानी उन प्रदेशों के अधिकारियों द्वारा प्राप्त हुए हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राणदण्ड प्राप्त तथा फाँसी पर लटकने वालों की संख्या में बड़ा अन्तर होता है। काफ़ी लोग "दया" की प्रार्थना पर मरने से बच जाते हैं।

पहले उत्तर प्रदेश को ही लीजिये। ६,३६,००,००० की जन संख्या वाले इस बड़े प्रदेश में ३०,००० क़ैदी सन् १६५० में जेलों में बन्द थे जिनमें से १४,३५६ सज़ायाफ़्ता थे। १२,४७५ विचाराधीन थे। फरवरी १६५३ में हमारे प्रदेश के जेलों की आबादी ३०,६०६ थी जिनमें से १७,००० सज़ायाफ़्ता थे तथा १०,६५४ विचाराधीन थे। सन् १६५० में हमारे उत्तर प्रदेश में ७१ व्यक्ति फांसी पर लटकाये गये। सन् १६५१ में भी इतनी ही संख्या थी। सन् १६५२ में २३ व्यक्तियों को फांसी पड़ी। यह तो एक इतने बड़े प्रदेश का ज़िक्र हुआ। इसके विपरीत अजमेर का छोटा सा प्रदेश लीजिये। सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार इसकी जन संख्या, ६,६३,००० है। यहां पर सन् १६५० से एक भी फांसी नहीं हुई यद्यपि सन् १६५० से हत्या के २२ अपराध हुए, सन् १६५१ में २० तथा सन् १६५२ में १७। इन तीनों वर्षों में अदालत के द्वारा क्रमशः ०, १ तथा २ व्यक्तियों को फांसी की सजा हुई थी पर लटकाया कोई नहीं गया।[१]

उड़ीसा की जनसंख्या, सन् १६५१ की गणना के अनुसार १,४६,४६,००० है। १६५१ की प्रथम तिमाही में घोर अपराधों की संख्या २६७३ थी जिनमें से १२ हत्यापूर्ण (युक्त) डॉका तथा ४४ डकैतियां थीं। सन् १६५२ की द्वितीय तिमाही में घोर

---

१. सुपरेण्टेण्डेण्ट पुलिस अजमेर से प्राप्त आँकड़े—३ जुलाई, १९५३

अपराध १८६६ थे जिनमें से ३६ हत्यायुक्त डांका तथा ५६ डकैतियाँ थीं। इन दोनों अवधि में क्रमशः ३७ तथा ६२ हत्यायें हुई।[1] सन् १९४९ में उड़ीसा प्रान्त में ८ व्यक्तियों को प्राणदण्ड मिला जिनमें से तीन फाँसी पर लटकाये गये। सन् १९५० में तीन प्राणदण्ड हुए पर दो फांसी, सन् १९५१ में दो प्राणदण्ड तथा एक फांसी तथा सन् १९५२ में ८ प्राणदण्ड किन्तु १ फांसी हुई।[2] स्पष्ट है कि राज्य जितने लोगों को प्राणदण्ड देता है उसका एक चौथाई भी फांसी के तख्ते पर नहीं झूलता।

भारत में ऐसे अनेक राज्य हैं जहां प्राणदण्ड या तो दिया नहीं जाता या कार्यान्वित नहीं होता। १२ जुलाई १९५३ को कच्छ की सरकार ने (जनसंख्या ,६८,०००) तथा ,६ जुलाई, १९५३ को बिलासपुर (जनसंख्या १,२६,०९९) ने सूचना दी है कि उनके राज्य में सन १९४९ से १९५३ तक एक भी प्राणदण्ड तथा फाँसी नहीं हुए—और न हत्या का एक भी अपराध हुआ। दक्षिण भारत की कुर्ग की कमिश्नरी (जन संख्या २,२९,०००) की ८ जूलाई, १९५३ की सूचना है कि सन् १९४८ में एक हत्या, १९४९ में एक फाँसी,.१९५० में कुछ भी नहीं; १९५१ तथा ५२ में क्रमशः ५ तथा एक प्राणदण्ड मिला। सन् १९५३ में पिछले तीन अपराधियों को प्राणदण्ड मिला। पर सन् १९५० से एक को भी फाँसी पर नहीं लटकाया गया।

ऐसे कई राज्य हैं जिन्होंने इस दण्ड का उपयोग नहीं किया है—प्राणदण्ड मिला हो पर फाँसी नहीं हुई है। सन् १९४९ से आसाम (जन संख्या ९०,४३,०००), मैसूर (जन संख्या ९०,७५,०००) तथा ट्रावनकोर कोचीन (जन संख्या ९२,८०,०००)

१. कटक, उड़ीसा खुफिया विभाग से प्राप्त—२७ जून, १९५३
२. उड़ीसा सरकार से १० जुलाई, १९५३ को प्राप्त आंकड़े।



भारतवर्ष में फांसी देने का आजकल का तरीक़ा

(जिस पटरे पर अपराधी खड़ा है, वह नीचे झूल जायगा)

में एक भी फांसी नहीं हुई है। सौराष्ट्र में (जनसंख्या (४१,३७,०००) सन् १९५० तथा १९५२ में एक भी फाँसी नहीं हुई पर सन् १९५१ में पुराने तीन अपराधियों को फाँसी हुई। विन्ध्य प्रदेश में (जन संख्या ३५,७५,०००) सन् १९५२ में दो को प्राणदण्ड मिला पर फाँसी पर कोई नहीं लटका। सन् १९५० तथा १९५१ में क्रमशः एक-एक को फांसी मिली। भूपाल (८,३६,०००) हिमांचल प्रदेश (९,८३,०००) कच्छ (५,६८,००८) मनीपुर (५,७८,०००) तथा त्रिपुरा (६,३९,०००) में सन् १९५० से अभी तक एक भी फांसी नहीं हुई। दिल्ली (जन संख्या १७,४४,०००) में सन् १९५० में एक फांसी हुई। सन् १९४९ में भूपाल में तीन तथा कुर्ग में एक फाँसी हुई थी।

पर इन आंकड़ों के साथ यह भी स्मरण रखना होगा कि कुर्ग में सन् १९४९ से १९५३ तक, पांच वर्षों में क्रमशः ५, ४, ६, ३ तथा २ हत्यायें हुई। प्राणदण्ड की कमी के साथ हत्यायें भी कम होती गयी हैं। दिल्ली राज्य में सन् १९४९ से १९५२ के चार वर्षों में क्रमशः २६, १८, १६ तथा २८ हत्यायें हुई। प्राणदण्ड मिलने पर भी सब से कम फाँसी देने में हैदराबाद (जन संख्या १,८६,५६,०००) सबसे आदर्श प्रतीत होता है। सन् १९४९ से १९५३ (छः माह) के पाँच वर्षों में वहां क्रमशः ७७, ४७, ६३, १२८ तथा २४ को फाँसी की सजा अदालतों से मिली। पर इतने प्राणदण्ड होने पर भी केवल सन् १९५१ में एक फाँसी हुई। शेष वर्षों में एक भी प्राणदण्ड नहीं हुआ। फाँसी देने में सबसे आगे पञ्जाब (भारत) प्रदेश है। नीचे की तालिका से बड़े राज्यों की स्थिति स्पष्ट हो जावेगी :—

राज्य का नाम	आबादी ००० छोड़कर	प्राणदण्ड प्राप्त व्यक्तियों की संख्या	फाँसी पर लटकाये गये व्यक्तियों की संख्या
		सन् १९४९–५०–५१–५२	१९४९-५०-५१-५२
आसाम	९०,४४,	१ १ १ १	नहीं
बिहार	४,०२,२६	३७–३५–४२–८६	६—२—४—७
बम्बई	३,५९,५६	४८–१४–२१–३४	११–१०—५—८
मध्य भारत	७९,५४	२३–२०–१७–३०	यही
मध्य प्रदेश	२,१२,४८	५५–७२–७३–५२	२३–२०–१७–३०
मद्रास	५,७०,१६	१६८-१८०-१३५-१४२	४९-४६–३१–२३
उड़ीसा	१,४६,४६	८—३—२—८	३—२—१—१
पञ्जाब	१,२६,४१	५०–३८–६७–१३	२३–१९–१७–२२
पश्चिमी बंगाल	२,४८,१०	५—६—८—२	— २—५—१
मैसूर	९,०,७५	—१—२—१	नहीं
पटियाला और पूर्वी पञ्जाब स्टेटस् यूनियन	३४,९४	३—५—७—८	२—५—१०—७
राजस्थान	१,५२,९१	१६ –७–२६–१३	— १—२ —
उत्तरप्रदेश[1]	६,३६,००	अज्ञात	— २१–२१–२३

हमारी सम्मति में इन आंकड़ों की बहुत व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। इन आंकड़ों को काफ़ी विस्तार के साथ भी दिया जा सकता है। चित्र और भी स्पष्ट हो सकता है। पर उसमें भी थोड़ी कठिनाई है। पुस्तक का विस्तार बढ़ेगा तथा हम मूल विषय से परे हो जावेंगे। इसलिये उन पूरे आंकड़ों को देने का लोभ

---

१. चेष्टा करने पर भी हम उत्तर प्रदेश के गृह विभाग से उत्तर प्रदेश के प्राणदण्ड प्राप्त व्यक्तियों की संख्या न प्राप्त कर सके। अभी हाल में पुलिस प्रशासन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है वह सन् १९५० के लिए ही है।

सम्वरण कर लेता हूँ। पर दो-तीन प्रदेशों के कुछ आंकड़े दे देने से पाठकों को विषय की गम्भीरता को समझने में सरलता होती है। ऊपर हमने जो तालिका दी है उसमें पश्चिमी बङ्गाल की वह तालिका है जो हमें अपने उत्तर प्रदेश की सरकार से प्राप्त हुई है पर जो तालिका वहां से अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति द्वारा प्राप्त हुई है, उसमें अन्तर है।

पश्चिमी बङ्गाल के आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हत्या की रोक थाम के लिये प्राणदण्ड कितना अनावश्यक है। सन् १९४७ से बङ्गाल का विभाजन हुआ है और पश्चिमी बङ्गाल बना है। हम सन् १९४२ से १९५२ तक के वहां आंकड़े दे देते हैं:—[1]

वर्ष	वर्ष के भीतर हत्या	दौरा जज द्वारा प्राणदण्ड	हाईकोर्ट द्वारा स्वीकृत	कुल फांसी
१९४२	१४	१	१	१
१९४३	१९	—	—	—
१९४४	३६	—	—	—
१९४५	३२	—	—	—
१९४६	२७७	—	—	—
१९४७	५१०	१	—	—
१९४८	८२	—	—	—
१९४९	६४	३	३	२
१९५०	११५	३	—	—
१९५१	५६	—	१	४
१९५२	४९	—	१	१
योग	१०५४	८	६	८

१. ११ जूलाई, १९५३ को डिप्टी कमिश्नर, पुलिस द्वारा प्राप्त आंकड़े।

पूर्वी-पश्चिमी बङ्गाल के विभाजन के समय हत्या के अपराध काफ़ी बढ़ गये थे पर सम्भवत: ऐसी हत्याओं को क्षणिक उन्माद समझ कर बङ्गाल सरकार ने हत्या का जवाब हत्या से नहीं दिया। अस्तु, बिहार के आंकड़े भी देख लेने चाहिये। बिहार सरकार से प्राप्त आंकड़ों से[1] प्रकट है कि वह भी पश्चिमी बङ्गाल के समान प्राणदण्ड का कम से कम उपयोग कर रही है:—

वर्ष	हत्याओं की संख्या	दौरा जज द्वारा प्राणदण्डित व्यक्ति	हाईकोर्ट द्वारा कितने लोगों की सज़ा बहाल रही	कितने व्यक्ति फाँसी पर लटकाये गये
१९४२	३७९	३२	१६	६
१९४३	४३३	२७	१४	१०
१९४४	४०९	३४	१६	१६
१९४५	३८५	३३	११	१७
१९४६	५५३	२०	५	५
१९४७	५०९	२५	११	३
१९४८	५९५	१९	५	८
१९४९	५२७	२४	९	४
१९५०	५०३	३२	८	२
१९५१	५८५	३३	९	८
१९५२	६०५	४६	११	७
१९५३	३०३	८	२	—

सन् १९४२ से १९५३ तक एक भी महिला को फाँसी नहीं मिली। यहां पर किसी छोटे राज्य का आंकड़ा भी जान लेना रोचक होगा। उड़ीसा में ३० सितम्बर १९५३ को समाप्त होने

१. १८ जनवरी, १९५४ को प्राप्त आंकड़े।

वाली तिमाही में नीचे लिखी स्थिति थी।[1] उड़ीसा प्रदेश के १३ ज़िलों में (कुल जन संख्या उस समय १,४६,४४,२६६ थी), उपर्लिखित तिमाही में ५६ हत्यायें हुईं जो कि सन् १६५२ की उसी तिमाही से १४ अधिक थी तथा फ़ी लाख व्यक्ति पीछे हत्या के अपराध का औसत ४ था। १३ डाँके पड़े जो गतवर्ष की तिमाही से २ कम था। राहज़नी की ३३ घटनायें थीं जिनमें गत वर्ष की अपेक्षा २ की वृद्धि रही। १५२४ चोरियां हुईं यानी गत वर्ष से १०१ कम थीं। फ़ी एक लाख व्यक्ति पीछे १०.४ चोरियां हुईं। चलती गाड़ी में ११६ चोरियां हुईं। उड़ीसा में प्राणदण्ड के आंकड़े ऊपर बतलाये जा चुके हैं।

उत्तर प्रदेश, इङ्गलैण्ड तथा कुछ छोटे देशों में

उत्तर प्रदेश की सरकार की ताज़ी पुलिस रिपोर्ट फरवरी, १६५४ में प्राप्त हुई है। यह वार्षिक कार्य विवरण सन् १६५३ के लिये है। इसके अनुसार गत तीन वर्षों में अपराध के तुलनात्मक आंकड़े इस प्रकार हैं :—

वर्ष	डँकैती	राहजनी	हत्या	दंगे	सेंध लगाना
१६५१	८१७	५४४	१५६६	३३८२	२१,८८०
१६५२	७६१	४८६	१५७२	३२४३	१६,३६६
१६५३	८५६	५०३	१५१०	२६४७	१८,५२८

शारीरिक आघात सम्बन्धी अपराधों का विवेचन करते हुए रिपोर्ट में लिखा है कि "हत्याओं और दङ्गों के अधिकांश मामले आपसी दुश्मनी, जमीन के झगड़े और पुरानी दलबन्दियों के कारण हुए हैं। पर कुछ मामले में राजनैतिक प्रतिद्वन्दिता का भी अंश पाया जा रहा है।"

१. इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस, उड़ीसा द्वारा प्राप्त १५ दिसम्बर १९५३

उत्तर प्रदेश के बराबर ही जन संख्या इङ्गलैण्ड की है। पर अपराध के विचार से इन दोनों में बड़ा अन्तर है। इङ्गलैन्ड तथा स्काटलैन्ड के आंकड़े सन् १९४८ के बाद के अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। पर उनसे भी काम लायक़ काफी जानकारी हो सकती है। उस वर्ष सुरक्षा क़ानून के अन्तर्गत २६,१६३ व्यक्तियों ने अपराध किया था जबकि सन् १९४० में १८,८६३ अपराध थे। पर रोचक बात यह है कि सन् १९४८ में ऐसे अपराधों में ८६ प्रतिशत चोरबाज़ारी के अपराध थे। सुरक्षा के अपराधों के अतिरिक्त कुल ६,३६,९५० अपराध सन् १९४८ में हुए। इनमें से १,२६,३८४ अभिरोपनीय अपराध थे तथा ५,२७,५६६ अनभिरोपनीय अपराध थे। सन् १९४७ की तुलना में अभिरोपनीय अपराधों में ११.६ प्रतिशत् की वृद्धि हुई। कामुक यानी ऐन्द्रिक अपराधों में ०.६ प्रतिशत् की वृद्धि थी तथा शारीरिक आघात यानी हत्या के अपराधों में २७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक वर्ष की उम्र के ऊपर के १४७ हत्यायें हुई। इनमें से ३० मामले की तफतीश आदि आलोच्य वर्ष में पूरी कर दी गयी तथा १०६ कथित अपराधियों की चालान हुई। ३५ अपराधियों या कथित अपराधियों ने फैसले के पहले आत्महत्या करली तथा ४३ अपराधी पागल पाये गये। आलोच्य वर्ष में १० फांसी हुई। स्काटलैन्ड में ३ हत्याएं हुई पर फांसी एक भी नहीं हुई। इङ्गलैण्ड में अपराधियों की उम्र के लिहाज से विचार करने से पता चलता है कि सन् १९४७ की तुलना में १७ वर्ष से कम उम्र के अपराधियों की संख्या में २४ प्रतिशत् की वृद्धि हुई तथा १७ वर्ष से अधिक उम्र वालों की संख्या में केवल ६ प्रतिशत् की वृद्धि हुई।

इन आंकड़ों से उत्तर प्रदेश की संख्या की तुलना करने से एक बात स्पष्ट है। अभिरोपनीय अपराधों का विचार करते हुए

उत्तर प्रदेश में फी २६०६ व्यक्ति पीछे एक अपराध होता है। इङ्गलैण्ड में औसतन ५०० व्यक्ति पीछे एक अपराध होता है—यह साल भर का हिसाब है। स्वेडन ऐसे उन्नत देश में आबादी के प्रति एक लाख व्यक्ति पीछे ३४१ अपराध होते हैं। यह संख्या सन् १९५७ की है। सन् १९४६ में ३४६.६ का औसत था। यानी, प्रति २६५ व्यक्ति पीछे एक अपराध होता है। नार्वे में वर्ष भर में ५,७३१ अपराध हुए यानी प्रति एक लाख व्यक्ति पीछे, सन् १९४६ में १८६ अपराध हुए। सन् १९४५ में १५४ का औसत था।

हमारी सम्मति में ये आंकड़े रोचक तथा अपराधों की गति-विधि समझने में सहायक होंगे। इङ्गलैण्ड में हत्या के १४७ अपराध पर—या सालाना औसत १२५ से कम न होने पर भी ८ से १० व्यक्तियों को प्राणदण्ड मिलना यह प्रकट करता है कि जनता तथा सरकार मृत्यु दण्ड का उपयोग प्रत्यक्षतः कम करती जा रही है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में

संयुक्त राज्य अमेरिका में केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत सभी प्रदेशों में फांसी या प्राणदण्ड नहीं है। ६ प्रदेशों में यानी मेन, रोड द्वीप, मिशिगन, विसकौंसिन, मिन्नेसोटा और उत्तरी डकोटा में प्राणदण्ड अवैध यानी ग़ैर कानूनी है। पर इनमें से तीन यानी मिशिगन, उत्तरी डकोटा तथा रोड द्वीप में क्रमशः राजद्रोह के लिये, राजद्रोह तथा कैदी द्वारा की गयी हत्या के लिये तथा तीसरे यानी रोड द्वीप में आजन्म सजा भोगने वाले कैदी द्वारा की गयी हत्या के लिये प्राणदण्ड अनिवार्य है।

विसकौंसिन में प्राणदण्ड अवैध होने के कारण एक उलझन पैदा हो गयी थी। सन् १९५३ में उसके प्रदेश के एक नागरिक

को फेडरल यानी केन्द्रीय हाईकोर्ट से प्राणदण्ड मिला। पर उसे अपने प्रदेश में फांसी पर लटकाया नहीं जा सकता। अतएव निश्चय यह किया जा रहा था कि उसे किसी दूसरे प्रदेश में ले जाकर फाँसी पर लटकाया जावे।

पर, प्राणदण्ड की प्रणाली अमेरिका भर में एक समान नहीं है। कुछ प्रदेशों में फाँसी पर लटकाया जाता है, कुछ में बिजली की कुर्सी मिलती है। ६ प्रदेशों में, जिनमें कैलिफ़ोर्निया भी है, ज़हरीली गैस द्वारा प्राण लिया जाता है। ज़हरीली गैस को ऐसिड में डाल देते हैं जिससे तुरन्त मृत्यु हो जाती है। सन् १९५३ में ८३ प्राणदण्ड (संयुक्त राज्य अमेरिका में) हुए जिनमें से दो फाँसी पर लटकाये गये—एक इओवा तथा एक कैंसस में, तथा १३ ज़हरीली गैस से मारे गये। ६८ को बिजली कुर्सी मिली। ध्यान रहे कि २५ प्रदेश बिजली की कुर्सी द्वारा प्राण लेते हैं, ८ फाँसी पर लटकाते हैं, एक प्रदेश में या तो गोली मार देते हैं या फाँसी पर लटकाते हैं और ६ प्रदेश ज़हरीली गैस का प्रयोग करते हैं। ओकलाहो प्रदेश पहले बिजली की कुर्सी का प्रयोग करता था। पर उसने सन् १९५२ से ज़हरीली गैस को अपना लिया है। उसे मिलाकर ६ राज्य गैस का प्रयोग करते हैं। केन्द्रीय अदालत जब प्राणदण्ड देती है तो वह यह निर्धारित नहीं करती कि कैसे प्राण लिया जावे। जिस राज्य में प्राणदण्ड होता है, वही राज्य अपनी विधि के अनुसार कार्य करता है।[1]

सैनिक अपराधियों के प्राणदण्ड की तालिका अलग है। इस अलग तालिका से प्रकट होता है कि सन् १९३० से १९५२ के बीच में नाविक सेना में काम करने वाले एक भी व्यक्ति को प्राणदण्ड

1. National Prisoner Statistics—Number 8. April 1953 Federal Bureau of Prisons, Washington.

नहीं हुआ। वायु तथा स्थल सेना में काम करने वालों में से १४८ को प्राणदण्ड मिला जो सभी दण्ड सन् १६४२ से १६५० के भीतर ही दिये गये। इनमें से ६५ हत्या के लिये (जिनमें से १८ हत्यापूर्ण बलात्कार के लिये), ५२ बलात्कार के लिये तथा एक प्राणदण्ड सेना छोड़कर भागने के लिये था।

असैनिकों यानी साधारण जन संख्या में, सन् १६३० से १६५२ के बीच में ३,२१६ प्राणदण्ड हुए। इनमें से २८०३ यानी ८७.० प्रतिशत हत्या के लिये थे। ३६६ यानी ११.४ प्रतिशत् बलात्कार के लिये थे; ५० यानी १.६ प्रतिशत् अन्य अपराधों के लिये थे, यानी १८ सशस्त्र डँकैती, १३ अपहरण, १० सेंधमारी तथा ६ गुप्तचरी करने और ३ घातक आक्रमण के लिये थे। इन तेईस वर्षों में, ३२१६ प्राणदण्डितों में केवल २४ स्त्रियां थीं जिनमें से १४ गोरी तथा १० नीग्रो थीं। प्राणदण्डितों में गोरे-काले का अनुपात बराबर था। १३८६ गोरे तथा १३८१ नीग्रो थे। अधिकांश प्राणदण्डित नीग्रो यानी ८६.७ प्रतिशत् को बलात्कार के अपराध में प्राणदण्ड मिला था। अस्तु, संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है :—

(अ—सैनिकों की तालिका—प्राणदण्ड प्राप्त लोगों की संख्या)

वर्ष	सब अपराधों के लिये	हत्या	बलात्कार	अन्य अपराध
१६४५	११७	६०	२६	१
१६४६	१३१	१०६	१२	२
१६४७	१५२	१२८	२३	१
१६४८	११६	६५	२२	२
१६४६	११६	१०७	१०	२
१६५०	८२	६८	१३	१
१६५१	१०५	८७	१७	१
१६५२	८३	७१	१२	—

संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध में ये आंकड़े पाठकों के लिये काफ़ी रुचिकर होंगे। अब इङ्गलैंड की वर्तमान मनोवृत्ति के विषय में भी थोड़ी जानकारी हो जानी चाहिये।

ग्रेट ब्रिटेन में वर्षों से यह आन्दोलन चल रहा है कि प्राणदण्ड समाप्त कर दिया जावे। जब समाजवादी सरकार का शासन हुआ तो उससे कुछ अधिक आशा हुई क्योंकि उसके नेता इस विषय में अपना प्रगतिशील मत बराबर प्रकट कर चुके थे। पर सत्तारूढ़ समाजवादी अपना पिछला विचार भूल गये और उन्होंने केवल एक शाही कमीशन इस विषय पर विचार करने के लिये बिठा दिया। इस शाही या रॉयल कमीशन के ११ सदस्य थे। सन् १९४९ में इसकी रचना हुई थी। सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में, सन् १९५३ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई।[1]

कमीशन ने महत्वपूर्ण सिफ़ारिशें की हैं। प्राणदण्ड समाप्त करने के वह विरुद्ध है। प्राणदण्ड हो या न हो, इसका निर्णय जूरी पर छोड़ दिया जाय। प्राणदण्ड के लिये कम से कम उम्र १८ वर्ष नहीं २१ वर्ष होनी चाहिये। प्राणदण्ड की विधि में फांसी पर लटकाना ही उचित तरीक़ा है। पर, विषैले इञ्जेक्शन द्वारा प्राण लेने के तरीक़े पर भी विचार किया जा सकता है। "किन्तु मौजूदा परिस्थिति में फ़ांसी की प्रथा बदलना उचित नहीं है।'

कमीशन की सिफ़ारिशों पर काफ़ी आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही हैं। ब्रिटिश जनमत में उसने काफ़ी चहल-पहल मचा

---

1. Report of the Royal Commission on Capital Punishment—Pub. Stationary office, London.

रखी है। जूरी पर ही इसका निर्णय छोड़ देने का काफ़ी विरोध हो रहा है। सर ट्रेवर्स हम्फ्रेज का कथन है कि "उस समय क्या होगा जब सदस्यों में ही (यानी जूरी के सदस्यों में) आपस में मतभेद होगा या एक जूरी अन्य सब जूरियों के विरुद्ध प्राणदण्ड देने या न देने की बात पर अड़ जावे! इसके विपरीत, प्राणदण्ड की हिमायती कुमारी मार्गेरी फ्री या फ्राई को आशङ्का है कि जूरी लोग प्राण हरने के मामले में आनाकानी करेंगे इसलिये प्राणदण्ड बहुत कम होंगे। किन्तु, कमीशन की महत्वपूर्ण रिपोर्ट में इतनी ही बातें नहीं हैं। उसने प्राणदण्ड को प्रायः हर पहलू से सोचने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये क़ानूनन "पागलपन" में किये गये प्रहार या हत्या के लिये अपराधी को दण्ड नहीं दिया जा सकता। पर "पागल" कौन है, "पागलपन" क्या है, इसका निर्णय ब्रिटिश न्यायालय "मैकनाटन नियम" के अनुसार करते हैं। पर इधर कई वर्षों से यह सिद्ध कर दिया गया है कि क़ानून जिसे पागलपन कहता है तथा चिकित्सा शास्त्र जिसे पागलपन कहता है, उन दोनों की व्याख्या में बड़ा अन्तर है।[1] एक पक्ष कहता है कि क़ानून जिसे "पागलपन" कहता है वह अवैज्ञानिक है। दूसरा पक्ष कहता है कि चिकित्सा-शास्त्र जिसे पागलपन कहता है उस चीज़ को न्यायालय में लागू नहीं किया जा सकता। दोनों पक्ष अपने अपने स्थान पर इतने दृढ़ हैं कि चेष्टा करने पर भी कमीशन कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं कर सकता।

नये अनुसन्धानों ने प्राणदण्ड के विषय को बड़ा क्लिष्ट तथा कटु बना दिया है। क़ानून की खींचतान ने मानव की

---

1. See "Magistrate" (Editor C. J. Collinge), Sept Oct. 1953. issue—"Capital Punishment", Page 71, Pub. Denmark Hall, Lonbon,

मर्यादा को नष्ट कर वकालत की दलीलों का खिलौना बना दिया है। पर, क़ानून मानव तथा उसकी मर्यादा के साथ ऐसे ही खिलवाड़ किया करता है। इङ्गलैण्ड का एक रोचक मुक़द्दमा हमें पढ़ने को मिला। एक पिता ने अपनी लड़की से कहा कि उसका हस्तमैथुन करदे। कन्या ने ऐसा कर दिया। पिता पर "अशिष्ट आक्रमण" के अन्तर्गत जुर्म लगाकर मुक़द्दमा चलाया गया। अदालत ने फ़ैसला दिया कि जबर्दस्ती तो की नहीं गयी, लड़की को ऐसा करने के लिये बाध्य नहीं किया गया अतएव कोई जुर्म लागू नहीं होता।[1] अदालत के इस निर्णय से कोई सहमत कैसे होगा—पर यह कहना भी अनुचित होगा कि न्यायाधीश ने इसे पाशविक कार्य नहीं समझा होगा। क़ानून की विचित्र गति है। आज समाज में ऐसे अनेक जघन्य अपराध होते हैं जिनके लिये घोर दण्ड होना चाहिये, पर कोई दण्ड नहीं मिलता पर कितने ही असली पागल-हत्यारे "पागलपन" की दोषपूर्ण व्याख्या के कारण प्राण खो बैठते हैं।

चाइल्ड का नियम

हम यह नहीं कहते कि प्राचीन काल के न्यायालय प्राणदण्ड देने में असावधानी या असतर्कता बरतते थे पर यह निर्विवाद है कि आज के न्यायालय इस दण्ड का कम से कम उपयोग करना चाहते हैं यद्यपि इङ्गलैण्ड तथा प्राणदण्ड क़ायम रखने वाले सभी देश उसे समाप्त करने में इसलिये हिचकिचाते हैं कि उनको भय है कि कहीं दण्ड का आतंक समाप्त होने से हत्या आदि में वृद्धि न हो। फिर भी आज अपराध में प्रत्यक्ष वृद्धि होने पर भी प्राणदण्ड में निरन्तर कमी इसका प्रमाण है कि अपराध में वृद्धि को एकमात्र दण्ड से नहीं नापा जा रहा है

1. D. P. P. V. Rogers, 1953.

और यह भी निर्विवाद है कि काफ़ी सतर्क रहने पर भी क़ानून के दोष या अपराध से निरपराधी भी फाँसी के तख्ते पर लटक जाता है। इस विषय में न्याय का एक आदर्श तरीक़ा चाइल देश का है जिसके विधान की धारा २० के अनुसार "ऐसे हरेक व्यक्ति को जिसे अदालत ने निरपराध छोड़ दिया है या जिसके विरुद्ध मुक़द्दमा (राज्य द्वारा चलाया गया) ख़ारिज हो गया है, उसे अधिकार है कि अपनी भौतिक या नैतिक क्षतिपूर्ति का क़ानून द्वारा निर्धारित रूप से, दावा दायर करे।" यानी राज्य के विरुद्ध हरजाना प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के नियम प्राय: सभी देशों में किसी न किसी रूप में हैं कि राज्य से हरजाना वसूल किया जावे पर वे नियम इतने स्पष्ट नहीं है। पर चाइल का यह विधान (यह धारा) भी वहां के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा "अक्रियाशील" यानी "सोई हुई" स्वीकार की गयी है।[1] ज़माने की रफ़्तार में वह भी "लेटी हुई" है।

इसी चाइल देश में प्राणदण्ड समाप्त करने के लिये काफ़ी आन्दोलन हुआ। पर जनता स्वयं इस "भयावह" सुधार के लिये तैयार नहीं हुई। पर, दण्ड की समाप्ति के आन्दोलन का फल अवश्य हुआ कि यदि सब अदालतों के बाद सर्वोच्च न्यायालय प्राणदण्ड का ही निश्चय करती है तो भी सर्वोच्च न्यायालय को यह विचार करना होगा कि क्या इस व्यक्ति पर किसी प्रकार दया की जा सकती है और अपराध के अनुपात से उसे और कोई दण्ड दिया जा सकता है या नहीं। इस प्रतिबन्ध का तात्पर्य स्पष्ट है। राज्य को जान लेने में झिझक है। क़ानून ने तो कह दिया कि मार डालो। पर मारने में हाथ कांप रहे हैं। सर्वोच्च

1. Sentence of the Court of Appeals of Valparaiso 2nd March 1939.

न्यायालय के विचार के बाद चाइल का प्रेसिडेण्ट (राष्ट्रपति) अन्तिम निर्णय करता है। सज़ा की पुष्टि हो जाने के बाद क़ैदी को सूचना देने के तीन दिन के भीतर या तीसरे दिन गोली मार देनी चाहिये। इस अवसर पर चाइल के जेलों के डायरेक्टर जनरल की अनुमति से ३० व्यक्ति तक उपस्थित रह सकते हैं। गर्भवती स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के ४० दिन के बाद गोली मारनी चाहिये। एक नियम यह भी है कि "किसी भी दशा में केवल घटनाक्रम की गवाही पर प्राणदण्ड नहीं होना चाहिये।"

बड़ा महत्वपूर्ण नियम है। हमारे देश में प्राणदण्ड प्रायः घटनाक्रम की गवाही पर ही होते हैं। छानबीन का वैज्ञानिक तथा ख़र्चीला तरीक़ा न हम अभी तक अपना पाये हैं और न मौजूदा माली हालात में उसकी निकट भविष्य में सम्भावना प्रतीत होती है। चाइल ने प्राणदण्ड को आजन्म कारावास की सज़ा में परिणित करते समय अपराधी को नागरिक तथा राजनैतिक अधिकारों से सदा के लिये वञ्चित करने का महत्व-पूर्ण नियम बना दिया है। हमें कोई आपत्ति न होगी यदि ऐसी ही रोकथाम हमारे देश में भी हो जावे। पर हम तो इस दिशा में कुछ करना ही नहीं चाहते।

अन्य देशों में

तुर्किस्तान के दण्ड विधान की धारा २० के अनुसार चाइल के समान ही आजन्म कारागार वाले हत्या के अपराधी को नागरिक तथा राजनैतिक अधिकारों से च्युत कर दिया जाता है। धारा १६ ने हत्या तथा धोखा देने के अपराधी को रिहाई के समान भी बड़े कठोर नियमों में बांध दिया गया है। चाइल के समान तुर्किस्तान में भी जनमत प्राणदण्ड क़ायम रखने के पक्ष में था। वहां पर सैनिक अपराधियों को प्राणदण्ड पर गोली मार

दी जाती है तथा असैनिक अपराधियों को फाँसी लटका दिया जाता है। तुर्किस्तान ने बहुत विचार के बाद केवल नर हत्या तथा राजद्रोह को मृत्यु दण्ड के योग्य समझा है। पर इस सम्बन्ध में एक बड़ी गुन्जायश यह है कि हर ऐसी सजा में राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभा (तुर्की पार्लमेण्ट) की स्वीकृति आवश्यक है। महासभा क्षमा भी प्रदान करा सकती है। इस प्रकार हर प्राणदण्ड की ज़िम्मेदारी जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की हुई। तुर्कों के राज्य में धार्मिक उत्सव या पर्व के दिन प्राणदण्ड नहीं होता। गर्भवती स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के बाद प्राणदण्ड मिलता है। बन्दी के माता-पिता, गुरुजन, अभिभावक आदि को बधशाला में नंगे सर, नंगे पैर, काली कमीज पहन कर जाना होगा—दण्ड सुबह तड़के सार्वजनिक स्थान में दिया जायगा। बध-स्थल में चारों ओर पुलिस का घेरा होगा ताकि दर्शक दूरी पर रहें।

१२ जुलाई सन् १९५० को जेकोस्लोवाकिया की सरकार ने अपने नये दण्ड विधान में, कम्युनिस्टों के प्रभाव के कारण, प्राणदण्ड रखा जो नर हत्या अथवा राज्य की समाजवादी सत्ता को उलटने वाले को दिया जायगा। यथाशक्य चेष्टा की जायगी कि प्राणदण्डित की सजा १५ से २० वर्ष कारागार कर दी जावे। वहां गर्भवती को सन्तानोत्पत्ति के बाद केवल आजन्म कारागार मिलेगा।

१ जनवरी, १९४२ को स्विटजरलैण्ड की सरकार ने प्राणदण्ड समाप्त कर दिया पर महायुद्ध के बाद उस देश में कई भीषण अपराध हुए जिससे घबड़ा कर स्विस पार्लमेण्ट के एक सदस्य श्री पॉल गिसलर ने १८ सदस्यों के हस्ताक्षर से पार्लमेंट में प्रस्ताव भेजा कि "जनता की रक्षा के लिये हम यह

आवश्यक समझते हैं कि २१ दिसम्बर. १६३७ के स्विस दण्ड विधान में संशोधन किया जाय तथा प्राणदण्ड पुनः लागू किया जाय।"

इस प्रस्ताव पर २६ मार्च, १६५२ को स्विस पार्लामेण्ट में काफ़ी वाद-विवाद रहा। सरकार ने इसका विरोध किया। विरोध में ८० तथा गिसलर के पक्ष में ३१ मत आये। सुझाव गिर गया। स्विस सरकार की यह दृढ़ता सराहनीय है। सन् १६५० में संशोधित स्विस दण्ड-विधान के अनुसार हत्या के अपराधी को २० वर्ष कारागार का दण्ड होता है पर जेल में अच्छी चाल-चलन रखने पर धारा ३८, उपधारा १ के अनुसार दो-तिहाई यानी १४ वर्ष की सज़ा भोगने पर छोड़ दिया जाता है। हमारे देश में आजन्म कारावास का अर्थ २० वर्ष है, पर अच्छी चाल-चलन रखने पर १४ वर्ष में रिहाई मिल जाती है।

आदतन अपराधी तथा सम्पूर्णानन्द शिविर

हमारे देश में स्वभावतः (आदतन) अपराधी के सिद्धान्त का सबसे सक्रिय तिरस्कार उत्तर प्रदेश की सरकार ने किया है। उत्तर प्रदेश की तरह, कई प्रदेशों ने "निगरानी पर छोड़ने" यानी "प्रोबेशन" की नीति को अपना लिया है। इस प्रकार हज़ारों लोगों का जेल में सड़ना या परेशान होना तथा जीवन नष्ट करना बच जाता है। आज की सरकार यह नहीं मानती कि कोई आदमी पेट से पाप लेकर आया है। मानव को मानव समझकर, उसे जेल में रखते हुए भी पुनः सच्चा नागरिक बनाया जा सकता है। जेल की भावना ही बदल गयी है। अब तो जेल में बन्द क़ैदी को बाहर निकाल कर, उससे काम लेकर, राष्ट्र का निर्माण कार्य तथा क़ैदी का भविष्य बनाया जा सकता है। हत्या तथा डाके के अपराधी, लम्बी मीयाद वाले क़ैदियों को खुले जेलों में, बिना



चीन में शरीर के एक हज़ार टुकड़े करने का दण्ड

दीवाल के, प्राचीर रहित जेलों में रख कर उनसे प्रदेश के लिये निर्माण कार्य कराने की हमारी योजना अनूठी है। स्विट्ज़रलैंड में २५० क़ैदियों का "खुला जेल" है। पर शाम को उनके पैरों में ताले पड़ जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में "खुला जेल" है। पर क़ैदियों की संख्या ५०० से अधिक नहीं होती। और इन दोनों देशों में उनको मज़दूरी (काम के लिये पैसा) नहीं मिलता। पर उत्तर प्रदेश के गृह मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने सन् १९५२ में चन्द्रप्रभा नदी पर क़ैदियों द्वारा बांध तथा सन् १९५३ के अन्त में कर्मनासा नदी पर बांध बनवाने का अभूतपूर्व प्रयोग करके भारत में जो चीज़ खड़ी कर दी है वह विश्व में अनूठी है। प्रदेश के मुख्य मन्त्री ने इन बांधों का नाम सम्पूर्णानन्द बांध तथा इन बांधों पर काम करने वाले क़ैदियों के निवास स्थान का नाम "सम्पूर्णानन्द शिविर" रखा है। चन्द्रप्रभा का काम समाप्त हुआ। ज़मीन खोदने का काम क़ैदियों ने किया। अब वे कर्मनासा नदी पर काम कर रहे हैं। दोनों स्थान बनारस ज़िला में हैं। सम्पूर्णानन्द शिविर प्राचीर रहित जेल है जिसमें लगभग ३००० बन्दी रहते हैं। हरेक को अपने काम की मज़दूरी मिलती है। औसत ५०) मासिक की आय होती है। संसार का यह सबसे बड़ा खुला, जेल है; यहां भागने वालों की संख्या नगण्य है। ऐसे कार्य के सम्बन्ध में हमने गृह मन्त्री को एक पत्र अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति की ओर से लिखा था। उस पत्र के उत्तर में ३० जुलाई, १९५३ को उनका जो उत्तर प्राप्त हुआ था उसका महत्वपूर्ण अंश हम नीचे दे देते हैं :—

"...निश्चित रूप से सरकार की यह इच्छा है कि क़ैदियों का पुनर्वास हो, पर पुनर्वास एक ऐसा शब्द है कि जिसका कई प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है। जहां तक सरकार का

सम्बन्ध है, हम इन बन्दियों को बांध के निकट की भूमि में नहीं बसाना चाहते और न हम कहीं पर बन्दियों का एक उपनिवेश ही खोलना चाहते हैं। इस समय हमारा केवल यही उद्देश्य है कि हम जेल के दूषित वातावरण से—जो उसकी चहार दीवारी के भीतर बना रहना अनिवार्य है, बन्दी को बाहर निकाल लाना चाहते हैं। हम उनको एक प्रकार से उन्हीं परिस्थितियों तथा सुविधाओं में काम करने का अवसर देना चाहते हैं जो देहातों में उपलब्ध हैं और हम उनको काम की मज़दूरी देकर उनमें आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न करना चाहते हैं। साथ ही हम उनको थोड़ी बहुत साक्षरता तथा साधारण ज्ञान भी देना चाहते हैं। यह सब इस आशा में किया जा रहा है कि जब क़ैदी अपने घर वापस जावे, वह अपने दण्ड के समय की तुलना में अधिक अच्छा नागरिक बन सके।······यदि एक बन्दी अपने घर काफ़ी रुपया लेकर जाता है तो उसके परिवार वाले भी प्रसन्न होते हैं और छूटने के बाद पुन: अपराध करने का एक बहुत बड़ा कारण दूर हो जाता है।"

गृह मन्त्री ने हमारे सभी विचारों की पुष्टि कर दी। बन्दी स्वभावत: अपराधी नहीं है। उसमें सुधार हो सकता है। जेल का वातावरण दूषित होता है। उसमें आत्म-सम्मान पैदा करना चाहिये। घर वापस जाते समय यदि वह कङ्गाल रहा तो बिना घर पहुँचे ही फिर अपराध कर सकता है। वास्तविक अपराध समाज करता है या कराता है। इटली की राजधानी रोम में जेब कटी या पाकेटमारी या चोरी साधारण चीज़ बन गयी है। ब्रिटेन का जेब-कट सड़क पर पड़ी चीज़, चाहे कितनी क़ीमती हो, सरकारी माल गोदाम में जमा कर देता है। स्विट्ज़रलैंड में पुलिसमैन तथा पुलिस चौकियां बहुत कम होती जा रही हैं। वहां हरेक नागरिक अपने को पुलिस के कर्त्तव्य का पालन करने वाला

समझता है। वास्तव में भावना पैदा कराने से होती है। हरेक को "नागरिकता" की शिक्षा देनी चाहिये। हरेक को स्वयं अपने को पुलिसमैन समझने की नसीहत देनी चाहिये। सबको बुरा या आदतन अपराधी समझ लेना भारी भूल है। हरेक को अच्छा नागरिक समझना चाहिये और बना देना चाहिये।

६ जूलाई, १९५१ को अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड कमीशन की जो अन्तिम बैठक हुई थी उसमें "आदतन अपराधी" की समस्या पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ था। इस विषय पर विचार करने के लिये एक समिति बना दी गई थी और उसकी राय थी कि "इस सम्बन्ध में या तो आवश्यक अध्ययन नहीं हुआ है और जो अध्ययन हुआ है, उसमें और भी अध्ययन की आवश्यकता है।" इसलिये नीचे लिखे विषयों पर अधिक अध्ययन की आवश्यकता है :—

(अ) उन दुबारा या आदतन अपराधी वर्ग की चिकित्सा जो केवल भूल से अपराध कर बैठते हैं।

(ब) उन अपराधियों में भेद करना जो कभी-कभी अपराध करते हैं तथा जो वास्तव में स्वभावतः अपराध करते हैं।

(स) स्वभावतः अपराध करने वालों की काफ़ी बड़ी संख्या का अध्ययन करके यह पता लगाना कि लोग क्यों बार बार अपराध करते हैं और यदि करते हैं तो क्या उनका इलाज जेलों में रख कर हो सकता है या उन्हें रिहा करके तब सुधारा जा सकता है।

(द) अन्य देशों में स्वभावतः अपराधी की समस्या किस रूप में है तथा उसका क्या हल निकाला जा रहा है।[1]

---

1. International Penal and Penitentiary Commission—Berne.

इसलिये समिति ने निश्चय किया कि दुबारा तथा स्वभावतः अपराधी के सम्बन्ध में अध्ययन जारी रखा जावे तथा इस दिशा में जो कार्य हो चुके हैं उनका भी अध्ययन कर लिया जाय।[1]

बड़ा आसान है यह कह देना कि हत्यारा तो हत्या करेगा ही, डँकैत डाँका डालेगा ही। ऊपर लिखी बातों से स्पष्ट है कि अपराधी सदा अपराधी नहीं रहता, इसीलिये आज उसके स्वभाव को बदलने की चिकित्सा हो रही है, चिकित्सा ढूंढ़ी जा रही है। जब समाज को अपने इस पुराने विचार में भ्रम पैदा हो गया है कि स्वभाव से ही क्या कोई बुरा होता है तो प्राणदण्ड को तब तक के लिये स्थगित किया जा सकता है जब तक इस विषय में पूरी छानबीन न कर ली जावे। यह अवश्य है कि ख़तरनाक अपराधी से सरकार घबड़ाती है। उसके भाग जाने का, जेल से भाग निकलने का बड़ा भय रहता है। अतएव उसे मार कर छुट्टी मिल जाती है। पर सरकार की चिन्ता या परेशानी दूर करने के लिये किसी का प्राण ले लेना कोई क़ायदे की या सिद्धान्त की बात नहीं हुई।

समाज को ख़तरा

यह सोचना भी भूल है कि समाज को इनसे बड़ा ख़तरा है। समाज को इनसे बहुत कम ख़तरा है। उसे असली भय तो उन बाल अपराधियों से है जो बड़े होकर न जाने कितना उत्पात करेंगे। उसे भय उन लोगों से है जो वास्तव में अपराधी नहीं हैं पर अपराध करने की प्रवृत्ति रखते हैं तथा जिनका आचरण शङ्काजनक है। हमारे देश में ऐसी अपराधी प्रवृत्ति वालों को दफ़ा १०६ तथा ११० क़ानून में बन्द किया जा सकता है तथा वे

---

1. International Review of Criminal Policy—July 1952, Unitod Nation, Page 199

ज़मानत देकर छूट सकते हैं। पर, इससे "समाज का ख़तरा" दूर नहीं होता। भारत में अभी हम यह भी नहीं निश्चित कर पाये हैं कि समाज को किन से ख़तरा है, भय है, भय उत्पन्न हो सकता है तथा वे समाज के लिये कष्टदायक सिद्ध हो सकते हैं। इस विषय में हमको वेनेज़ुला का "लफङ्गा और गुण्डा नियम"[1] सावधानी से पढ़ना तथा समझना चाहिये। सन् १९४७ में वहां की पार्लामेण्ट में "समाज के लिये भयजनक" लोगों के सम्बन्ध में एक क़ानून पेश हुआ था जो सन् १९३९ के "गुण्डा-लफङ्गा ऐक्ट" का संशोधन था। इस नियम से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज को किन से आशङ्का है, आतङ्क है। उनमें से कुछ का परिचय हम नीचे दे देते हैं :—

१—जो स्वभावत: किसी वैध व्यवसाय या नौकरी में नहीं है।

२—वेश्यावृत्ति या अवैध कार्यों से आमदनी करने वाले।

३—दूसरों को धोखा देने का पेशा।

४—सड़कों पर घूमकर स्वयं आलस में समय बिताना तथा दूसरे को आलसी बनाना।

५—धर्म के नाम पर भीख मांगना या आदतन भीख मांग कर पेट भरना।

६—अपने बच्चों, आश्रितों आदि को निरुद्यम सिखाना या उनसे भीख मँगवाना।

७—बीमारी का बहाना कर, दूसरों में दया की भावना पैदा कर भीख मांगना।

८—दुराचार के लिये कन्या या बालक प्राप्त करना।

९—जुआ या अवैधानिक खेल खेलना।

---

1. Dangerous Persons Bill, 1947 and Rogues, and Vagabonds Act, 1937—Venezuela.

१०—मादक द्रव्य लुक-छिपकर वेचना, इनको अवैधानिक रूप से प्राप्त कर सेवन करना।

११—अदालतों में गवाही देने या जमानत पड़ने का पेशा करना।

१२—भाग्य बतलाने का पेशा करना, जादू-टोना करना।

१३—बाल-व्यभिचारी।

१४—दूसरों से अनायास झगड़ा करना।

१५—नङ्गी तस्वीरें या कोकशास्त्र सम्बन्धी चित्र बेचना।

ऐसे लफङ्गों को रोकथाम के लिये बेनेजुऐला की सरकार ने बड़ा व्यापक तथा प्रभावशाली नियम बनाया है। यहां पर उस क़ानून को उद्धृत करने का स्थान नहीं है। हमें तो केवल यह बतलाना था कि समाज के लिये अधिक भयावह कौन है तथा उसकी रोक थाम अधिक आवश्यक है न कि एक हत्यारे को प्राणदण्ड देकर उससे पीछा छुड़ाने से लाभ होगा।

कल का अपराधी आज के बालक या बालिका में से ही पैदा होता है। पनपता है। इसलिये बाल अपराधी का ख़तरा दूर करना नितान्त आवश्यक है। भारतीय संविधान की धारा ३६ (१) के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य है कि "बच्चों और युवकों की, अपहरण या नैतिक या भौतिक परित्याग से रक्षा की जावे।" बाल अपराधी या "समस्यामय बालक" के सुधार के लिये बम्बई तथा मद्रास में बड़े अच्छे बाल-क़ानून हैं। उत्तर प्रदेश में भी बाल-क़ानून बन गया है।[1] पर उसपर अभी अमल नहीं शुरू

१. हमारे देश में Reformatory School Act (VIII) सन् १८९७ का है। Children's Act सन् १९२४ में बम्बई में बना था। संशोधनों के बाद उनका वर्तमान ऐक्ट Children's Act (LXXI) १९४८ में पास हुआ। मद्रास में १९५० में, उत्तर प्रदेश में १९५१ में।

हुआ है। बम्बई में बाल सुधार का क़ानून बहुत ही अच्छी रीति से काम कर रहा है। बम्बई की सरकार बाल अपराधी के सुधार के लिये दस लाख रुपये वार्षिक व्यय करती है। उत्तर प्रदेश में सब मिला कर डेढ़ लाख रुपये से अधिक व्यय नहीं होता।

केन्द्रीय सरकार ने, स्वराज्य के बाद, सभी राज्यों के लिये एक आदर्श बाल क़ानून बनाने का विचार किया था और इसी उद्देश्य से दिल्ली में सभी प्रदेशों के शिक्षा मन्त्रियों का सम्मेलन बुलाया गया था (सन् १६४८ के अप्रैल मास में)[1] पर चूंकि सभी प्रदेशों ने स्वतन्त्र रूप से अपनी आवश्यकतानुसार यह क़ानून बनाने की इच्छा प्रकट की। अतएव केन्द्रीय नियम नहीं बन सका। इस समय भारत के सत्रह प्रदेशों में किसी न किसी रूप में बाल-क़ानून लागू है। यदि हम इन्हीं का वैज्ञानिक ढङ्ग से उपयोग करें तो बाल-सुधार का कार्य रास्ते आ जाय और अपराधों की समस्या भी कम तथा सरल हो सकती है।

आज सभीं उन्नत देश अपना नैतिक स्तर ऊँचा करने के लिये बाल-सुधार की ओर ध्यान दे रहे हैं। सबने यह अनुभव कर लिया है कि समाज के लिये असली खतरा बाल अपराधी है। उसे दूर करने के लिये कोई उपाय नहीं छोड़ना चाहिये। देश की आर्थिक तथा सामाजिक दुर्बलता से भी बाल अपराधी बढ़ते हैं। जापान का ही उदाहरण लीजिये। १८ वर्ष की उम्र से कम बाल अपराधियों की संख्या वहां इतनी बढ़ गयी है कि सन् १६४५ में कुल बालक तथा बालिका अपराधी की संख्या

---

1. Ministry of Education, 'Govt. of India, F. B. 1/149-21 April 1949.

(२८,२८५) को १०० के बराबर मान लेने पर सन् १९४९ में २७९ थी।[1]

वर्ष	बाल अपराधी	बालिका अपराधी	कुल
१९४७	५८,१६५	६,२९०	६४,४५५
१९४८	६६,५३८	८,९४७	७५,४८५
१९४९	७१.४१५	७,४७४	७८,८८९

सन् १९४५ की कुल २८,२८५ की संख्या से तिगुनी संख्या हो गयी। जापान में बाल अपराधियों के लिये सन् १८८० के दण्ड विधान में कुछ गुञ्जायश थी पर सन् १९०७ में वास्तविक नियम बना था। अब सन् १९४७ का बाल-कल्याण नियम तथा सन् १९५८ का बाल-सुधार नियम वहां लागू है और इसके अनुसार बाल अपराधियों के प्रति व्यवहार की कठोरता के स्थान पर, उनके प्रति अधिक उदार व्यवहार, अधिक उदार अदालतें, सुधार गृह, जेल में कम से कम लोगों को रखने का नियम आदि लागू हो गया है। यह इसीलिये न कि समाज ने अनुभव किया है कि अपराधी की चिकित्सा करने से समाज का कल्याण होता है। उसे दण्ड देने से एक ऐसी प्रतिक्रिया होती है जो हानिकारक तथा हानिजनक है।

फ्रांस की मिसाल लीजिये। महायुद्ध के बाद फ्रांस के बाल अपराधियों की संख्या में बाढ़ आ गयी। फ्रेञ्च सरकार ने घबरा कर नियमों को और कठोर नहीं बनाया। २४ मई, १९५१ को फ्रान्स की पार्लामेण्ट ने जो बाल अपराधी नियम बनाया था वह बाल अपराधियों की समस्या के प्रति नियमों को और भी उदार बना देता है। बाल अदालतों को घरेलू रूप दे दिया गया है।

1. Outline of Child Welfare Works in Japan—Page 2,

न्यायाधीश को पैतृक पद दे दिया गया है जिससे हज़ारों बच्चों के प्रति बड़ा उदार व्यवहार होता है, वे जेल के दूषित वातावरण से बच जाते हैं तथा उनको सच्चे रास्ते पर लाने में आसानी होती है।

सुधार का कार्य देर में फल देता है, पर उसका प्रभाव बड़ा ठोस होता है। इङ्गलैण्ड के बोर्स्टल इन्स्टीट्यूट की बड़ी चर्चा है। बाल-सुधार-गृह का आदर्श रूप बोर्स्टल है। सन् १९०८ में रोचेस्टर जेल को पहली बार बालकों के लिये विशेष रूप से सुसङ्गठित किया गया था। शायद बोर्स्टल का यही श्री गणेश था। ऐसे सुधार गृहों से निकले बालक, अधिकांशतः अच्छे मार्ग पर चल जाते हैं। सन् १९४५ से १९४९ के बीच में इङ्गलैंड तथा वेल्स की बोर्स्टल संस्थाओं से कुल ८,५१९ बच्चे छूटे। इनमें से केवल २,१४८ यानी २५.२ फी सदी ने दुबारा अपराध किया। ६ हज़ार का सुधार हो जाना भारी बात है। खेद यही होता है कि सब देशों में बच्चों के साथ सहानुभूति का व्यवहार नहीं होता। काफ़ी सुधार होने के बाद भी टांगानापिका में १६ वर्ष से कम उम्र के बच्चे को दण्ड स्वरूप १२ कोड़े तथा वयस्क को २४ कोड़े लगाने का नियम है। वहां स्त्रियों या लड़कियों को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। जो हो, जहां भी बालकों के लिये ऐसा नियम है, उसे समाप्त होना चाहिये।

मनुष्य को मनुष्य समझिये

आस्ट्रेलिया की सरकार ने ४ जुलाई, १९५१ को अपने सन् १९१८ के क़ानून में संशोधन करके अपराधी कहे जाने वाले व्यक्ति को बड़ा भारी अधिकार दे दिया है। भारत की तरह, आस्ट्रिया में भी, सन् १९१८ के क़ानून के अनुसार, दो वर्ष कठोर कारावास से कम सज़ा पाये लोग ही नागरिकता का अधिकार

प्राप्त कर सकते थे। नये संशोधन के बाद केवल प्राणदण्ड या आजीवन कारावास को छोड़ कर कोई भी बन्दी अदालत से अनुरोध कर नागरिकता का अधिकार पा सकता है। क्यों जीवन भर उसे पशु समझा जाय—अ-नागरिक समझा जाय! यह एक बड़ी भारी बात है जिस पर हमको विचार करना होगा।

आखिर स्वभावत: अपराधी कहे जाने वाले व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में ये नये नियम क्यों बन रहे हैं! इनका एक मात्र लक्ष्य है मनुष्य को मनुष्य समझना। मनुष्य ने अभी तक दण्ड के सम्बन्ध में अपने को ही नहीं समझा था। इसीलिए अपराध बढ़ते गये। दण्ड कठोर होते गये। अब मनुष्य को मनुष्य समझा जाने लगा है अतएव परिणाम अच्छा होगा। पर, घूम फिर कर हम अपने 'प्रथम अपराध' की बातों पर आ जाते हैं। अपराधी की आत्मा को भी पहचानना चाहिये। हरेक का "उच्च" रूप या "नीच" रूप, दो में से कोई तो प्रबल होता ही है। अहङ्कार से प्राणी "नीच" रूप के वशीभूत होकर, निम्न श्रेणी का काम करता है। उसके सुधार के लिये उसकी अन्तरात्मा को टटोलना होगा, उसका अहङ्कार, उसका अहंभाव दूर करना होगा। तभी वह सुधरेगा। उसे मार डालने से उसकी आत्मा या उसका मन शुद्ध नहीं हो गया। उसका यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ गया। अत: बिना धार्मिक रूप से इस समस्या को सुलझाये हम वास्तविकता को नहीं पहुँच सकते। हत्या क्यों होती है, प्राणदण्ड क्यों मिलता है, अपराध क्यों होता है, इन सबके विषय में निरूपण करने के बाद हम अन्त में यही निवेदन करना चाहते हैं कि धर्म के शास्त्र से अपराध की समस्या हल कीजिए। संस्कार तथा कर्म को भी मानिये। पाप तथा पुण्य की भावना को लुप्त मत होने दीजिये। जुलाई, १९५३ के "कल्याण" में मैंने अपराध की समस्या पर एक लेख लिखा था।

उस पर सम्पादकीय टिप्पणी देते हुये "कल्याण" के सम्पादक ने लिखा था:—

"जब तक अपराध को अपराध न माना जाय, अपराध का भयंकर फल परलोक में भी भोगना पड़ेगा—यह विश्वास न हो कि मेरे अपराध को सर्वव्यापी भगवान देखते हैं—यह निश्चय न हो, तब तक किसी भी बाहरी क्रिया से, क़ानून से या दण्ड से अपराधों का अन्त नहीं हो सकता, धर्म के सिद्धांत में विश्वास होने पर जब मनुष्य अपराध को पाप समझेगा, तब एकान्त में भी वह अपराध नहीं करेगा, मन में भी अपराध के भाव आने पर वह अन्तर्यामी प्रभु से संकोच करेगा, उनसे डरेगा। नहीं तो चोरों को दण्ड देने का काम करने वाला मनुष्य भी स्वयं चोरी का धन लेने में नहीं हिचकेगा, किसी को खून का अपराधी सिद्ध करके उससे घृणा करने वाला भी स्वयं स्वार्थवश खून करने, कराने में पश्चातपद नहीं होगा, और दूसरे को व्यभिचारी बताकर उसकी घोर निन्दा करने वाला भी स्वयं व्यभिचार में रस लेगा। वस्तुत: अपराध के मूल श्रोत का नाश होना चाहिये। वह रहता है मन में, उसका नाश धर्म की अग्नि से ही होता है, आज हमारा मानसिक जगत अत्यन्त दूषित और अपराधमय बन गया है, इसीसे हम अपराध मिटाने की बात करते और उसके लिये प्रयत्न करते हुए भी स्वयं अपराध करते रहते हैं धर्म भावना का अभाव तथा पाप में निर्भयता ही इसमें प्रधान कारण है, कहीं कहीं तो पाप में गौरव बुद्धि हो गयी है, अमेरिका, रूस, चीन— कहीं भी अपराधों का ह्रास नहीं हुआ है, अपने मत से विरोधियों के प्रति रूस, चीन आदि में जैसा अमानुषिक और क्रूर व्यवहार होता है वह भयकर से भयङ्कर है, यह जो ह्रास बतलाया जाता है, सर्वथा काल्पनिक है, बल्कि आज की दुनियां में बहुत से

अपराध तो अपराध न माने जाकर सिद्धांत, अधिकार, कर्त्तव्य या सुधार माने जाते हैं, जैसे—

१—आज व्याह किया, कल तलाक़ कर दिया, यह अपराध नहीं—सुधार है।

२—पर-पुरुष और पर-स्त्रियों का परस्पर अबाध संसर्ग आदि अपराध नहीं है—सभ्यता है।

३—खून, डकैती, आग लगाना आदि को भी सिद्धांत बतलाया जाता है और विरुद्ध मतवालों के प्रति ऐसा व्यवहार गौरव-पूर्ण समझा जाता है, कुछ महीनों पूर्व मेरे एक मित्र संसद के सदस्य ने मुझसे कहा था कि "यदि कोई पुरुष किसी "वाद के" सिद्धांत की दृष्टि से खून, लूटपाट, आग लगाने या रेल की लाइन तोड़ने आदि की क्रिया करता है तो वह अपराध नहीं है।

४—बड़े से बड़े सुसभ्य देश जैसे अमेरिका ने जापान के लाखों निरीह नर-नारी बालकों को अणुबम से भस्म कर दिया, पर किस राष्ट्र ने उसे अपराधी बतलाया? आज भी इन भयंकर अपराधमूलक अणुबम और इससे भी भयानक विनाशक साधनों का आविष्करण और परीक्षण बड़े गौरव के साथ किया जा रहा है।

धर्म और ईश्वर का भय न रहने के कारण ही अपराध में अपराध-बुद्धि नहीं रह गयी है। इसी कारण आज—

(क) धर्म का झण्डा फहराने की बात करने वाला प्रमुख धनीवर्ग और व्यापारीवर्ग नाना प्रकार के नये नये अपराध करता है

(ख) क़ानून की रक्षा और अपराधों को निर्मूल करने के लिये नियुक्त सरकारी कर्मचारी धन के लोभ से स्वयम्

अपराध करते और दूसरों के लिये अपराध करने का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

(ग) उन्नति और विकास के नाम पर सरकारें नित्य नये नये टैक्स, कर आदि लगाकर व्यापारी वर्ग को उससे बचने के उद्देश्य से बेईमानी करने को बाध्य करती हैं।

(घ) पुलिस विभाग (सभी देशों में) चोरी, डकैती, खून आदि अपराधों के नाश के लिये ही बना है, पर अनेकों पुलिस के लोग चोरी, डकैती और खून में प्रकारान्तर से हिस्सा भी लेते पाये जाते हैं।

(ड) अपराधियों को सुधारने के लिये बने हुए जेलखानों में चोरी आदि अपराध अनर्गल रूप से हुआ करते हैं।

यदि ईश्वर और धर्म का भय होता तथा परलोक में पाप के फलभोग का निश्चय होता तो आज न तो रक्षक ही भक्षक बनते और न अपराधों की ही इतनी बाढ़ आती। यह पाप प्रवाह तभी सूखेगा, जब दुनियां धर्म और भगवान में दृढ़ विश्वास करेगी। नहीं तो, पाप और उसके साथ ही ताप भी, उत्तरोत्तर बढ़ते ही जावेंगे। भले ही उस पतित स्थिति को किसी भी 'वाद'की विजय बताया जाय या उन पापों को ही विकास तथा उन्नति का स्वरूप मानकर उनकी गुण-गाथा गाई जाय और ऐसे अपराधियों को चाहे जितना पुरस्कृत किया जाय, जैसे—हिरण्यकश्यप और रावणादि के राज्य में यज्ञादिका विनाश, सतीत्वनाश, गो ब्राह्मण की हत्या और धर्म का निर्मूलन गौरव का कार्य माना जाता था और ऐसा करने वाले गुणवान तथा पुरस्कार के पात्र समझे जाते थे; पर यह निश्चय है कि जब तक ये पाप रहेंगे, तब तक वास्तविक शांति, सुख दूर से दूर ही रहेंगे। उनकी प्राप्ति होगी ही नहीं।"

अस्तु, भारतीय दण्ड विधान में मानव शरीर से सम्बन्धित दफ़ा २६६ से ३७७ तक धारायें हैं जिनमें दफ़ा ३०२ तथा ३०४ सबसे बिकट हैं। पर, इन धाराओं से हमने समाज का कितना कल्याण कर लिया तथा कितनी हत्यायें रोक दीं तथा समाज में कितना अपराध कम हो गया ? मैं क़ानून की बारीक़ी नहीं जानता। पर हम अभी तक अपने दण्ड विधान को बदल नहीं रहे हैं, उसमें सुधार नहीं कर रहे हैं। पर यह सुधार तभी सम्भव है जब हमारा हृदय परिवर्त्तन हो। रेवाल्ड ने सत्य लिखा है कि—"दण्ड-विधान में परिवर्त्तन के लिये हृदय परिवर्त्तन की आवश्यकता है।"[1] क्या हम अब भी अपना हृदय-परिवर्त्तन करने के लिये तय्यार नहीं हैं !

श्री चार्ल्स मौर्गन का कथन सत्य है कि भय या पीड़ा से मानव में निराशा नहीं उत्पन्न होती। वह तब आन्तरिक निराशा से पीड़ित हो उठता है जब उसमें निष्ठा, श्रद्धा तथा विश्वास का अभाव होता है। इसके लिये बिना उसके जाने ही उसका जी कचोटता है और निराश होकर वह पाकेटमारी से लेकर, डाँका, क़त्ल सभी कुछ करता रहता है। आज हरेक प्राणी के मन में यह शङ्का होती है कि "किस लिये" "किसके लिये" जीवित रहे, किस लिये प्यार करे ? इसका उत्तर यदि हम न दे सके तो मानव का उच्छृङ्खल हो जाना स्वाभाविक ही है। श्रद्धा से चरित्र बनता है। चरित्र से ही सदाचार का विकास होता है। अतएव यदि समाज का सुधार करना है तो उसे श्रद्धालु बनाइये, धर्म की ओर ले चलिये। पाप-पुण्य का संस्कार मन में उत्पन्न कीजिये, नहीं तो, जब डाँका या क़त्ल में केवल भौतिक सज़ा ही मिलती है, भविष्य में या मरने पर उसका कोई महत्व नहीं रहता तो कोई

---

1. Society and Its Criminals, Reiwald Page 289

हम से क्यों डरें ?

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।

मनु का यह वाक्य या श्रीयाज्ञवल्क्य का 'सम्यक् संकल्पजः कामः' आज किसके कानों में पड़ता है ? किसे सुनने का समय है ? सदाचार को धर्म का मूल माना गया है। सदाचार को जीवन का मूल माना गया है। "मनः पूतं समाचरेत" मनु का प्रसिद्ध वाक्य है। पर अब इन चीज़ों को कोई सुनना नहीं चाहता।

आज जो कुछ है वह अपने लिये है। ईश्वर के लिये कहीं कुछ नहीं है। इसीलिये समाज तड़प रहा है, रो रहा है। पर सम्भलता नहीं है। तोप बन्दूक से युद्ध नहीं रुकता, शान्ति नहीं होती। जेल या दण्ड से अपराध नहीं रुकता, अपराधी कम नहीं होते। आज मानव के पास है क्या ? एक अँग्रेज़ ने लिखा है कि हमारे पास केवल अपना ऋणभार है। कर्ज़े से पीठ लदी है। टैक्स है, ऋण है, जीवन की समस्यायें हैं। सुख का पता भी नहीं कि वह किस कोने में बैठा सिसक रहा है। जिसे हम सुख समझे बैठे हैं, वह केवल विडम्बना है। ऐसी दशा में चारों ओर फैले अन्धकार से बचने का क्या मार्ग है—केवल यही न कि शान्ति की तथा नैतिकता की तलाश धर्म के द्वार पर, श्रद्धा के द्वार पर, विश्वास के द्वार पर की जाय। यदि हम धार्मिक न हो सके तो निस्सन्देह हमारा मन वासनाओं में तड़प-तड़प कर दम तोड़ देगा। हम कभी भी सुखी न होंगे, हमारी समस्यायें कभी हल न हो सकेंगी।

★

विनम्र निवेदन

सम्भव है पाठक मेरी दलीलों को सुनते सुनते थक गये हों, पर लाचारी यह है कि ऐसे विषय को बार बार समझाना भी पड़ता है। जो विषय न्याय से, क़ानून से, व्यवस्था से सम्बन्ध रखता हो, उसकी पहेली देर में सुलझती है। क़ानून के पंडित स्वत: अभी तक फैसला नहीं कर पाये हैं कि प्राणदण्ड किस अवस्था यानी दशा में देना चाहिये। यह प्राय: सभी मानते हैं कि जो काम सद्भाव से किया गया हो, उसका परिणाम चाहे कितना भी भयंकर क्यों न हो पर सद्भाव (Good Faith) की क़ानूनी परिभाषा भी समझ लेनी चाहिये। सद्भाव उस वस्तु का नाम है जो सावधानी से तथा विचार पूर्वक किया जाय। जो चीज़ या काम बिना समुचित विचार या ध्यान दिये किया जाता है वह सद्भाव से रहित समझा जाता है एतदर्थ दण्डनीय होता है।[1] पर दण्ड देते समय यह ध्यान रखना होगा कि किस परिस्थिति में सद्भावना से शून्य कार्य किया गया। दण्ड का मुख्य उद्देश्य होता है अपराध को रोकना। पर दण्ड देते समय चेष्टा यह करनी चाहिये कि जितनी कम से कम सजा हो सके, वह दी जावे[2]। इससे स्पष्ट है कि एक ओर हर अपराध में दण्ड देने के पहले सद्भाव का ध्यान रखना होगा। सद्भाव का अभाव होने पर अपराधी की समूची परिस्थिति पर विचार करके उसे कम से कम दण्ड देने का भी ध्यान रखना होगा।

१—देखिये—Criminal Law Journal, 1938 पृष्ठ ९८५ मुकद्दमा बक्सू मियां चौधरी सन् १९३२

२—The Law of Crimes—By Ratanlal Dhirajlal Thakore बाम्बे लॉ रिपोर्टर आफिस सन् १९५३. पृ० ८१

बहुत आसानी से किसी चीज को हत्या नहीं कहा जा सकता। केवल मृत्यु ही हत्या नहीं है। उस समय की परिस्थिति का भी सदैव ध्यान रखना होगा। मान लीजिये कि क ने ख को खाना नहीं दिया। ख मर गया पर क के ऊपर भूखों मारने का दोष तभी लगेगा जब ख एक शिशु है, अपाहिज है तथा क की संरक्षता में है अन्यथा क कदापि दोषी नहीं है। किसी भिखारी को यदि भीख न दी जावे और भिखारी भूखों मर जावे तो क्या यह अपराध नहीं है ! नदी में बाढ़ आई है। क ने ख को बाढ़ की सूचना नहीं दी, ख नदी की ओर गया और मर गया। तब क्या क को अपराधी माना जावेगा ? वह अपराधी तभी होगा जब कि उसका सूचना देने का कर्त्तव्य सिद्ध कर दिया जाय। किसी ने किसी को कटु वाक्य कह दिया। वह वाक्य उसके कलेजे में चुभ गया और मन पर ऐसी चोट लगी कि सुनने वाला मर गया। क्या कटु वाक्य कहने वाला अपराधी है ! क़ानून उसे अपराधी इसलिये कहेगा कि बोलना भी एक क्रिया है। हत्या एक क्रिया के द्वारा हुई।[1] क्या इस जगत में कटु वाक्य कहकर लोगों के प्राण लेने वाले फांसी पर लटकते हैं ? पर, मृत्यु के समाचार से मन के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ने का हरजाना तो मिलता है। यदि पति की हत्या के समाचार से स्त्री के मन पर आघात पहुँचे तथा हानि हो तो उसे हरजाना मिल सकता है।[2]

पर हत्या या खून साबित करने के लिये क़ानून ने जितनी बंदिशें बांधी हैं उनका पालन कहां तक हो पाता है तथा न्यायालय स्वयं कितना पालन करता है यह भी सोचने की बात है।

१—The Law of Crimes—By Ratanlal Dhirajlal पृ० ६९२

२—वही, पृ० ७७

भारत में ब्रिटिश शासन से आज तक क़ानूनों में बराबर रद्दोबदल होते रहे हैं। उनकी भावना में भी अन्तर होता रहा है। सन् १६७२ की ८ अगस्त को कलकत्ता में प्रथम ब्रिटिश न्यायालय स्थापित हुआ था जिसके प्रथम जज थे श्री विलकौक्स। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक दण्ड यह भी देती थी कि अपराधी को गुलाम बनाकर छोड़ देती थी। गुलाम की पीठ पर कोई वस्त्र नहीं होता था। केवल कम्पनी की एक मुहर कन्धे पर दाग दी जाती थी जिससे पता चले कि वह गुलाम है। उसका सर घुटा रहता था। आज यह सज़ा कल्पना के परे है। सन् १६७५ में गवर्नर आंजीर ने चोरों को गुलामी वाली सज़ा देने की हिदायत दी थी। उनके ज़माने में चोरी के लिये तथा जादूगरी के लिये भी प्राणदण्ड मिलता था।[1]

इतना सस्ता प्राणदण्ड अब नहीं रह गया है, अब तो यह भी नियम बना है कि जिसकी हत्या की जाय वह मरने के समय जो बयान दे वह बयान तभी क़ानूनी महत्व रखेगा जबकि ऐसा बयान अभियुक्त के सामने दिया जावे।[2] हत्यारे के विरुद्ध बहुत सी गवाहियों से कोई ख़ास मतलब नहीं निकालना चाहिये।[3] इसके अनेक कारण हो सकते हैं। गवाहियों पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। भारतीय दण्ड विधान की धारा

१—Legal History of India—By Balbir Sahai Sinha, Edn. 1953—Page 16.

२. ऐसे अनेक फ़ैसले हैं। देखिये—
Criminal Trial and Judgement—By-Hari Pal Varshni, Sessions Judge, Edition 1952, Page 167.

३. वही, पृष्ठ १६८

३७५ के अनुसार हाइकोर्ट का प्राणदण्ड के मामले में फिर से नयी गवाहियां बुलाने का, लेने का अधिकार है, वह और अधिक प्रमाण माँग सकता है।[1]

क़ानून स्वयं अनिश्चित दशा में है, उसे बड़ी हिचक है फांसी देने में, फिर भी क़ानून फांसी देता ही है। इसलिये इस हिचक और पशोपेश को दूर करने का उपाय है इस प्रकार का दण्ड ही समाप्त कर दिया जाय।

अपराध की प्रेरणा बचपन से ही पनपती है, अतएव अपराधी का बचपन काल नहीं भूलना चाहिये। अनेक कारणों से जिनमें आर्थिक विषमता भी हो सकती है, बालक अपराधी बनता है। शेल्डन तथा ग्लुएक नामक प्रसिद्ध लेखक अपनी खोज के लिये प्रसिद्ध हैं, उन्होंने ५०० अमेरिकन बच्चों को लेकर उनकी परीक्षा की तो जो परिणाम निकला है वह हम सबकी आंखें खोल देगा। नीचे उस परिणाम को तालिका के रूप में हम दे रहे हैं।[2]

आर्थिक कारणों से उत्पन्न स्थिति

५०० बालकों की समीक्षा के बाद

कारण	अपराधी		गैर अपराधी		शेष
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	
आर्थिक साधन का अभाव	१६	३.८	१२	२.४	१.४

१. वही पृष्ठ २७८

2. Unravelling Juvenile Delinquency—By—Sheldon and Eleanor Glueck—Haward University Press, Edition 1951—Page 250 – 51

कारण	अपराधी संख्या-प्रतिशत		गैर अपराधी संख्या-प्रतिशत		शेष
भौतिक वातावरण का प्रभाव	१३	२.७	१	०.२	२.५
अपने को छोटा (हेय) समझने की भावना से	१२६	३३.३	६४	१८.४	१४.८
धार्मिक असंतुलन से	१६	२.०.	०	०.०	२.०

बचपन में ऊपर लिखे कारणों से ५०० में से कितने प्रतिशत बच्चे अपराधी हुए और कितने नहीं, इसका ज्ञान इस तालिका से अच्छी तरह से हो सकता है। पर इन सबके ऊपर एक बात और है --उम्र में प्रगति करते समय. विकासशील बालक तथा बालिका का अशान्त होना या अशान्त रहना यह स्वाभाविक गुण है। साथ ही बच्चा ज्यों ज्यों बड़ा होता है, वह अपने ऊपर के नियन्त्रणों, अधिकारियों या अभिभावकों के प्रति विद्रोही हो जाता है। वह बन्धन तोड़कर आगे निकल जाना चाहता है।[1] यही दशा मानव की सदैव रहती है, अतएव, आर्थिक या सामाजिक कारणों से बने अपराधी को जितना ही बन्धन में रखा जावेगा वह घोर अपराधी बनता जावेगा। उस पर नियन्त्रण कम हो, उसके प्रति सहानुभूति अधिक हो, तभी अपराधी सुधर सकेगा। प्राणदण्ड न देकर यदि प्राण को रक्षा कर ली जावे तो मानवता का अधिक कल्याण होगा।

— :&: —

1 Mental Hygiene—Crow and Crow—Pub. Mc Graw Hall Book Co, New York – Edn. 1951, Page 365. 367.

अनुक्रमणिका

[अ]

[आ]

[इ]

[ई]

[ई]

[उ]

[ऊ]

[ए-ऐ]

[ओ]

[अं]

[क]

[ख]

[ग]

[घ]

[च]

[ज]

ट

ड

त

थ

द

ध

न

फ

ब

र

ल

व

श

स

ह

त्र